अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ सं.
	खंड – 1 सभ्यता एवं संस्कृति : परिभाषा एवं प्रारंभ	
	इकाई-1 सभ्यता एवं संस्कृति	2-13
	इकाई-2 प्रागैतिहासिक संस्कृति	-
	इकाई-3 हड़प्पा युगीन कला एवं स्थापत्य	-
	इकाई-4 वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति	14-26
	खंड – 2 धर्म एवं संस्कृति	
	इकाई-1 सूत्रयुगीन धर्म एवं संस्कृति	27-41
	इकाई-2 स्मृतियुगीन धर्म एवं संस्कृति	42-57
	इकाई-3 छठी सदी ई. पू. में धार्मिक आंदोलन	58-71
	इकाई-4 गुप्तकालीन धर्म एवं संस्कृति	72-85
	खंड – 3 कला एवं स्थापत्य	
	इकाई-1 मौर्ययुगीन कला एवं स्थापत्य	86-92
	इकाई-2 मौर्योत्तर काल : गांधार एवं मथुरा कला शैली	93-108
	इकाई-3 गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य	109-125
	इकाई-4 पूर्व मध्यकालीन कला एवं स्थापत्य	126-137
	खंड – 4 संस्कृति का विकास	
	इकाई-1 प्राचीन भारत में शिक्षा	138-151
	इकाई-2 प्राचीन भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी	152-163
	इकाई-3 प्राचीन भारत में नारी	164-177
	इकाई-4 बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रसार	178-191

एम. ए. इतिहास - सेमेस्टर - 1
प्रश्नपत्र - 2 - प्राचीन भारतीय संस्कृति
खंड – 1 – सभ्यता एवं संस्कृति परिभाषा एवं प्रारंभ
इकाई – 1 सभ्यता एवं संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

1.1.1 उद्देश्य
1.1.2 प्रस्तावना
1.1.3 संस्कृति की परिभाषा
1.1.4 संस्कृति की विशेषतायें
1.1.5 संस्कृति एवं समाज
1.1.6 संस्कृति के प्रकार
1.1.7 सभ्यता का अर्थ
1.1.8 संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर
1.1.9 संस्कृति एवं सभ्यता में संबंध
1.1.10 सारांश
1.1.11 बोध प्रश्न
1.1.11.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.1.11.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
1.1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.1.1 उद्देश्य

संस्कृति पद का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है। सामान्यतः समाज में रहने वाले शिष्ट मनुष्यों के सभी प्रकार के साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक विचारों और कार्य-कलापों को संस्कृति के अंतर्गत माना गया है। संस्कृति शब्द के साथ ही सभ्यता शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। लोक में सामान्यतः सभ्यता और संस्कृति, इन दोनों पदों का प्रयोग समान अर्थ में कर दिया जाता था। वर्तमान समय में सभ्यता पद का प्रयोग इससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ में प्रचलित है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य संस्कृति एवं सभ्यता की विस्तृत विवेचना कर दोनों में अंतर स्पष्ट करना है।

1.1.2 प्रस्तावना

कई विद्वानों ने संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर किया है। मेकाइवर ने मानवीय अनुभवों को संस्कृति एवं मानवीय क्रिया-कलापों को सभ्यता कहा है। किसी भी देश, समाज, जाति और व्यक्ति के संपूर्ण आदर्शों, सामाजिक परंपराओं, ऐतिहासिक निधियों, आध्यात्मिक मंतव्यों और जीवन के निर्वाह के लिए की गई चेष्टाओं का अंतर्भाव संस्कृति के अंतर्गत आता है। सभ्यता का अर्थ है व्यक्तियों का सामाजिक नियमों और व्यवहारों को जानना, उनका पालन करना, समाज के योग्य समुचित आचरण करना और समाज के अनुशासन में रहना। प्रस्तुत इकाई में संस्कृति की परिभाषा, विशेषतायें, संस्कृति के प्रकारों के

साथ-साथ सभ्यता के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर स्पष्ट करना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जाना प्रस्तावित है।

1.1.3 संस्कृति की परिभाषा

संस्कृत भाषा के इस संस्कृति पद की रचना सम् उपसर्गपूरक √ कृ धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करके हुई है। सम् √ कृ क्तिन् (सुट् का आगम) त संस्कृति। इसका शाब्दिक अर्थ है - उत्तम प्रकार से किये गये कार्य। अर्थात् उत्तम आचरण करने वाले शिष्ट व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्य। संस्कृति पद का मूल रूप से यह अर्थ होते हुए भी आधुनिक समय में इसका अर्थ इससे अधिक व्यापक रूप में किया जाता है। किसी भी देश, समाज, जाति और व्यक्ति के संपूर्ण आदर्शों, सामाजिक परंपराओं, ऐतिहासिक निधियों, आध्यात्मिक मंतव्यों और जीवन के निर्वाह के लिए की गई चेष्टाओं का अंतर्भाव संस्कृति पद के अंतर्गत हो जाता है।

हिन्दी शब्द संस्कृति का अंग्रेजी रूपांतर Culture होता है। यह Culture शब्द लेटिन भाषा के Culture शब्द से निकला है।

मानव एक सांस्कृतिक प्राणी है। मानव के पास संस्कृति है, पशु के पास नहीं। मानव संस्कृति का विकास कर सकता है, पशु नहीं कर सकता। मानव एवं पशु की शारीरिक रचना में पाया जाने वाला अंतर इस बात के लिये उत्तरदायी है कि क्यों मानव संस्कृति का निर्माण कर सकता है और पशु क्यों नहीं कर सकता। पशु को अपने चारों पैरों का प्रयोग चलने-फिरने के लिए करना पड़ता है जबकि पुरुष यह कार्य केवल दो पैरों से कर लेता है एवं उसके दोनों हाथ स्वतंत्र रहते हैं जिससे वह संस्कृति का निर्माण करता है। मनुष्य के मस्तिष्क की रचना इतनी जटिल है कि उसमें सोचने-समझने की शक्ति अत्यंत तीव्र होती है। पशु का मस्तिष्क इतना कार्य नहीं करता। इसके अतिरिक्त मनुष्य के पास ''भाषा'' एक ऐसी उपलब्धि है जो पशु के पास नहीं होती। यही कारण है कि विकास की प्रक्रिया के साथ संस्कृति मानव समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होती है। संस्कृति मानव का सीखा हुआ व्यवहार होता है।

संस्कृति की परिभाषा

(1) टायलर

टायलर पहला मानवशास्त्री था जिसने संस्कृति की ऐसी परिभाषा दी जो बहुत प्रचलित हुई एवं प्रायः जिसका वर्णन किया जाता है। उनके अनुसार ''संस्कृति वह जटिल पूर्णता है जिसके अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, कानून, प्रथा एवं समाज के सदस्य के रूप में मानव द्वारा अर्जित अंय योग्यताएँ आती हैं।''

(2) रेडफ्लिड

रेडफिल्ड के अनुसार ''संस्कृति कला और उपकरणों में व्यक्त परंपरागत ज्ञान का वह संगठित रूप है जो परंपरा में रक्षित होकर मानव समूह की विशेषता बन जाता है।''

(3) मेकाइवर

''संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन और आनंद में पाये जाने वाले रहन-सहन और विचार के तरीकों से हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।''

(4) राल्फलिन्टन

राल्फलिन्टन के अनुसार ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों एवं उनके परिणामों की वह व्याख्या है, जिसके निर्माणकारी तत्व विशिष्ट समाज के सदस्यों द्वारा प्रयुक्त एवं हस्तांतरित होते हैं।''

(5) बिडने

बिडने के अनुसार संस्कृति, कृषि, कला, समाज एवं मानसिक तत्वों की उत्पादक है। उनके अनुसार संस्कृति में, कृषि में उत्पादित वस्तुएँ, कलात्मक निर्माण। दूसरे शब्दों में उद्योग धंधे या कारखानों में उत्पादित वस्तुएँ, सामाजिक उत्पादन, अर्थात् सामाजिक संगठन एवं मानसिक उत्पादन, अर्थात् भाषा, धर्म आदि सम्मिलित होते हैं।

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति का तात्पर्य हमारे जीवन की शैली से है। जैसे क्लुकोहन ने कहा है कि ''संस्कृति का संबंध किसी मानव समूह की विशिष्ट जीवन प्रणाली से और उसके रहन-सहन की समस्त शैली से होता है।'' लुई ने भी संस्कृति को ''समस्त सामाजिक परंपरा'' बताया। संस्कृति मानव की आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। मेलिनोस्की के अनुसार संस्कृति में वे पदार्थ औजार और शारीरिक एवं मानसिक आदतें सम्मिलित रहती हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करती हैं।

उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि समाज व संस्कृति का घनिष्ठ संबंध है। बिना समाज के संस्कृति का कोई अस्तित्व नहीं होता जैसे कि व्यक्तियों के बिना कोई समाज नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई भी मानव समाज संस्कृति विहीन नहीं होता। चीटियों एवं मधुमक्खियों या अंय पशुओं का समाज संस्कृति विहीन होता है परंतु मानव का जहाँ तक प्रश्न है संस्कृति समाज का ही एक भाग होती है। संस्कृति समाज पर आश्रित है एवं समाज में ही विकसित होती है।

हॉबेल के अनुसार मनुष्य से मनुष्य के रहस्य को सुलझाने के लिए संस्कृति मानव समाज में एक विश्लेषणात्मक कुँजी का का कार्य करती है। संस्कृति विशिष्ट रूप से केवल मानवीय तत्व है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमें संस्कृति के निर्माण की एवं उसे बनाये रखने की योग्यता है।

संस्कृति की सबसे छोटी एवं उपयोगी परिभाषा ''हर्षकोवित'' ने दी है। उनके अनुसार ''संस्कृति मानव निर्मित वातावरण का एक भाग है।'' हर्ष कोवित की इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि मानव का जीवन दो परिस्थितियों का परिणाम है, एक तो प्राकृतिक आदतें एवं दूसरा सामाजिक वातावरण। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृति जैवकीय तत्व से कुछ अलग है तथा मानव द्वारा निर्मित एक व्यवस्था या प्रणाली है।

1.1.4 संस्कृति की विशेषताएँ

(1) संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है

संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार होता है। यह मनुष्य की जैविक सज्जा में नहीं होता। सांस्कृतिक गुण प्रजातीय गुणों के समान नहीं होते जो जैवकीय रूप से हस्तांतरित होते हैं। संस्कृति पूर्ण रूप से इस अर्थ में कृत्रिम है कि वह सामाजिक अनुसंधान का परिणाम होती है। इसलिए क्लुकोहन ने कहा कि संस्कृति ऐतिहासिक रूप से निर्मित प्रतिमान है।

(2) संस्कृति हस्तांतरणशील होती है

संस्कृति न केवल एक सीखा हुआ व्यवहार है वरन् वह हस्तांतरणीय भी है। वह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा सकती है। पशुओं में सीखने की शक्ति होती है, परंतु सीखने की प्रक्रिया के परिणामों को प्रतीकात्मक रूप से हस्तान्तरण करने की शक्ति उनमें नहीं होती। यह गुण केवल मनुष्य में ही पाया जाता है इसीलिए वह संस्कृति का हस्तांतरण कर सकता है।

(3) संस्कृति का सामाजिक गुण

सांस्कृतिक तत्व सामूहिक अनुभवों की उपज होते हैं। ये उन सामूहिक आदतों की उपज होते हैं जो समूह के व्यक्तियों में होती हैं। व्यक्ति, व्यक्तिगत व्यवहारों के आदतन स्वरूपों को सीखता है। इसी प्रकार वह सामूहिक व्यवहार के आदतन स्वरूपों, जो प्रथात्मक सामाजिक संबंधों से उत्पन्न है को भी सीखता है। इस प्रकार संस्कृति सामाजिक संबंधों से उत्पन्न सामूहिक व्यवहारों की उपज होती है।

(4) संस्कृति का आदर्शात्मक गुण

संस्कृति में सन्निहित सामूहिक आदतें बहुत सीमा तक आदर्श नियमों या आदर्श व्यवहार के यजमानों के रूप में मान्य होती हैं। इसका अर्थ यह है कि समूह के सदस्यों द्वारा संस्कृति एक आदर्श व्यवहार का ढाँचा मानी जाती है जिससे वे सब सुसंगठित एवं एकरूपता में रहते हैं। व्यवहार में कार्यों एवं आदर्शों में अंतर दिखाई देता है, परंतु सांस्कृतिक आदर्शों की विद्यमानता इससे प्रभावित नहीं होती।

(5) संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि करती है

संस्कृति मानव की जैवकीय व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। एक विशिष्ट सांस्कृतिक गुण या प्रतिमान की निरंतरता उसके द्वारा पूर्ण की जाने वाली आवश्यकता पर निर्भर करती है। जिस प्रकार से व्यक्तिगत आदत तभी तक प्रचलित रहती है तब तक कि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मानव की चेतना या अचेतन आवश्यकताओं को पूर्ण करती है, उसी प्रकार समूह की सांस्कृतिक आदत को समूह की आवश्यकता संतुष्ट करना चाहिए।

(6) संस्कृति का अनुकूलन का गुण

संस्कृति के इस लक्षण में दो तत्व सम्मिलित हैं। (1) संस्कृति में परिवर्तन होता रहता है और (2) इस परिवर्तन के कारण संस्कृति का बाहरी शक्तियों से अनुकूलन होता है। भौगोलिक परिस्थिति के अनुरूप संस्कृति का अनुकूलन अत्यंत स्वाभाविक अनुकूलन है, परंतु यह कहना बड़ा गलत होगा कि भौगोलिक पर्यावरण सांस्कृतिक विकास का निर्धारण करता है। अधिक विकसित संस्कृति पर भौगोलिक पर्यावरण प्रभावहीन होता है। कम विकसित संस्कृति को अवश्य अपने को भौगोलिक पर्यावरण के अनुरूप समायोजित करना पड़ता है।

(7) संस्कृति का एकरूपता का गुण

एक विशिष्ट संस्कृति के विभन्न भागों में एकरूपता या समन्वयन की प्रवृत्तियां होती हैं। समनर के शब्दों में एक संस्कृति के भागों में संपूर्ण संस्कृति के एक रूप होने की क्षमता होती है। एक सरल एवं पृथक संस्कृति में जिसमें बाहरी तत्व सम्मिलित नहीं होते एवं उसके मौलिक तत्वों में भी शीघ्र परिवर्तन नहीं होता, एकरूपता के गुण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

1.1.5 संस्कृति एवं समाज

संस्कृति की उपरोक्त वर्णित विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति मानव का निर्माण है एवं उसके अस्तित्व की निरंतरता के लिये भूतकाल की विरासत के रूप में हस्तांतरणशीलता अत्यंत आवश्यक है। यह भी सही है कि संस्कृति किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नहीं होती, परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपना जीवन स्वयं जी सकती है। मानव समाज में ही संस्कृति का निर्माण होता है, वहीं संस्कृति विकसित होती है। अतः सांस्कृतिक विकास की गति बहुत कुछ समाज पर निर्भर रहती है।

अब तक के विश्लेषण से स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृति एक सामाजिक विरासत है। यह पैतृकता से प्राप्त नहीं होती है वरन् यह एक सीखा हुआ व्यवहार होता है जिसे मनुष्य, समाज का सदस्य होने के

नाते सीखता है। इस प्रकार यदि एक समाज संपूर्णमानव समाज की एक इकाई है तो संस्कृति उस इकाई का एक भाग है। संस्कृति समाज रूपी बड़े फोटोग्राफ की छोटी फोटोप्रति है। संस्कृति यदि समाज का दर्पण है तो समाज भी संस्कृति का दर्पण है।

संस्कृति समाज पर आश्रित है

संस्कृति मानव निर्मित वातावरण का एक भाग है। समाज में रहकर मानव, संस्कृति का निर्माण करता है। समाज के बाहर संस्कृति का निर्माण नहीं होता। उसके निर्माण समाज पर आश्रित होते हैं। समाज उसके निर्माणों को स्वीकार कर सकता है या अस्वीकार भी। इसी प्रकार व्यवहार का एक तरीका मान्य भी किया जा सकता है व अमान्य भी घोषित किया जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृति समाज पर आश्रित रहती है।

संस्कृति समाज में ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। समाज में ही संस्कृति का विस्तार होता है - समाज में ही संस्कृति का विकास होता है। समाज ही सांस्कृतिक विरासत का साधन है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज एवं संस्कृति मेंघनिष्ठ संबंध है। मेलिनोस्की ने इसीलिये कहा है कि ''संस्कृति सामाजिक विरासत है'' । लिंटन के अनुसार ''संस्कृति सामाजिक पैतृकता है'' लुई के अनुसार ''संस्कृति समाज की संपूर्ण परंपरा है'।

1.1.6 संस्कृति के प्रकार

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति

संस्कृति के सामान्यतः दो प्रकार हैं - (1) भौतिक एवं (2) अभौतिक।

(1) भौतिक संस्कृति

वे वस्तुएँ जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं एवं उठाकर संग्रहालय में रख सकते हैं भौतिक संस्कृति में सम्मिलित की जाती हैं।

भौतिक संस्कृति के उदाहरण

फर्नीचर, विद्युत सामान, मशीनें, खेल-कूद के सामान, चाय, मिठाइयाँ, भोजन, अस्त्र-शस्त्र, बर्तन, मकान, पुस्तकें आदि विभिन्न भौतिक वस्तुएँ हैं जिनका हम प्रयोग करते हैं वे भौतिक संस्कृति के अंतर्गत आती हैं।

(2) अभौतिक संस्कृति

वे तत्व हम देख नहीं सकते पर जिनका अनुभव कर सकते हैं, जिन्हें हम छू नहीं सकते पर जिनका पालन कर सकते हैं, जिन्हें उठाकर संग्रहालय में नहीं रखा जा सकता वरन् जिन्हें पुस्तकों में लिखा जा सकता है ऐसे तत्व अभौतिक संस्कृति में सम्मिलित किये जाते हैं।

अभौतिक संस्कृति के उदाहरण

कला, धर्म, विश्वास, विचार, कविता, लेख, रीति-रिवाज, कानून, प्रथाएँ, जनरीतियाँ, नैतिकता/अनैतिकता, पाप/पुण्य आदि अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत आती हैं।

कम्प्यूटर की भाषा में हार्डवेयर भौतिक संस्कृति का और सॉफ्टवेयर अभौतिक संस्कृति का उदाहरण माना जा सकता है।

भौतिक व अभौतिक संस्कृति में अंतर

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में प्रमुख अंतर निम्नलिखित हैं-

1. भौतिक संस्कृति के निर्माण में मानवीय मस्तिष्क एवं हाथ, दोनों के संयुक्त श्रम का योगदान होता है जबकि अभौतिक संस्कृति में मानव मस्तिष्क ही प्रमुख रहता है।
2. भौतिक संस्कृति का स्वरूप मूर्त है जबकि अभौतिक संस्कृति का स्वरूप अमूर्त है।
3. भौतिक संस्कृति के पदार्थों को निश्चित ईकाइयों (नाप, तोल या आकार की) में मापा जा सकता है, अभौतिक संस्कृति चूँकि आकारविहीन होती है अतः उसे निश्चित ईकाइयों में मापा नहीं जा सकता।
4. भौतिक संस्कृति को समझने का प्रयोग सरल होता है। अभौतिक संस्कृति चूँकि अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती है। अतः उसे समझना व प्रयोग में लाना कठिन होता है। टेलिफोन की कार्य-प्रणाली समझना व उसका प्रयोग करना आसान है, परंतु किसी धर्म के दर्शन को समझना व उसे अपनाना इतना आसान नहीं होता।
5. भौतिक संस्कृति की श्रेष्ठता व उपयोगिता को सरलता से प्रकट किया जा सकता है, परंतु अभौतिक संस्कृति की श्रेष्ठता को प्रकट करना आसान नहीं है। हम यह तो स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं कि एक रेलगाड़ी गति की दृष्टि से बेलगाड़ी से अधिक श्रेष्ठ है, परंतु हम दो धर्मों की तुलना करके यह नहीं कह सकते कि दोनों में से कौन सा धर्म श्रेष्ठ है व कौन से धार्मिक विचार अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि प्रत्येक का धर्म प्रत्येक की दृष्टि में श्रेष्ठ ही होता है।
6. भौतिक संस्कृति का विकास अपेक्षाकृत तीव्र गति से होता है, अभौतिक संस्कृति इतनी तीव्र गति से विकसित नहीं होती। भौतिक संस्कृति में गुणात्मक व गणनात्मक दोनों ही दृष्टि से तीव्र गति से विकास होता है। अभौतिक संस्कृति में केवल गणनात्मक विकास होता है और वह भी बहुत ही धीमी गति से होता है।
7. भौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति भी तीव्र होती है। अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत ही धीमी गति से होता है। भौतिक दृष्टि से भारत वासियों के रहन-सहन, पहनावे आदि में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ व हो रहा है, परंतु अस्पृश्यता संबंधी हमारे विचारों में उतनी तीव्र गति से परिवर्तन नहीं हो पाया है।
8. भौतिक संस्कृति का प्रसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र हो जाता है। अभौतिक संस्कृति का प्रसार इतनी जल्दी नहीं होता।
9. भौतिक संस्कृति का प्रसार जब होता है तो उसके तत्वों को बिना किसी परिवर्तन के अंय समाजों में भी अपनाया जा सकता है। इंग्लैंड में बने रेलवे एंजिन का प्रयोग उसी रूप में हम भारत में करते हैं, परंतु ईसाई धर्म का भारत में जब प्रसार हुआ तो भारतवासियों ने उसे ज्यों का त्यों ही नहीं अपनाया वरन् अपनी आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुरूप उसमें कुछ परिवर्तन करके अपनाया। यहाँ तात्पर्य यह है कि अभौतिक संस्कृति प्रसारित होने के पश्चात सामान्यतः थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अपनाई जाती है।
10. भौतिक संस्कृति की वृद्धि होने पर व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिलता है व समाज में अनौपचारिकताओं का प्रभुत्व हो जाता है। अभौतिक संस्कृति की वृद्धि सामूहिकता के विकास में सहायक होती है व औपचारिकताओं को प्रश्रय देती है।

स्मरण रहे कि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अंतर मात्र सुविधा के दृष्टिकोण से ही किया जाता है। वास्तव में तो दोनों ही तत्व संस्कृति के अभेद्य अंग ही हैं।

1.1.7 सभ्यता का अर्थ

संस्कृति शब्द के साथ ही सभ्यता शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। लोक में सामान्यतः सभ्यता और संस्कृति, इन दोनों पदों का प्रयोग समान अर्थ में कर दिया जाता है, परंतु यह यथार्थ नहीं है। दोनों शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद है। संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से 'सभ्यता' पद की रचना इस प्रकार हुई है - "सभायां साधुः" अर्थ में सभा पद से यत् प्रत्यय लगाकर सभ्य पद निष्पन्न होता है। सभा+यत्= सभ्य। सभ्य पद का अर्थ है - वह व्यक्ति, जो सभाओं में समाज में उचित आचरण करता है, सामाजिक व्यवहारों को जानता है और इनका पालन करता है तथा अपने को समाज के अनुशासन में बाँधता है। "सभ्यस्य भावः" अर्थ में सभ्य शब्द से तल् प्रत्यय करके स्त्रीलिंग में सभ्यता पद की रचना होती है। सभ्य+तल्+टाप् = सभ्यता। इस प्रकार सभ्यता पद का अर्थ है - व्यक्तियों का सामाजिक नियमों और व्यवहारों को जानना, उनका पालन करना, समाज के योग्य समुचित आचरण करना और समाज के अनुशासन में रहना।

वर्तमान समय में सभ्यता पद का प्रयोग इससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ में प्रचलित है। उस व्यक्ति या समाज को सभ्य कहा जाता है, जो अपने जीवन और व्यवहार में शिष्ट नियमों और परंपराओं का पालन करता हो तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सुधरे हुए उत्तम साधनों का प्रयोग करता हो। किसी देश की सभ्यता उन्नत है, इसका अभिप्राय है कि उस देश में रहने वाला जन-समुदाय आचार-विचार की दृष्टि से सभ्य है, शिष्ट है। वहाँ का सामाजिक अनुशासन व्यवस्थित है। वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक सुधरे और समुन्नत वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग होता है।

कई विद्वानों ने संस्कृति एवं सभ्यता मेंअंतर किया है। मेकाइबर ने मानवीय अनुभवों को संस्कृति एवं मानवीय क्रिया-कलापों को सभ्यता कहा है। मेकाइवर एवं पेज ने लिखा है ''हितों का प्राथमिक तथा द्वितीयक रूप में वर्गीकरण करते हुए हम मानव के अनुभव तथा मानवीय क्रिया-कलाप इन दो महान क्षेत्रों का अन्वेषण करते हैं जिन्हें हमने क्रमशः ''संस्कृति'' तथा ''सभ्यता'' के नाम दिये हैं। विभिन्न लेखकों की सभ्यता के संबंधमें अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। कहा जाता है कि लिखने की एवं धातु के प्रयोग करने की कला के उदय के साथ सभ्यता का जन्म हुआ। जिस प्रकार लेखन कला के उदय के साथ इतिहास का जन्म हुआ उसी प्रकार उसी समय से सभ्यता का भी जन्म हुआ। सभ्यता का अर्थ नागरिक संगठनों से भी लगाया जाता था। चूँकि ऐसे संगठन बड़े नगरों में अधिक पाये जाते हैं इसलिये इन नगरों में रहने वाले लोगों को सभ्य कहा जाता था। कुछ समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को दो भागों में विभक्त किया है एक तो भौतिक संस्कृति जैसे मकान, कलम, रेडियो, वस्त्र, बर्तन, उपकरण, पुस्तकें एवं कलात्मक चित्र आदि एवं दूसरे अभौतिक संस्कृति जैसे भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला, कानून, धर्म आदि मानव के अमूर्त निर्माण। इसमें मानव के जो भौतिक निर्माण हैं उन्हें अर्थात भौतिक संस्कृति को वे सभ्यता के नाम से पुकारते हैं व अभौतिक निर्माण अर्थात् अभौतिक संस्कृति को वे संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। मेकाइवर एवं पेज ने सभ्यता का संदर्भ उपयोगी वस्तुओं से जोड़ा है। उनके अनुसार ''सभ्यता से हमारा अर्थ अपने जीवन की स्थितियों को नियंत्रित करने के लिये मानव द्वारा योजित समस्त संगठन एवं यांत्रिकता है। इस प्रकार सभ्यता में न केवल सामाजिक संगठन की हमारी प्रणाली ही सम्मिलित होती है वरन् हमारी तकनीक एवं भौतिक उपकरण भी सम्मिलित होते हैं। मत पत्र, टेलिफोन, रेलवे, विद्यालय एवं बैंक आदि सभी सभ्यता में सम्मिलित होंगे। सभ्यता में वे सब भौतिक प्रविधियाँ भी सम्मिलित होंगी जो हमारी आवश्यकता की पूर्ति के साधन के रूप में उपयोग में आती है। ए. डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार एक संस्कृति में

जब लिखित भाषा, विज्ञान, दर्शन, विशेषीकृत श्रम विभाजन, जटिल तकनीक एवं राजनैतिक प्रणाली सम्मिलित हो जाती है तो वह सभ्यता बन जाती है।

1.1.8 संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर

संस्कृति व सभ्यता में अंतर निम्नानुसार समझा जा सकता है-

(1) सभ्यता को मापा जा सकता है संस्कृति को नहीं

सभ्यता अथवा उपयोगितावादी व्यवस्था कुशलता की कसौटी पर मापी जा सकती है। एक भौतिक वस्तु की उपयोगिता का तुलनात्मक दृष्टि से माप किया जा सकता है। सभ्यता के उत्पादनों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम यह कह सकते हैं कि कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है व कौन-सी हल्की है। उनकी कुशलता का अनुमान लगाया जा सकता है और तथ्यों की माप भी की जा सकती है। हल बक्खर की अपेक्षा ट्रॅक्टर श्रेष्ठ है। एक कार बैलगाड़ी से अधिक तेज चलती है, एक हवाई जहाज कार से भी तेज चलता है। ये ऐसे उदाहरण हैं जिन से सिद्ध होता है कि सभ्यता की वस्तुओं की श्रेष्ठता या हीनता को उनकी क्षमता के आधार पर मापा जा सकता है, किंतु संस्कृति की श्रेष्ठता या हीनता का कोई माप संभव नहीं है। प्रत्येक समूह यह विश्वास करता है कि उसकी संस्कृति श्रेष्ठ है। स्पष्ट है सभ्यता की वस्तुओं के समान संस्कृति का स्पष्ट माप संभव नहीं है।

(2) सभ्यता सदैव ही आगे बढ़ती है परंतु संस्कृति नहीं

मेकाइवर के अनुसार सभ्यता न केवल आगे बढ़ती है बल्कि उन्नति भी करती है और सदैव ही आगे बढ़ती रहती है जब तक कि उसमें सामाजिक निरंतरता का कोई बड़ा विपत्तिजनक अवरोध पैदा न हो। सभ्यता हमेशा ही एक दिशा में प्रगति करती रहती है। यह संचयी है तथा इसकी प्रवृत्ति अनिश्चित समय तक बढ़ते रहने की है। मनुष्य ने जब से आटोमोबाइल्स का आविष्कार किया तब से यह निरंतर प्रगति कर रही है और आज तो इसने इतनी प्रगति कर ली है कि द्रुतगति के आटोमोबाइल्स से मीलों की यात्रा मिनटों में की जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता सदैव आगे बढ़ती रहती है किंतु संस्कृति के इस संबंध में इस प्रकार स्पष्ट कथन प्रकट नहीं किया जा सकता।

(3) सभ्यता बिना प्रयास के आगे बढ़ जाती है संस्कृति नहीं

सभ्यता को आगे बढ़ाने के लिये विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। संस्कृति के हस्तांतरण के सिद्धांत सभ्यता के हस्तांतरण के सिद्धांतों से भिन्न हैं। संस्कृति केवल समान विचार वालों को ही हस्तांतरित की जा सकती है। एक कलाकार के गुण की प्रशंसा कलाकार के गुण वाला व्यक्ति ही कर सकता है। पंखे की हवा का आनंद कोई भी उठा सकता है किंतु पँखे की तकनीकसे केवल कुछ ही परिचित होते हैं। अतः सभ्यता बिना प्रयास के आगे बढ़ जाती है किंतु संस्कृति नहीं।

(4) सभ्यता को सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है, संस्कृति को नहीं

सभ्यता के उपकरणों को बिना किसी परिवर्तन के एवं बिना किसी प्रकार की हानि उठाये ग्रहण किया जा सकता है। एक देश में आविष्कृत मशीन का प्रयोग विश्व के किसी भी देश में उसी रूप में किया जा सकता है। उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती, न ही उसके उपयोग से किसी प्रकार की हानि की संभावना रहती है। भारत में उत्पन्न बजाज स्कूटर का प्रयोग अंय देशों में भी उसी रूप में किया जाता है, परंतु संस्कृति को सामान्यतः बिना परिवर्तन के उसके मूल रूप में नहीं अपनाया जा सकता। एक संस्कृति का जब एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसार होता है तो उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन हो ही जाता है।

(5) सभ्यता में कोई भी सुधार कर सकता है, संस्कृति में नहीं

एक कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी सभ्यता में किसी उपकरण का प्रयोग करते करते उसमें सुधार ला सकता है, परंतु एक बुद्धिमान व्यक्ति भी टैगोर या मिल्टन की कविताओं को सुधार नहीं सकता। संस्कृति व्यक्तिगत योग्यता, रुचि एवं विचारों से संबंधित हैअतः उसमें सुधार करने के प्रयत्न उसे और हानि पहुँचा सकते हैं।

(6) सभ्यता बाह्य एवं यांत्रिक है जबकि संस्कृति आंतरिक एवं सावयवी है

मेकाइवर के अनुसार सभ्यता वह है जो हम रखते हैं व संस्कृति वह है जो हम हैं। जो हम रखते हैं वह निश्चित रूप से भौतिक तो होगा ही अतः वह सभ्यता है। हम क्या हैं ? जो हम हैं वह संस्कृति है। हमारे रीति-रिवाज, जिनके अनुरूप हम रहते हैं वह संस्कृति है।

संस्कृति व सभ्यता में अंतर स्पष्ट करने का यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृति में व सभ्यता में केवल विरोधाभास ही हो। वास्तव में दोनों ही एक दूसरे से संबंधित है, पूरक हैं एवं एक-दूसरे पर आश्रित भी हैं। संस्कृति और सभ्यता न केवल एक-दूसरे पर आश्रित होती हैं वरन् उनके मध्य परस्पर अंत : क्रियात्मक संबंध भी होते हैं। कई तत्व ऐसे हैं जिन्हें संस्कृति एवं सभ्यता दोनों में सम्मिलित किया जा सकता है। जैसे विदेशी लेखकों की विज्ञान की वे पुस्तकें जिन्हें विदेशी प्रकाशकों द्वारा ही मुद्रित किया गया हो, उन्हें बिना किसी परिवर्तन के भारत में स्वीकार कर लिया जाता है।

1.1.9 संस्कृति एवं सभ्यता में संबंध

सभ्यता एवं संस्कृति के संबंधों की विवेचना निम्न दृष्टिकोणोंसे की जा सकती है -

(1) सभ्यता संस्कृति की वाहक है

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार सभ्यता संस्कृति की वाहक है। दूसरे शब्दों में सभ्यता, संस्कृति के विकास में सहायक होती है। संस्कृति औद्योगिक विकास की दशाओं में आगे बढ़ती है। सभ्यता के विकास ने संस्कृति का निर्माण करने के लिये मानव को पर्याप्त समय दिया है। औद्योगिक प्रगति ने मानव को दिन भर शारीरिक आवश्यकताओं, आहार एवं संरक्षण की आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लगे रहने से बचाया है। यह सभ्यता ही है जिसने हमारी इन आवश्यकताओं की पूर्ति को सुगम बनाया है व संस्कृति के विकास की तरफ ध्यान देने के लिये हमें समय दिया है। सभ्यता के उदय के पूर्व का मानव सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पिछड़ा हुआ था। संस्कृति के कई पक्षों का सृजन एवं विकास सभ्यता की सहायता से ही संभव हुआ है।

(2) सभ्यता सांस्कृतिक क्रियाओं के प्रारंभ में सहायक होती है

सभ्यता के कई उपकरणों का संस्कृति को प्रारंभ करने में यद्यपि प्रत्यक्ष महत्व कम होता है, किंतु अप्रत्यक्ष रूप से वे संस्कृति के विकास में सहायक होते हैं। औद्योगिक विकास के कारण ही आज हम हमारी भौतिक आवश्यकताओं की सुगमता से पूर्ति करके, संस्कृति के निर्माण की तरफ ध्यान देने में समर्थ हुए हैं। औद्योगिक विकास के कारण ही हमने प्रकृति की कई वस्तुओं का शोषण करना सीखा है जिसके फलस्वरूप हमारा जीवित रहने का संघर्ष आसान बना है। स्पष्ट है कि सभ्यता के विकास ने संस्कृति के निर्माण को आसान एवं सुगम बना दिया है।

(3) सभ्यता संस्कृति का पर्यावरण है

हमारे दर्शन, विचार, कला, नैतिकताएँ आदि सभ्यता के द्वारा प्रभावित होते हैं। सभ्यता के उपकरण अवश्य ही हमारी इच्छाओं के उत्पादन हैं परंतु बदले में वे भी हमारी इच्छाओं को प्रेरित एवं

संशोधित करते हैं। दूरबीन के कारण विश्व संबंधी हमारेविचारों में परिवर्तन हुआ है, माइक्रोस्कोप ने जीवन की प्रकृति के संबंध में हमारे विचारों को संशोधित किया है। इन्होंने हमारे धर्म व आचरणों को भी प्रभावित किया है। यंत्रयुग ने समाज में नई आदतों को पैदा किया है व हमें नये आनंद से भर दिया है तथा नये दर्शन एवं नैतिकताओं की उत्पत्ति की है। अतः सभ्यता संस्कृति को न केवल नया वातावरण प्रदान करती है वरन् नई दिशा भी प्रदान करती है।

(4) संस्कृति भी सभ्यता को प्रभावित करती है

उपरोक्तानुसार सभ्यता के संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन किया गया है। यदि दूसरे पक्ष पर भी विचार किया जाये तो स्पष्टतः विदित होता है कि संस्कृति भी सभ्यता को प्रभावित करती है। प्रत्येक समाज का अपना सांस्कृतिक दृष्टिकोण होता है। मनुष्य प्रत्येक आविष्कार का, तकनीक का और विश्व का सांस्कृतिक दृष्टिकोण के स्तर के अनुसार ही मूल्यांकन करता है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार ही हम सभ्यता के उपकरणों को जन्म देते हैं। नाइट क्लब्स् भारतीय संस्कृति के आदर्शों से मेल नहीं खाते यही कारण है कि भारत में उनका प्रसार उतनी तीव्र गति से नहीं हो पाया जितना कि पश्चिमी देशों में। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभ्यता समाज की संचालक शक्ति है तो संस्कृति उसका परिचालन करने वाला पहिया है।

1.1.10 सारांश

संस्कृत भाषा के इस संस्कृति पद की रचना सम् उपसर्गपूरक√ कृ धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करके हुई है। सम्+√ कृ+क्तिन् (सुट् का आगम) = संस्कृति। इसका शाब्दिक अर्थ है - उत्तम प्रकार से किये गये कार्य। अर्थात् उत्तम आचरण करने वाले शिष्ट व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्य। संस्कृति पद का मूल रूप से यह अर्थ होते हुए भी आधुनिक समय में इसका अर्थ अधिक व्यापक रूप में किया जाता है। हिंदी शब्द संस्कृति का अंग्रेजी रूपांतरCulture है जो लेटिन भाषा के Culture शब्द से निकला है।

सामान्यतः सभ्यता और संस्कृति, इन दोनों पदों का प्रयोग समान अर्थ में कर दिया जाता है, परंतु यह यथार्थ नहीं है। दोनों शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद है। संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से 'सभ्यता' पद की रचना इस प्रकार हुई है - "सभायां साधुः" अर्थ में सभा पद से यत् प्रत्यय लगाकर सभ्य पद निष्पन्न होता है। सभा+यत् = सभ्य। सभ्य पद का अर्थ है - वह व्यक्ति, जो सभाओं में समाज में उचित आचरण करता है, सामाजिक व्यवहारों को जानता है और इनका पालन करता है तथा अपने को समाज के अनुशासन में बाँधता है। यही सभ्यता का प्रमुख लक्षण होता है अर्थात व्यक्तियों का सामाजिक नियमों को जानना, उनका पालन करना तथा समाज के अनुशासन में रहना ही सभ्यता है।

संस्कृति की विशेषताएँ- (1) संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। (2) संस्कृति हस्तांतरणशील होती है। (3) संस्कृति का सामाजिक गुण। (4) संस्कृति का आदर्शात्मक गुण। (5) संस्कृति मानवीय। आवश्यकताओं की संतुष्टि करती है (6) संस्कृति का अनुकूलन का गुण।(7) संस्कृति का एकरूपता का गुण। (8) संस्कृति समाज पर आश्रित होती है। संस्कृति के प्रकार- भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति

संस्कृति एवं सभ्यता में अंतर- (1) सभ्यता को मापा जा सकता है संस्कृति को नहीं। (2) सभ्यता सदैव ही आगे बढ़ती है परंतु संस्कृति नहीं।(3) सभ्यता बिना प्रयास के आगे बढ़ जाती है संस्कृति नहीं। (4) सभ्यता को सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है, संस्कृति को नहीं। (5) सभ्यता में कोई भी सुधार कर सकता है, संस्कृति में नहीं। (6) सभ्यता बाह्य एवं यांत्रिक है जबकि संस्कृति आंतरिक एवं सावयवी है।

संस्कृति एवं सभ्यता में संबंध- (1) सभ्यता संस्कृति की वाहक है। (2) सभ्यता सांस्कृतिक क्रियाओं के

प्रारंभ में सहायक होती है। (3) सभ्यता संस्कृति का पर्यावरण है। (4) संस्कृति भी सभ्यता को प्रभावित करती है

1.1.11 बोध प्रश्न

1.1.11.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति का अर्थ समझाइये।
2. भौतिक संस्कृति से आप क्या समझते हैं?
3. अभौतिक संस्कृति को समझाइये।
4. टायलर के अनुसार संस्कृति क्या है?
5. संस्कृति और समाज पर लघु नोट लिखिये।
6. सभ्यता से क्या तात्पर्य है ?
7. भौतिक व अभौतिक संस्कृति में अंतर बताइये।
8. सांस्कृति की सबसे छोटी परिभाषा क्या है?
9. ए. डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार सभ्यता क्या है?
10. संस्कृति और सभ्यता में दो अंतर बताइये।

1.1.11.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
2. संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं की विवेचना कीजिये।
3. भौतिक व अभौतिक संस्कृति की विशेषताओं का उदाहरण सहित उल्लेख करते हुए दोनों में अंतर स्पष्ट कीजिये।
4. संस्कृति के सामान्य भाषा में लगाये जाने वाले अर्थ बताइये।
5. संस्कृति की विशेषताएँ बताइये। संस्कृति व सभ्यता का अर्थ स्पष्ट कीजिये।
6. संस्कृति व समाज कर संबंध व पारस्परिक निर्भरता का वर्णन कीजिये।
7. सभ्यता की विस्तार से विवेचना कीजिये।
8. सभ्यता व संस्कृति परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं। विस्तार पूर्वक समझाइये।
9. सभ्यता एवं संस्कृति मेंअंतर को विस्तार से समझाइये।
10. संस्कृति एवं सभ्यता केसंबंधोंकी विस्तृत विवेचना कीजिये।

1.1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल.पी. आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994

8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी.एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. शर्मा, घनश्याम दत्त : मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, जयपुर 1994
11. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
12. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
13. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
14. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
15. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का साँस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
16. लूनिया, बी.एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
17. लूनिया, बी.एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989

खंड - 1 सभ्यता एवं संस्कृति परिभाषा एवं प्रारंभ
इकाई - 4 वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति

इकाई की रूपरेखा

1.4.1 उद्देश्य
1.4.2 प्रस्तावना
1.4.3 धर्म का स्वरूप
1.4.4 ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन
1.4.5 ऋग्वैदिक धर्म की विशेषताएँ
1.4.6 ऋग्वैदिक दार्शनिक विचारधाराएँ
1.4.7 उत्तर वैदिक धार्मिक जीवन
1.4.8 सारांश
1.4.9 बोध प्रश्न
1.4.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
1.4.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
1.4.10 संदर्भग्रंथ

1.4.1 उद्देश्य

वैदिककालीन धार्मिक स्थिति पर चारों वेदों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वेदों का निर्माण आर्यों द्वारा किया गया था। वैदिक धर्म वेदोक्त धर्म है। प्राचीन भारत के धार्मिक साहित्य में प्राचीनतम और पवित्रतम ग्रंथ वेद हैं। इनमें प्रतिपादित धर्म वैदिक धर्म है। ऋग्वेद में आर्यों की अविकसित धार्मिक विचारधारा से लेकर सम्यक रूप से विकसित विचारधारा का स्पष्ट रूप से दर्शन होता है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति की विस्तृत विवेचना करना है।

1.4.2 प्रस्तावना

ऋग्वेद के प्रारंभिक युग में आर्यों में बहुदेववाद प्रचलित था, परंतु कालांतर में आर्यों के धार्मिक विचारों में परिवर्तन होता गया। प्रकृति और देवताओं के विषय में आर्यों के मत में परिवर्तन हो गया। आर्यों ने यह समझ लिया था कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड में एक परम सत्ता है। ऋग्वेद की बाद की ऋचाओं में एकेश्वरवाद की भावना और अद्वैतवाद की प्रवृत्ति के निश्चित संकेत और दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। उत्तर-वैदिक काल में दो विरोधी विचारधाराएँ थीं - प्रथम, यज्ञ, अनुष्ठान, हवन, क्रिया-विधियाँ और विस्तृत जटिल रहस्यमय कर्मकांड आदि पर आधारित और द्वितीय, ज्ञान और वेदान्त पर आधारित। प्रस्तुत इकाई में वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना प्रस्तावित है तथा इकाई के अंत में सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भग्रंथसूची भी दी जाना प्रस्तावित है।

1.4.3 धर्म का स्वरूप

धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति में धर्म को बहुत महत्व दिया गया है। धर्म के अंतर्गत न केवल ईश्वरोपासना, अध्यात्म और नैतिक व्यवहार हैं, अपितु मनुष्य का व्यक्तिगत आचरण, दैनिक कर्तव्य,

पारस्परिक व्यवहार और सामाजिक व्यवहार भी इसकी मर्यादा में आते हैं। विविध संस्कार, विद्याध्ययन, विवाह, संतानोत्पत्ति, माता-पिता-गुरु की सेवा, शारीरिक और मानसिक उन्नति, राजनीति, समाज और अर्थ, इन सभी व्यवहारों का समावेश धर्म में हो जाता है।

धर्म का स्वरूप बहुत व्यापक है। आधुनिक रिलीजन या मजहब पद इसके पर्याय प्रतीत नहीं होते हैं। धर्मपद की रचना √ धृअय् से हुई है। इसका अर्थ है - धारण करना, सहारा देना और पालन करना। इसका अभिप्राय है - 'ध्रियते यः स धर्मः', 'धरति धारयति वा लोकं यः स धर्मः' 'ध्रियते लोकः अनेन सधर्मः' अथवा 'धारणाद् धर्म इत्युच्यते'। महाभारतकार का कथन है - धारणा करने के कारण इसको धर्म कहते हैं। यह प्रजा को धारण करता है।

प्राचीन ऋषियों की धर्म की परिभाषा अति सरल और व्यवहारिक थी। जिसके द्वारा मनुष्य उन्नति करे, कल्याण को सिद्ध करे, वह धर्म है। अपने लिए जो दुःखद और प्रतिकूल है, वैसा आचरण दूसरों के प्रति न करना धर्म है। दस प्रकार के व्यवहार धर्म हैं - धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, स्वच्छता, इंद्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध कहे गये हैं - (1) यज्ञ, अध्ययन और दान (2) तपस्या (3) ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आचार्य-कुल में रहना।

मनु का कथन है कि जगत की भौतिक संपत्तियाँ यहीं रह जाती हैं, केवल धर्म ही साथ जाता है। संपूर्ण जगत की प्रतिष्ठा धर्म से होती है। सांसारिक जन धर्मिष्ठ के पास जाते हैं। धर्म द्वारा वे पाप को दूर करते हैं। धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, अतः धर्म सर्वश्रेष्ठ है। धर्म का रूप कल्याण है। इसकी सृष्टि परमात्मा ने की थी। विद्वानों के अनुसार धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है। धर्म के महत्व के कारण ही मुनियों ने उसकी शिक्षा देने की प्रार्थना की थी।

धर्म के उपादान

प्राचीन आचार्यों ने धर्म के उपादानों की व्याख्या करके उसके अनुकूल आचरण करने का उपदेश दिया था। धर्म के उपादान और प्रमाण सर्वप्रथम वेद हैं, तदनंतर स्मृति और सदाचरण हैं। मन की शुभ भावनाएँ और संकल्प भी धर्म के उपादान माने गये हैं।

गौतम धर्मसूत्र, आपस्तंब धर्मसूत्र और हारीत ने धर्म के लिए वेदों को प्रमाण माना था। वसिष्ठ ने श्रुति और स्मृति के अतंतर सदाचरण को धर्म का प्रमाण कहा। मनु के अनुसार धर्म के प्रमाण चार हैं - श्रुति, स्मृति, सदाचार और जो अपने को प्रिय लगे। याज्ञवल्क्य ने इन चार तत्वों को प्रमाण मानकर उचित संकल्पज काम को भी धर्म का प्रमाण कहा है।

1.4.4 ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन

वैदिक कालीन धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिए हम वैदिक काल को दो भागों में विभाजित करते हैं। ऋग्वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल। ऋग्वैदिक काल में ऋग्वेद की रचना एवं उत्तर वैदिक काल में यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की रचना हुई थी।

ऋग्वेद में आर्यों की अविकसित धार्मिक विचारधारा से लेकर सम्यक् रूप से विकसित धार्मिक विचार प्रणालियों का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन होता है। ऋग्वेद के प्रथम, द्वितीय और सप्तम मण्डलों में इनके धार्मिक जीवन संबंधी ज्ञान प्राप्त होता है। इनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में आर्यों का धर्म सादा और सरल था। अतः ऋग्वैदिक कालीन धर्म के विभिन्न अंगों का विवेचन निम्नलिखित है –

(1) प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण

आर्यों ने बाह्य जगत में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को कार्यरत देखा, कुछ शक्तियों से वे भयभीत हुए तथा कुछ से वे आश्चर्यचकित और प्रभावित भी हुए। जिसके परिणामस्वरूप बाह्य प्रकृति की इन सभी शक्तियों के सामने वे नतमस्तक हो गये और उन्होंने इन शक्तियों को देवी-देवता मानकर उनकी स्तुति, वन्दना और अराधना की। इस प्रकार आर्यों के प्राचीनतम धार्मिक विचार प्रारंभिक जीवात्मवाद के थे, जहाँ वे अपने चतुर्दिक स्थित शक्तियों में, जिन्हें वे नियंत्रित नहीं कर पाते थे या समझ नहीं पाते थे, दैवी भक्ति का उपयोग करके देव या देवता के रूप में उनकी उपासना और आराधना करने लगे थे। परिणामतः आर्य दैवी शक्तियों और प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चंद्र, आकाश, ऊषा, मेघध्वनि, मारुत, वायु आदि की उपासना करने लगे। जहाँ कहीं भी आर्यों को किसी जीवित भक्ति का आभास मिला, वहीं उन्होंने एक देवता की सृष्टि कर दी। इस प्रकार अपने धार्मिक जीवन की प्रारंभिक दशा में आर्यों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों और स्वरूपों का दैवीकरण किया। तथा उनके देवतागण भी प्रकृतिक शक्तियों के प्रतीक बन गये।

(2) ऋग्वैदिक देवता

ऋग्वैदिक काल में आर्ययुगीन देवी-देवताओं की तीन श्रेणियाँ या वर्ग थे - प्रथम स्वर्गस्थ, द्वितीय अंतरिक्षवासी और तृतीय पृथ्वीवासी। प्रथम वर्ग में द्यौस, अश्विन, सूर्य, वरुण, आप, सविता, मित्र, पूषन, विष्णु, आदित, उषा आदि थे। द्वितीय वर्ग में इंद्र, वायु, मारुत, पर्जन्य, रुद्र आदि थे और तृतीय वर्ग में पृथ्वी, सोम, अग्नि, बृहस्पति, सरस्वती आदि थे।

द्यौस (आकाश) पिता, नभ का चमकता हुआ देवता तथा पृथ्वी, माता, आर्यों के सबसे प्राचीनतम देवता हैं। इस प्रकार आर्यों ने सर्वप्रथम आकाश और पृथ्वी की उपासना की। प्रकृति की दो शक्तियों का उन्होंने दैवीकरण किया। उन्होंने पृथ्वी और द्यौस (आकाश) को जगत्माता-पिता कहा है और 6 ऋचाओं में इनका गुणगान हैं। कालांतर में नभ के देवता वरुण तथा मेघ-गर्जन व वर्षा के देवता इंद्र ने इन देवताओं को पृष्ठभूमि में डाल दिया। प्राचीन वैदिक देवगणों में वरुण सर्वोत्कृष्ट देवता था। ऋग्वेद में वर्णनानुसार आकाश और पृथ्वी के मध्य में जितनी भी वस्तुएँ विद्यमान हैं, उनमें वरुण का वास माना जाता था। वह यथार्थता, सत्य और नैतिकता का अधिपति माना जाता था। विश्व के त्रिकालदार्शी शासक के रूप में उसकी कल्पना की गयी थी। वह आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता माना गया। सूर्य उसके नेत्र, आकाश वस्त्र और प्रभन्जन उसका श्वांस है। वह सर्वत्र एवं सर्वसाक्षी माना गया। कोई भी पापी उसकी सतर्क दृष्टि से नहीं बच सकता। पाप-शांति के लिए लोग उससे क्षमा-याचना करते थे, जैसा कि बाद में विष्णु से करने लगे थे। आर्यों की धारणा थी कि वरुण व्रत-पालन और यज्ञ कर्म से .प्रसन्न होता था और प्रसन्न होने पर वह सुख, समृद्धि और वैभव देता था। वरुण के प्रति आर्य ऋषियों ने कुछ अत्यंत सुंदर और शालीन सूक्त रचे और गाये हैं। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल वरुण स्रोतों से भरा पड़ा है। कालांतर में वरुण एकमात्र जल का देवता हो गया।

वरुण के पश्चात् इंद्र का स्थान है। इंद्र आँधी, तूफान, बिजली और वर्षा का देवता था। यह सर्वाधिक लोकप्रिय देवता था। यह सर्वमान्य और सर्वाधिक शक्तिशाली देवता समझा जाता था। इसकी स्तुति में सबसे अधिक ऋचाएँ ऋग्वेद संहिता में गायी गयी हैं और इनकी संख्या लगभग 250 हैं। ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं का एक चतुर्थांश भाग केवल इंद्र की स्तुति से भरा है। यह इस बात का द्योतक है कि ऋग्वैदिक काल में सब देवताओं में इंद्र का महत्व सबसे अधिक था। वैदिक देवताओं में उसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। वह देशों का अग्रणी तथा अपरिमित शक्तिशाली था। ऋग्वेद में कहा गया है कि इंद्र आकाशस्य

राक्षसों से, जो वर्षा का जल चुराये जाने वाले समझे जाते थे, युद्ध करता है। उसने उस पर वज्र-प्रहार कर उन्हें पराजित कर उनसे जल छीन लिया जो उसके उपासकों के देश में धाराओं में गिरा। इस प्रकार इंद्र वर्षा करता था। इंद्र के अलावा आर्यों ने सूर्य को भी अपना देवता माना। ऋग्वेद में सूर्य को चर-अचर कर रक्षक और समस्त सत्-असत् कर्मों का दृष्टा माना गया। सूर्य देवता की उपासना मित्र (सूर्य के दानशील रूप का मानवीकरण), सूर्य (प्रकाशक), सवित् (उत्तेजक), पूषण (पोषक), विष्णु उरुक्रम (विस्तृत मार्ग पर चलने वाला सूर्य), सविता और अश्विन् (संभवत: प्रातः और संध्या के तारे और कालांतर में चिकित्सा के देवता) के रूप में होती थी। प्रथम वर्ग के देवताओं में सूर्य के साथ विष्णु का भी महत्व था। विष्णु को ऋग्वेद में संसार का संरक्षक माना गया। वायुमण्डल के प्रमुख देवताओं में महान् हैं - इंद्र (तूफान के देवता), वायु एवं वात (पवन देवता), रुद्र (झंझावात व विद्युत के देवता) एवं पर्जन्य (वर्षा के देवता) थे। मरुत दैत्यों के तितर-वितर करने में इंद्र की सहायता करता था। रुद्र, भयानक, भीषण चमक वाला तथा अत्यंत क्रोधी देवता माना जाता था। उसकी उपासना में लेषमात्र भूल हो जाने से वह क्रुद्ध हो जाता था। कालांतर में रुद्र ने शिव का रूप धारण कर लिया।

पार्थिव देवताओं में अग्नि, सोम तथा सरस्वती प्रमुख माने गये हैं। अग्नि-देवता को प्रमुख तथा संवादवाहक माना जाता था, क्योंकि भक्तों द्वारा दी गई आहुति को देवताओं तक वहीं पहुँचाता था। अग्नि को आहुतियों का स्वामी और धर्मों का अध्यक्ष बनाया गया है। यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्व होता था और उसी के द्वारा वरुण, इंद्र, मरुत आदि देवताओं को आमन्त्रित किया जाता है। इससे अग्नि का विशेष महत्व माना गया। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का यही देवता है। लगभग दो सौ से अधिक मन्त्र अग्नि की स्तुति और उपासना के विषय में हैं। सोमरस आर्यों का सर्वोत्तम पेय था। सोम एक पौधे का रस होता था जो पहाड़ियों और उनके ढालों पर उत्पन्न होता था। इस पौधे से विस्तृत कर्मकांड करके एक प्रकार का रस निकाला जाता था जो एक मादक पेय पदार्थ था। इसका प्रयोग धर्म-विधि के अनुसार किया जाता था और यह रस देवताओं को भेंट किया जाता था। सोमरस को पीने से आर्यों को उत्तेजना, आनंद, उल्लास, स्फूर्ति आदि प्राप्त होते थे। उन्हें उसके प्रभाव में अपनी योग्यता और क्षमता से परे कार्यों को करने की प्रेरणा भी मिलती थी। आर्यों की ऐसी धारणा थी कि सोमरस का प्रयोग करने वाला व्यक्ति इसके स्फूर्ति और आनंददायक प्रभाव के कारण स्वर्गद्वार तक पहुँच जाता था। इन्हीं सब बातों से आर्यों के सोमरस में किसी देवता के रूप और शक्ति का अभाव पाया तथा सोम को देवता का रूप दे दिया। उसकी स्तुति और वन्दना की जाने लगी। उपर्युक्त देवताओं के पश्चात् धातु (संस्थापन करने वाली), विधात्री (निर्दिष्ट करने वाली), विश्वकर्मन (सब का सृजन करने वाला), प्रजापति (प्राणियों का स्वामी), त्वष्टा, श्रद्धा (विश्वास) और मन्यु (कोप) नामक सूक्ष्म और अमूर्त देवता बाद में प्रकट हुए।

(3) ऋग्वैदिक देवियाँ

ऋग्वैदिक काल में आर्यों के द्वारा कुछ देवियों का भी सृजन किया गया था, जैसे उषा और सरस्वती। आर्यों ने अरुणोदय को उषा देवी का रूप दिया। प्रभात की मनोरम आभा और छटा को देवी का रूप देना आर्यों की सुंदरतम कल्पना है।

आर्यों की दूसरी देवी अदिति थी। यह सर्वव्यापी प्रकृति का देवी रूप है। यह आर्यों की सार्वभौम भावना की देवी है। सिंधु नदी को भी उन्होंने देवी रूप दे दिया। उन्होंने वन देवी को भी माना और उसका नाम आख्यानी रखा। मनुष्य के ज्ञान, बुद्धि और विवेक को भी उन्होंने देवी रूप दिया और इसके लिए सरस्वती की प्रतिष्ठा हुई।

(4) धार्मिक विधियाँ

(अ) स्तुति और प्रार्थना

आर्यों की धार्मिक क्रिया विधि का प्रमुख अंग में देवी-देवताओं की स्तुति, आराधना और प्रार्थना मुख्य थी। स्तुति और ¬प्रार्थना विधि बड़ी सरल थी। प्रत्येक देवी-देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न ऋचाएँ थीं और उनको गाकर ही देव-स्तवन होता था। आर्यों की ऐसी धारणा थी कि उनके देवता प्रार्थना, उपासना और उपहार तथा भेंट से प्रसन्न होते है और सुख-समृद्धि देते हैं। इसलिए आर्य प्रार्थना द्वारा देवताओं की उपासना के अतिरिक्त घृत, दूध, दही, अन्न, माँस तथा सोम का उपहार देकर उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट किया करते थे। यह क्रिया सरल थी। इसमें मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ यज्ञ की अग्नि में दूध, घी, धान्य, माँस आदि की आहुति दी जाती थी। आर्यों का विश्वास था कि प्रज्ज्वलित अग्नि अपनी उत्तुंग ज्वाला और उत्तुंग धूम्रराशि द्वारा इन वस्तुओं को देवताओं तक पहुँचा देगी। इस प्रकार देवताओं के प्रसादन के निमित्त आर्य-यज्ञों का अनुष्ठान करते थे।

(ब) यज्ञ

ऋग्वैदिक युग में यज्ञ स्वर्ग के देवों के मिलन का स्थान माना जाता था, तथा स्वर्ग की, परलोक की, इहिलोक की सर्व शक्तियाँ यज्ञ में सम्मिलित होती थीं। ऋग्वेद कालीन समय में यज्ञ दो प्रकार के होते थे - प्रथम नित्य और द्वितीय नैयमिक। नित्य यज्ञों में पाँच सहायक थे। इनके नाम हैं - ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, भूत-यज्ञ और मनुष्य-यज्ञ। ब्रह्म-यज्ञ से तात्पर्य है वेदों की ऋचाओं का अध्ययन करना और शिष्यों को वेद और वेदांग निःशुल्क पढाना। स्वाध्याय और अध्यापन ब्रह्म यज्ञ माना गया था। ब्रह्म-यज्ञ को ब्राह्मणों के लिए परम तप माना गया था और यह दिन के द्वितीय भाग में होता था। इस समय वेदाभ्यास और स्वाध्याय होता था। ब्रह्म-यज्ञ से स्वर्ग-लोक की प्राप्ति मानी जाती थी। देव-यज्ञ में अग्नि जलाकर उसमें समाधि डालकर अन्न, दूध, घी, धान्य आदि की आहुति देकर होम किया जाता था। वह देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। पितृ-यज्ञ में पितरों को तर्पण देने के साथ-साथ श्राद्ध किया जाता था। अन्न, फल, मूल तथा अंय दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं से तर्पण किया जाता था।

(स) पितृ-पूजा

ऋग्वैदिक युग में देव-पूजा के साथ-साथ पितृ-पूजा भी प्रचलित हो गयी थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक ही स्थल पर देवताओं और पितरों का साथ-साथ विवरण है। देवताओं के समान पितरों की भी स्तुति की जाती थी और उनके लिए सोम, हवि और स्वधा का समर्पण किया जाता था। पितरों से आशा की जाती थी कि वे प्रसन्न होकर अपने वंशजों की रक्षा करेंगे, उन्हें शांति देंगे, उनकी सहायता करेंगे और हानि व कष्ट से उन्हें बचायेंगे। पितरों से धन और शक्ति प्राप्ति की आकांक्षा रखी जाती थी। उनके पथ-प्रदर्शन की आशा की जाती थी।

(द) दाह संस्कार

ऋग्वैदिक काल में किसी मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसके शव को चिता पर ले जाते थे और मृतक के शव के साथ उसकी पत्नी एवं अंय संबंधीभी होते थे। शव को चिता पर रख दिया जाता था। उसकी पत्नी उसके समीप तब तक बैठी रहती जब तक कि उसे "अरे महिला! उठो, और जीवित लोगों के लोक में जाओ," कहकर हटाया नहीं जाता था। स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में सतीप्रथा का प्रचलन नहीं था। इसके पश्चात् उस व्यक्ति के परिवार के अग्निस्थल से लायी हुई आग से चिता प्रज्ज्वलित की जाती थी। इसके बाद मृतक के लिए यह ऋचा पढ़ी जाती थी, "पुरखाओं के मार्ग पर जाओ"। अग्नि में

शव के पूर्णतया भस्म होने पर शरीर की अस्थियाँ एकत्रित कर ली जाती थीं और उन्हें धोकर स्वच्छ कर एक कलश में रखकर पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था।

1.4.4 ऋग्वैदिक धर्म की विषेषताएँ

(1) देवताओं का मानवीकरण

ऋग्वैदिक काल में प्रत्येक देवता या देवी किसी विशिष्ट प्रकृति की प्रतीक थी। आर्यों ने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों और शक्तियों का दैवीकरण किया। परंतु कालांतर में आर्यों ने अपने देवी-देवताओं की कल्पना मानव के रूप में ही की अर्थात् उन्होंने अपने देवी-देवताओं में उन सभी सद्गुणों की कल्पना की जो मानव में पाये जाते है, परंतु उनमें मानवों की दुर्बलताएँ और दुर्गुण न थे। इन देवताओं के स्वभाव की प्रमुख विशेषताएँ इनकी सदाचारिता, नैतिकता, दानशीलता और दया थी। उनकी अनुकम्पा और प्रसन्नता की उपलब्धि हेतु उनकी आराधना और वन्दना की जाती थी। ऋग्वेद काल के आर्य अपने देवताओं से भयभीत और आतंकित नहीं होते थे। वे उन्हें मानव जाति का मित्र मानते थे। वे प्रार्थना से और यज्ञों में घी, दूध, दही, अन्न आदि की आहुति देकर उन्हें प्रसन्न करते थे और उनसे समृद्धि के लिए वरदान प्राप्त करते थे।

(2) सर्वदेववाद

ऋग्वैदिक काल में आर्यों के देवी-देवताओं की संख्या अधिक थी, परंतु उनमें किसी प्रकार की उच्चावच परंपरा नहीं थी, देवताओं के लिए ऊँच-नीच की भावनाएँ नहीं थीं। आर्यों ने सभी देवताओं की महिमा गायी है और एक देवता को दूसरे से बढ़कर माना है। जिस-जिस क्षेत्र का जो-जो देवता था, वह उस क्षेत्र में प्रधान माना गया और उसी मात्रा में उसकी स्तुति और आराधना की गयी। प्रत्येक देवता को शक्तिशाली मानकर उसकी प्रार्थना और वन्दना की गयी। प्रत्येक देवता अपने अवसर पर सर्वोच्च होता था। वह मनुष्य को सबसे अधिक आनंद प्रदान करने वाला तथा मनुष्य को समृद्ध बनाने वाला होता था। इसीलिए आर्यों के लिए उनके सभी देवता सम्माननीय एवं पूज्य थे।

(3) पुरुष देवताओं की प्रधानता

ऋग्वैदिक धर्म में पुरुष देवों की प्रधानता थी। पृथ्वी, अदिति, उषा एवं सरस्वती जैसी देवियों को निम्न स्थान प्राप्त था।

(4) देवताओं का समूहकरण

आर्यों ने अनेक देवताओं को किसी प्रमुख देवता से संबंधित कर दिया था। उदाहरणार्थ, इंद्र को कई देवताओं के साथ जोड़ा गया है। द्यौस उसका पिता, अग्नि उसका भाई, मारुत उसका सहगामी है। इसी प्रकार सूर्य को भी अंय देवताओं से संबंधित किया गया। सूर्य अग्नि का रूप, उषा सूर्य की प्रिया और रात्रि की बहिन, अश्विन सूर्य-पुत्री सूर्या का पति माना गया। कभी-कभी सभी देवी-देवताओं को "विश्वेदेवाः" नामक वर्ग के अंतर्गत सामूहिक रूप से इकट्ठा कर दिया गया।

(5) मंदिरों व मूर्तियों का अभाव

ऋग्वैदिक काल के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ नहीं थी और न ही मंदिर थे। ऋग्वेद में मंदिर, देवालय या मूर्ति-पूजा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यद्यपि देवताओं की कल्पना अनुराग से मानव रूप में होने लगी थी, परंतु मनुष्य रूप में उनकी मूर्तियाँ नहीं बनी थीं। इनमें से एक देवता के विषय में यह कहा जाता है कि "उसका शब्द सुनायी देता है, परंतु उसका आकार अदृश्य है।" अतः ऋग्वैदिक युग में मंदिरों तथा मूर्तियों का अभाव था।

(6) पुरोहित वर्ग का अभाव

इस युग के धार्मिक जीवन का प्रमुख कारण था पुरोहित वर्ग की अनुपस्थिति। प्रत्येक गृहपति स्वयं पुरोहित था जो अपने गृह में स्वयं अग्नि प्रज्ज्वलित करता था और मन्त्रोच्चारण कर आहुति आदि देता था।

(7) यज्ञ

देवताओं को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ किये जाते थे। सामान्यतया यज्ञ कार्य प्रत्येक मनुष्य अपने लिये स्वयं करता था। परंतु ऋग्वेद में विशाल और व्यवसाध्य यज्ञों का भी उल्लेख है। इन यज्ञों में कई वेदियाँ, बहुसंख्यक पुजारी और अत्यधिक यज्ञ-सामग्री होती थी। ऐसे यज्ञ राजा और धनवान ही संपूर्ण करते थे, परंतु यज्ञ स्वयं ही सब कुछ नहीं होते थे। वे देवताओ को प्रसन्न करने के लिए केवल साधन थे। यज्ञ और अनुष्ठान यजमान को समृद्धि और सुख प्रदान करने वाले माने जातेथे। ऋग्वैदिक काल के समाज में कई लोग स्मृति और अराधना को ही यज्ञों की अपेक्षा अधिक महत्वशाली और श्रेयस्कर मानते थे। ऋग्वेद में भी उल्लेख है कि इंद्र के प्रति की गयी स्तुति घृत अथवा मधु की अपेक्षा अधिक मधुर होती है। यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस युग में ं फल, अन्न, दूध, घी आदि को यज्ञ में देवताओं हेतु अर्पण किया जाता था। इस काल में पशु-बलि का प्रचलन नहीं था।

1.4.6 ऋग्वैदिक दार्षनिक विचारधाराएँ

आर्यों की धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओं पर ऋग्वेद की ऋचाएँ प्रकाश डालती हैं। उन्हां ेने अभी तक संसार और गृहत्याग तथा सन्यास और तप की कल्पना नहीं की थी। लोग वनां े में जाकर शरीर को विभिन्न यन्त्रणाएँ देकर तपस्या या प्रायश्चित नहीं करते थे। वे विश्व को अमंगलकारी कष्ट का स्थान नहीं मानते थे। उनमें शरीर से मुक्ति प्राप्त करने तथा सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पानेे के लिए कोई तीव्र लालसा या उत्सुकता नहीं थी। उनके लिए विश्व और गहस्थाश्रम उत्तम स्थान थे। वे गृहस्थाश्रम में ही रहकर देवोपासना और नैतिकता से कल्याण प्राप्ति के लिए प्रयास करते थे। उन्होंने अपने देवताओं से शरीर की मुक्ति या मोक्ष की याचना नहीं की, परंतु वे देवताओं से स्थान-स्थान पर शतवर्षीय आयु, पुत्र, धन-धान्य और विजय की याचना करते हैं। वे प्रार्थना करते हैं, "भगवान! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए"। इन मनोकामनाओं और याचनाओं से प्रकट होता है कि आर्य लोग जीवन-संघर्ष से घबराते नहीं थे, उनमें पलायनवाद नहीं था, निराशावादिता नहीं थी, मोक्ष प्राप्ति की उत्कण्ठा भी नहीं थी। उन्हें अपने सांसारिक जीवन से अनुराग था। उनके ऐहिक जीवनमें आल्हाद था। उनकी धारणा थी कि यह संसार धर्म-परायण पुरुषों के लिए उदार देवताओं के संरक्षण में साहित्यिक जीवन व्यतीत करने के लिए उचित स्थान है।

ऋग्वेद में मनुष्यों के सद्गुणों और नैतिकतता पर भी बल दिया गया है। अधर्म तथा अधर्मी, पाप तथा पापी मनुष्यों के भाग्य का ऋग्वेद में कहीं उल्लेख नहीं होता है, परंतु मृत्यु के उपरांत धर्मपरायण पुरुषां ो को प्राप्त होने वाले यश और गौरव पर अधिक जोर दिया जाता था। ऋग्वेद में स्वर्ग और नरक की कल्पना बिल्कुल स्पष्ट नहीं हैं। ऋग्वेद में स्वर्ग तथा इससे भी अधिक श्रेष्ठ और उच्च स्थलों का उल्लेख आया है, परंतु नरक के लिए कोई वर्णन नहीं हैं इतना अवश्य कहा गया है कि मृत्यु के बाद पुण्यकर्मी मनुष्य सानन्द स्वर्ग में रहता है। संभव है, उस समय मोक्ष के स्थान पर स्वर्ग की प्राप्ति ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता था।

मनुष्य के वर्तमान तथा भविष्य के विषय में कोई संघर्ष नहीं था। धर्म, अर्थ एवं काम के बीच में कोई विरोधाभास ही नहीं था। यह कल्पना की जाती थी कि संपूर्णमानव जीवन सुख और समन्वय की

इकाई है। आत्मा और पुनर्जम के विषय में भी ऋग्वेद में स्पष्ट विचार व्यक्त किये गये हैं। ऋग्वैदकालीन ऋषि आत्मवादी थे। उनकी धारणा थी कि आत्मा अमर है। उन्होंने अमरता का वर्णन किया है। उनका विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा पितृलोक को जाती है जहाँ यम उसका स्वागत करता है और वहाँ उसके कर्मों के अनुसार वह दण्डित या पुरस्कृत होती है। इससे प्रकट होता है कि आर्य पुनर्जम में विश्वास करते थे, परंतु कर्म और उसके अनुसार आत्मा के बार-बार जन्म लेने का सिद्धांत ऋग्वैदिक काल के बाद में प्रचलित हुआ।

1.4.7 उत्तर वैदिक काल में धार्मिक जीवन

ऋग्वेद के बाद का समय उत्तर वैदिक युग के नाम से प्रख्यात है। इस उत्तर वैदिक युग में अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा सूत्रग्रंथों की रचना हुई। ये तीनों वेद और सूत्रग्रंथ ईस्वी पूर्व सन् 1200 वर्ष से लेकर ईस्वी पूर्व सन् 200 की अवधि में लिखे गये। अतएव इस युग को उत्तर वैदिक काल कहते थे। पूर्व वैदिक और उत्तर वैदिक काल में एक अत्यंत दीर्घकाल का अंतर था। इस लंबी अवधि में उत्तर वैदिक काल के जीवन के सभी क्षेत्रों में खूब परिवर्तन हुए। इस समय पूर्व वैदिक काल की संस्कृति में अत्यधिक परिवर्तन हो गया था। आर्यों का प्रसार भी भारत में अधिक हो गया था।

आश्रम व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में मानव की विभिन्न् ा अवस्थाओं के लिए कुछ कार्य निश्चित कर दिये गये थे। इसे आश्रम प्रणाली कहते हैं। इसमें जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया और प्रत्येक भाग को आश्रम कहा गया, जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम। प्रत्येक आश्रम की अवधि लगभग पच्चीस वर्ष की थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याध्ययन, गृहस्थाश्रम में संतानोत्पŸिा, सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन और धनोपार्जन तथा अंय लोगों का पालन-पोषण, वानप्रस्थ आश्रम में वन में त्याग, तपस्या और सन्यास का जीवन, आत्म-चिंतन और मनन तथा सन्यास आश्रम में ब्रह्मचिंतन करके मोक्ष-प्राप्ति के कार्य किये जाते थे। इस आश्रम-प्रथा का पालन प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य माना जाता था। मानव-जीवन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्राप्ति के लिए चारों आश्रमों का विकास किया गया था।

वर्ण व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में समाज को चार वर्णों में विभाजित हो गया था। वर्णों का आधार धर्म और कर्तव्य, व्यवसाय और उद्योग-धन्धा था। वर्ण चार थे - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का व्यवसाय, पठन-पाठन और यजन-याजन था। क्षत्रिय योद्धा, शासक और संरक्षक का कार्य करते थे। वैश्य व्यापार, कृषि, पशु-पालन तथा अंय उद्योग-धंदे करते थे। शूद्र वर्ण के लोग अनार्य और पराजित वर्ग के दास होते थे। ये अंय तीन वर्णों के लोगों की सेवा के कार्य करते थे।

समाज स्पष्टतः वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था, अर्थात् वर्ग इस प्रकार बँटे थे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय अनुत्पादी होते हुए भी, विशेष अधिकार संपन्न थे। क्योंकि वे ही उत्पादन के नियंत्रणकर्ता थे। वैश्य एवं शूद्र निम्न वर्ग के थे और वे उत्पादन के लिए उत्तरदायी थे। क्षत्रियों ने योद्धा वर्ग का प्रतिनिधित्व किया और वैश्यों ने व्यापार, कृषि और विभिन्न दस्तकारियों के धंदे अपना लिये। वे प्रमुख करदाता वर्ग के लोग थे। शूद्रों में श्रमिक लोग थे और इन पर समाज का नियंत्रण था।

उपरोक्त चारों वर्णों का विस्तार उत्तर वैदिक काल में खूब हुआ था। भिन्न-भिन्न वर्ण अधिक स्पष्ट और पृथक हो गये थे। परंतु उनमें आधुनिक जाति-पाति की संकीर्णता नहीं आ पाई थी। इन वर्णों में पारस्प्रिक वैवाहिक संबंधहोते थे और किसी भी वर्ण का कोई भी व्यक्ति अपना व्यवसाय परिवर्तन कर

सकता था। परंतु उत्तर वैदिक युग के अंतिम चरण में व्यापार-व्यवसाय की प्रगति के कारण शिल्पियों और व्यसायियों के वंश-परंपरात समूह या जातियाँ बनने लगी थीं। आर्थिक जीवन में विस्तार के साथ-साथ नवीन उद्योग-धंधों का उदय होने से, समाज में आर्येत्तर तत्वों की वृद्धि होने से, अपने व्यवसाय में विशेषता प्राप्त करने की अभिरूचि से, उद्योग-धंधों का पैतृक होने से, वर्गगत ममता, गर्व और स्वार्थ होने से, कई नवीन जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। अनेकानेक विविध जातियों का प्रादुर्भाव हो गया था, जैसे लोहाकार, चर्मकार, सूत, मछुआ, कुलाल, कर्मार, मृगयु आदि। क्रमशः बहुत-सी जातियाँ और उपजातियाँ उत्तरोत्तर दृढ़ होकर तथा एक-दूसरे से अलग होकर बढ़ने लगीं।

उत्तर-वैदिक युग में लोगों के धार्मिक जीवन में अत्यधिक गहरा परिवर्तन हो गया था। नवीन धार्मिक विचारधाराओं, क्रिया-विधियों और परंपराओं का प्रादु र्भाव हुआ। इस युग में तीन स्पष्ट धार्मिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं - देवी-देवताओं का परिवर्तन, धार्मिक कांड और तत्वज्ञान, दर्शन तथा तपस्या संबंधीविचारधाराएँ। इनमें से प्रत्येक का विवेचन इस प्रकार है:

(1) देवी-देवताओं की स्थिति में परिवर्तन

उत्तर वैदिक काल में देवी-देवताओं की स्थिति में परिवर्तन हो गया था। इस काल में ऋग्वैदिक देवी-देवताओं का गौरव क्रमशः कम होता जा रहा था। प्रजापति का महत्व सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक हो गया था। यद्यपि ऋग्वैदकालीन देवताओं के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा और भक्ति थी, परंतु अब रुद्र और विष्णु का अधिक महत्व बढ़ गया था। इंद्र और वरुण का महत्व कम हो गया था। "रुद्र" शिव या पशुपति का ही एक रूप है। उत्तर वैदिक युग में रुद्र अधिक लोकप्रिय देवता था। संभवत: रुद्र की लोकप्रियता का कारण यह था कि सैंधव्य सभ्यता के लोगों के प्रमुख नरदेवता के साथ आर्यों ने इसका अनन्यीकरण कर दिया। रुद्र की बढ़ती हुई महत्ता और प्रधानता का कारण आर्यों और अनार्यों का संपर्क था, दो संस्कृतियों का संमिश्रण था। अब रुद्र का विरुद शिव हो गया और वह मंगलकारी देवता माना जाने लगा था। उत्तर-वैदिक युग में रुद्र के ही साथ विष्णु का भी महत्व बढ़ गया था। ऋग्वेद में विष्णु को सूर्य का ही रूप माना गया था। ऋग्वैदिक काल में वरुण का जो स्थान था, उत्तर-वैदिक काल में वह स्थान विष्णु ने ले लिया था। फलतः विष्णु सभी देवताओं में अधिक सम्माननीय और श्रेष्ठ माना जाने लगा। आगे की शताब्दियों में विष्णु वासुदेव कहलाये। वासुदेव भागवत मत के प्रधान रहे। इस प्रकार भागवत सिद्धांत का ¬प्रारंभ हुआ।

(2) यज्ञ और उसकी धार्मिक विधियाँ

ऋग्वेद-काल में यज्ञ और उनकी विधियाँ इतनी सादी व सरल थीं कि प्रत्येक गृहस्थ उन्हें कर सकता था। किंतु उत्तर-वैदिक युग में यज्ञों का बाहुल्य हो गया। यजुर्वेद, जिसकी रचना इस युग में हुई थी, एक यज्ञ-प्रधान ग्रंथ है। इसमें यज्ञों और हवनों के विधान और नियमों का विस्तृत विवेचन है। उत्तर वैदिक युग में यज्ञों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी। उनमें समय भी अधिक लगता था। कई ऐसे यज्ञ भी थे जो वर्षों से चलते रहते थे। यज्ञों को इतना पेचीदा और खर्चीला बना दिया गया था कि वे साधारण जनता की आर्थिक स्थिति से परे थे। देवता भी यज्ञों के अधीनस्थ माने जाने लगे थे। ऐसी धार्मिक धारणा प्रबल हो गयी थी कि यज्ञों के यज्ञाविधि संपादित होने पर देवताओं को भी झुकना पड़ता है। अब यज्ञ पूर्णतया सांसारिक इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए किये जाते थे। ऐसा विश्वास हो गया था कि यजमान का कल्याण यज्ञ की प्रत्येक क्रिया को विस्तारपूर्वक करने में था। यज्ञ के पेचीदा और जटिल अनुष्ठानों में से एक का भी उल्लंघन अत्यंत अभाग्य का कारण माना जाता था।

ऋग्वैदिक काल में प्रायः सात पुरोहित यज्ञ में भाग लेते थे, परंतु उत्तर-वैदिक काल में इनकी संख्या सत्रह हो गयी, होतृ तथा उसके तीन सहायक, उदगातृ तथा उसके तीन सहायक अध्वर्यु और उसके तीन सहायक, ब्राह्मण एवं उसके तीन सहायक, इन सोलह पुरोहितों का प्रधान सत्रहवाँ ऋत्विज सदस्य होता था। यज्ञ के समय होतृ अग्नि में आहुति देता था और उदगातृ सोममंत्रों को गाता था। यज्ञ में बलि का महत्व भी अधिक बढ़ गया था। इस युग में फल, अन्न, दूध, घी आदि की बलि के अतिरिक्त पशु-बलि भी प्रचलित हो गयी थी। प्रारंभ में बलि देवताओं का उपहार माना जाता था, पर अब बलि देवताओं और पूर्वजों को संतुष्ट और प्रसन्न करने का साधन माना जाने लगा था। उत्तर-वैदिक युग में अश्वमेघ यज्ञ बड़े पैमाने पर विस्तृत विधान से किया जाता था। इस युग में राजा तथा अंय धन-संपन्न लोग यज्ञ में पशु चढ़ाते थे और ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ देते थे।

(3) धार्मिक विधियाँ (आडंबर और अंधविष्वास का प्रारंभ)

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक धारणाओं और कर्मकांड में गहन परिवर्तन हुए। प्रेतात्माओं, जादू-टोने, इंद्रजाल, वशीकरण आदि के मंत्रों में विश्वास बढ़ने लगा और धार्मिक कर्मकांड के ये मन्त्र अंग बन गये। अथर्ववेद में भूत-प्रेतों और उनसे रक्षा करने के लिए तंत्र-मंत्रों का विस्तृत विवेचन है। ऐसी धारणा हो चली थी कि रोगों को तंत्र-मंत्रों से दूर किया जा सकता हैं। यज्ञों और मंत्रों तथा तन्त्रों से देवताओं को वश में ही नहीं, उन्हें समाप्त भी किया जा सकता है। इस प्रकार अंधविश्वास को धर्म में स्थान प्राप्त हो गया। ऋग्वेद काल में धार्मिक विधियाँ और पूजन के ढंग इतने अधिक सादे व सरल थे कि प्रत्येक गृहस्थ उन्हें कर सकता था, परंतु पुरोहितों ने उत्तरवैदिक काल में धार्मिक कर्मकांड और क्रिया-विधियाँ अधिक विस्तृत, पेचीदा जटिल, गूढ़ और व्ययसाध्य कर दीं। इस काल में धार्मिक क्रिया-विधियों और आडंबर की एक अटूट परंपरा बन गई।

(4) ब्राह्मणों के प्रभुत्व में वृद्धि

उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की संख्या में वृद्धि होने से और उनकी क्रिया-विधियाँ पेचीदा, जटिल और रहस्यमय होने से उनको भलीभाँति यथाविधि संपूर्ण करने के लिए ऐसे पुरोहितों की आवश्यकता होती थी जो यज्ञों के विशेषज्ञ हों। इसी प्रकार अंय धार्मिक कर्मकांड की क्रिया-विधियाँ भी विस्तृत व गूढ़ थीं और उनके संपादन के लिए भी ब्राह्मण विशेषज्ञ होते थे। ये यज्ञ और धार्मिक क्रिया-विधियों को कराने में निपुण होते थे। फलतः इस युग में ब्राह्मण और पुरोहितों का महत्व खूब बढ़ गया था। पुरोहित धार्मिक क्रिया-विधियों की अगणित बारीकियों और भेदों के अध्ययन, कार्यान्वयन और संपादन में अपना समय व्यतीत करते थे और जनसाधारण में इस धारणा को दृढ करते थे कि मनुष्य और लौकिक और पारलौकिक प्रगति एवं मोक्ष के लिए इस प्रकार के विविध अनुष्ठान् हवन, यज्ञ आदि करना अनिवार्य हैं और इनकी उपेक्षा करने से या इनके संपादन में त्रुटि होने से मनुष्य का लोक-परलोक बिगड़ सकता है। इससे लोग ब्राह्मणों पर अधिक आश्रित हो गये और वे ब्राह्मणों का अन्धानुकरण करने लगे।

(5) दार्षनिकता

उत्तर वैदिक युग में उपर्युक्त वर्णित ब्राह्मणों के प्रमुख आडंबरमय जीवन, कर्मकांड, यज्ञ संबंधी विस्तृत क्रिया-विधियों आदि को कतिपय दार्शनिकों और विद्वानों ने सन्देह की दृष्टि से देखा। उन्होंने इन सब पर विश्वास नहीं किया। उनका उत्सुक मस्तिष्क, बुद्धि और विवेक सृष्टि-सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओं पर गहन चिंतन करने लगा। उसकी ज्ञानपिपासा लोक-परलोक के वास्तविक मार्ग की खोज करने लगी, तत्व ज्ञान की खोज होने लगी। आत्मा, परब्रह्म, इहिलोक, परलोक, स्वर्ग-नर्क, मोक्ष, सृष्टि आदि पर वे निरंतर मनन करने लगे। इस मनन, चिंतन, मंथन से नवीन दार्शनिक विचारों का प्रादुर्भाव

हुआ, जिससे षट्दर्शन का विकास हुआ। ये छः दर्शन हैं - सांख्य रोग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। इस दार्शनिकता के कारण कुछ विचारधाराएँ और सिद्धांत प्रतिपादित किये गये, जैसे ब्रह्म, कर्म, मोक्ष आदि।

ब्रह्म

उत्तर वैदिक काल में दार्शनिकता व आध्यात्मवाद के प्रमुख सिद्धांतों जैसे ब्रह्म, कर्म, पुनर्जम, मोक्ष आदि का विकास भी हुआ। इस सृष्टि के पार एक अपरिवर्तनशील शक्ति "ब्रह्म" है। यह समस्त सृष्टि का सृष्टा और नियंत्रण करने वाला है। यह सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में हैं। इस विश्व का मूल तत्व एक सर्वशक्तिमान सत्ता - ब्रह्म है और समस्त भौतिक जगत उसकी अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म ही नित्य और सत्य है, शेष सब अनित्य और असत्य है। ब्रह्म अनादि, अतंत और अकारण है। इस ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए पठन-पाठन, अध्ययन, यज्ञ, धार्मिक - क्रिया-विधि या दान आदि निरर्थक माने गये। आत्म-ज्ञान ब्रह्म-ज्ञान का साधन माना गया। वृहदारण्यक में लिखा है कि जिसे आत्मा और ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् चेतनाविहीन हो जाता है। जीवन-मरण से मुक्त हो जाता है।

कर्म

प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का संबंध उसके कर्म से होता है। मनुष्य का कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता। सभी प्रकार के उचित या अनुचित, भले या बुरे कार्यों का परिणाम समय आने पर फलता है। आत्माओं को पुनर्जम लेना पड़ता है और उन्हें उनके पूर्व-जन्मों का फल भुगतना पड़ता है। बृहदारण्य उपनिषद में कर्मवाद का उल्लेख है। इनके अनुसार मनुष्य का पुनर्जम उसके कर्मानुसार निश्चित होता है। किसी भी व्यक्ति के देहावसान के बाद उसकी आत्मा उसके कर्मों के अनुसार जन्म लेकर अंय शरीर में प्रवेश करती है और इसके बार फिर दूसरी देह में और इस प्रकार आत्मा के पुनर्जम का यह क्रम तब तक चलता ही रहता है जब तक कि वह आत्मा अपने कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा में विलीन न हो जाये।

मोक्ष

कर्म और आत्मा के आवागमन के सिद्धांतों से लगा हुआ मोक्ष का सिद्धांत भी प्रतिपादित हुआ। मोक्ष जन्म और मरण से मुक्त अमरत्व की दशा है। आत्मा से पुनर्जम में एक दिन ऐसी व्यवस्था आती है जब वह अतंत जन्म-मरण के पाश से मुक्त हो जाती है और उस दिव्य अतंत ब्रह्म में विलीन हो जाती है जिसका कि वह एक सूक्ष्म अणु मात्र है। यही मोक्ष कहलाता है। वह तो उस अतंत परब्रह्म में विलीन हो जाती है। उत्तर-वैदिक काल में प्रत्येक मनुष्य से ऐसी आशा की जाती थी कि वह मोक्ष के इस श्रेष्ठ आदर्श को अपने सम्मुख रखेगा और उसकी प्राप्ति हेतु सदैव यत्नशील रहेगा।

तप और सन्यास

उत्तर-वैदिक युग के अंतिम चरणों में एक अंय धार्मिक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। इसने वैराग्य और तप तथा सन्यास का आदर्श प्रस्तुत किया। इस नयी विचारधारा ने ब्रह्मचर्य और तप पर खूब बल दिया और सन्यास जीवन को महत्वशाली और गौरवपूर्ण बताया। तप का महत्व बताते हुए कहा गया है कि तप से अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

1.4.8 सारांश

वैदिक कालीन धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिए वैदिक काल को दो भागों में विभाजित किया जाता है। ऋग्वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल। ऋग्वैदिक काल में ऋग्वेद की रचना एवं उत्तर वैदिक काल में यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की रचना हुई थी। ऋग्वैदिक कालीन धर्म के विभिन्न

अंग हैं - (1) प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण (2) ऋग्वैदिक देवता (3) ऋग्वैदिक देवियाँ (4) धार्मिक विधियाँ। ऋग्वैदिक धर्म की विषेषताएँ - (1) देवताओं का मानवीकरण (2) सर्वदेववाद (3) पुरुष देवताओं की प्रधानता (4) देवताओं का सामूहीकरण (5) मंदिरों व मूर्तियों का अभाव (6) पुरोहित वर्ग का अभाव (7) यज्ञ। ऋग्वैदिक कालीन दार्शनिक विचारधाराएँ।

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक जीवन। आश्रम व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था। उत्तर-वैदिक युग में लोगों के धार्मिक जीवन में नवीन धार्मिक विचारधाराओं, क्रिया-विधियों और परंपराओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में तीन स्पष्ट धार्मिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं - देवी-देवताओं का परिवर्तन, धार्मिक कांड और तत्वज्ञान, दर्शन तथा तपस्या संबंधीविचारधाराएँ। ये इस प्रकार हैं - (1) देवी-देवताओं का परिवर्तन (2) यज्ञ और उसकी धार्मिक विधियाँ (3) धार्मिक विधियाँ (आडंबर और अंधविष्वास का प्रारंभ) (4) ब्राह्मणों के प्रभुत्व में वृद्धि (5) दार्शनिकता- ब्रह्म, कर्म और मोक्ष। इस युग के अंतिम चरणों में एक अंय धार्मिक विचारधारा तप और सन्यास का प्रचलन प्रारंभ हुआ।

1.4.9 बोध प्रश्न

1.4.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. वैदिक को कितने भागों में बाँटा गया है?
2. वेदों के नाम लिखिये।
3. ऋग्वैदिक काल से आप क्या समझते हैं?
4. उत्तरवैदिक काल से आप क्या समझते हैं?
5. ऋग्वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों का महत्व बताइए ?
6. ऋग्वैदिक काल देवियों पर लघु नोट लिखिये।
7. ऋग्वैदिक कालीन पाँच पुरूष देवताओं के नाम लिखिये।
8. आश्रम व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिये।
9. वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डालिये।
10. तप और सन्यास से क्या तात्पर्य है?

1.4.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. ऋग्वैदिक कालीन धार्मिक स्थिति का वर्णन कीजिये।
2. उत्तरवैदिक कालीन धार्मिक स्थिति की विवेचना कीजिये।
3. ऋग्वैदिक कालीन धर्म के अंगों का वर्णन कीजिये।
4. ऋग्वैदिक कालीन धर्म की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
5. उत्तर वैदिक कालीन धार्मिक विचारधाराओं की विवेचना कीजिये।
6. ऋग्वैदिक कालीन दार्शनिक विचारधाराओं का वर्णन कीजिये।
7. वर्णाश्रम व्यवस्था पर एक लेख लिखिये।
8. उत्तर वैदिक कालीन दार्शनिकता की विवेचना कीजिये।
9. ऋग्वैदिक कालीन देवी-देवताओं का वर्णन कीजिये।
10. उत्तर वैदिक कालीन देवी-देवताओं का वर्णन कीजिये।

1.4.10 संदर्भग्रंथ

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल.पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी.एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. शर्मा, घनश्याम दत्त : मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, जयपुर 1994
11. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
12. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
13. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
14. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
15. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का साँस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
16. लूनिया, बी.एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
17. लूनिया, बी.एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989

खंड - 2 धर्म एवं संस्कृति

इकाई 1 - सूत्रयुगीन धर्म एवं संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

- **2.1.1 उद्देश्य**
- **2.1.2 प्रस्तावना**
- **2.1.3 सूत्र ग्रंथ**
  - **2.1.3.1 श्रौत-सूत्र**
  - **2.1.3.2 गृह्य-सूत्र**
  - **2.1.3.3 धर्म-सूत्र**
  - **2.1.3.4 सूत्रकालीन ग्रंथ**
  - **2.1.3.5 सूत्र-ग्रंथों का काल**
  - **2.1.3.6 सूत्र-ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व**
- **2.1.4 सूत्रयुगीन समाज**
  - **2.1.4.1 परिवार**
  - **2.1.4.2 वर्ण-व्यवस्था**
  - **2.1.4.3 आश्रम व्यवस्था**
  - **2.1.4.4 संस्कार**
  - **2.1.4.5 आहार और वेशभूषा**
  - **2.1.4.6 स्वच्छता**
  - **2.1.4.7 नैतिकता और शिष्टाचार**
  - **2.1.4.8 शिक्षा**
  - **2.1.4.9 नारी की स्थिति**
  - **2.1.4.10 विवाह संस्कार**
- **2.1.5 सूत्रयुगीन आर्थिक पर्यावरण**
  - **2.1.5.1 निवास-गृह**
  - **2.1.5.2 नगर और गाँव**
  - **2.1.5.3 कृषि**
  - **2.1.5.4 पशु-पालन**
  - **2.1.5.5 उद्योग-व्यवसाय**
  - **2.1.5.6 वाणिज्य तथा व्यापार**
  - **2.1.5.7 यातायात**
- **2.1.6 सूत्रयुगीन धर्म**
  - **2.1.6.1 भक्ति-प्रधान संप्रदायों का अभ्युदय**
  - **2.1.6.2 मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार**
  - **2.1.6.3 बहुदेववाद**
  - **2.1.6.4 शैव संप्रदाय का प्रादु र्भाव**

2.1.6.5 यज्ञ-कर्म
2.1.6.6 कर्मफल का सिद्धांत
2.1.6.7 प्रतिमाओं में यूनानी कला का प्रभाव
2.1.6.8 वैदिक धर्म का नया रूप
2.1.7 सारांश
2.1.8 बोध प्रश्न
2.1.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
2.1.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.1.9 संदर्भ

2.1.1 उद्देश्य

आर्यों का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन उत्तरवैदिक युग के बाद अत्याधिक जटिल होता जा रहा था। वर्ण व्यवस्था संबंधी नियम समाज में लगातार कठोर हो रहे थे तथा कर्मकाण्डोंमें लगातार वृद्धि हो रही थी। अतः इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंध रखने वाले नियमों, उपनियमों और विधि-विधान को क्रमानुसार संगठित कर दिया जाय। धार्मिक परंपरा के विचार तथा धार्मिक पद्धतियाँ लेखनबद्ध कर दी जायें, जिससे कि मौखिक प्रदान के क्रम में उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न हो जाय तथा भावी पीढ़ियाँ भी इन लिखित ग्रंथों से लाभ उठा सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सूत्र-साहित्य की रचना हुई। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य सूत्रयुगीन धर्म एवं संस्कृति पर विस्तार से प्रकाश डालना है।

2.1.2 प्रस्तावना

उत्तर वैदिक काल में सूत्र साहित्य की रचना हुई। उपनिषदों के बाद सूत्र-ग्रंथ आर्यों के साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग है। सूत्र-ग्रंथ से समाज के समस्त धार्मिक एवं सामाजिक नियम-उपनियम और विधि-निषेधों को छोटे-छोटे सुंदर वाक्यों में संगठित करके लिखा गया। इन ग्रंथों की विशेषता यह थी कि कम से कम सूत्रों या वाक्यों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त किये जायें। गद्य में और लघु रूप होने से इन सूत्रों को कंठस्थ कर लेने में सरलता होती थी। प्रारंभ में तो यह नवीन गद्य-शैली सुविधाजनक प्रतीत हुई, परंतु कालांतर में इसकी जटिलता के कारण जनसाधारण के लिए सूत्र-ग्रंथों को समझना कठिन हो गया। प्रस्तुत इकाई में सूत्र युगीन धार्मिक स्थिति एवं संस्कृति की विस्तार से विवेचना करना है। इकाई के अंत में सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जाना प्रस्तावित है।

2.1.3 सूत्र-ग्रंथ

वेदों की प्रामाणिकता ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, चातुर्वर्ण-व्यवस्था, गृहस्थाश्रम की महत्ता, समाज का संगठन, चतुराश्रम व्यवस्था, यज्ञ, धार्मिक कर्मकांड आदि विभिन्न विषयों को सूत्रों में प्रस्तुत किया गया। वे ग्रंथ जिनमें विधि-विधान एकत्र कर परस्पर जोड़ दिये गये हैं सूत्र ग्रंथ कहलाते हैं। फलतः सूत्र ग्रंथों पर विभिन्न टीकाएँ रची गयीं। इनमें पतंजलि का महाभाष्य मुख्य है। पाणिनि का प्रसिद्ध ग्रंथ "अष्टाध्यायी" भी सूत्र-पद्धति के ग्रंथों में बेजोड़ है। यह एक व्याकरण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वैज्ञानिक रूप से व्याकरण के सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमों को सूत्रबद्ध कर दिया गया है। इस में तत्कालीन युग के राजनीतिक समाजिक एवं

सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती हैं विद्वानों ने इसे सूत्र काल की प्रारंभिक रचना माना है। इसका रचना-काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना गया है।

वेदों की ऋचाओं में व्यवस्थित अध्ययन हेतु छह वेदांगों की रचना हुई - व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त (शब्द-विज्ञान), छन्दस और ज्योतिष। इनमें जिस कल्प का वर्णन हैं उसके अंतर्गत सूत्र ग्रंथ है। यह तीन भागों मे विभाजित है - (1) श्रौत-सूत्र, (2) गृह्य-सूत्र और (3) धर्म-सूत्र।

2.1.3.1 श्रौत-सूत्र

इसके विषय यज्ञ, हवि और सोम हैं। इसमें यज्ञ की विधियों और अंय धार्मिक अनुष्ठानों, विधि-निषेधों आदि का वर्णन है। अतः श्रौत-सूत्र का स्वरूप कर्मकाण्डीय है।

2.1.3.2 गृह्य-सूत्र

ग्रह सूत्र में प्रमुख विषय गृहस्थ-जीवन और उससे संबंधित अधिकार, कर्तव्य, उत्तरदायित्व, दैनिक पूजन, उपासना, संस्कारों और अनुष्ठानों से है। गृह्य-सूत्र में व्यक्ति का जीवन गर्भाधान से देहावासन और अन्त्येष्टि-क्रिया तक अनेक कालों मे विभाजित किया गया है। प्रत्येक काल से संबंधित सविस्तृत क्रिया-विधियाँ है, जिनके अपने-अपने विधान है। इन क्रिया-विधियों में सबसे महत्वपूर्ण संस्कार हैं। जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु आदि सोलह संस्कारों का सूक्ष्म विधान गृह्य-सूत्र में दिया गया है।

2.1.3.3 धर्म-सूत्र

धर्म-सूत्र और गृह्य-सूत्रों के अनेक विषयों में समानता है। यदि गृह्य-सूत्र गृहस्थ जीवन के कर्तव्य, यज्ञ, संस्कार, विधि निषेधों आदि का खूब विस्तार से वर्णन व विवेचन करते हैं तो धर्म-सूत्र उनका उल्लेख संक्षेप में करते हैं। धर्म-सूत्रों का संबंध सामाजिक व्यवहार के नियमों से हैं। दैनिक जीवन के प्रमुख सामाजिक नियमों, उपनियमों, निषेधों, परंपराओं, संस्कारों आदि का इनमें विस्तृत विवेचन है। हिंदू सामाजिक कानून-व्यवस्था का सूत्रपात इन्हीं सूत्रों से होता है।

2.1.3.4 सूत्रकालीन ग्रंथ

श्रौत-सूत्र ग्रंथों में आपस्तंब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन और शाखायन के ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इनका रचना काल ईसा पूर्व 600 से ईसा पूर्व 400 ई. पू. के बीच माना है।

गृह्य-सूत्र ग्रंथों में आपस्तंब, आश्वलायन, बौधायन और पारस्कर के ग्रह्य-सूत्र ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें आपस्तंब और आश्वलायन के गृह-सूत्र अधिक प्राचीन हैं। इनका रचना काल भी ईसा पूर्व 600 से ईसा पूर्व 400 इ.पू. के मध्य माना गया है।

धर्म-सूत्र ग्रंथों में गौतम, बौधायन, आपस्तंब, वशिष्ठ, विष्णु, वैखानस, हिरण्यकेशी के धर्म-सूत्र ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। गौतम धर्म-सूत्र ग्रंथ में है और सबसे प्राचीन हैं। वशिष्ठ का धर्म-सूत्र भाषा, व्याकरण, शैली और सिद्धांत को देखते हुए ईसा पूर्व की सदियों का सबसे अंतिम धर्म-सूत्र हैं। विष्णु धर्म-सूत्र की रचना संभवत: ईस्वी सन् 100 और ईस्वी सन् 200 के मध्य में हुई होगी।

2.1.3.5 सूत्र-ग्रंथों का काल

सूत्र-ग्रंथों में वर्णित विषय एवं स्थान तथा अंय ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वानों ने सूत्र-ग्रंथों का रचना काल ईसा पूर्व सातवीं सदी से लगभग ईसा पूर्व दूसरी सदी तक माना है। इन सूत्र -ग्रंथों से इस युग की सभ्यता एवं संस्कृति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

2.1.3.6 सूत्र-ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व

सूत्र ग्रंथों ने तत्कालीन समाज को व्यवस्थित व सुसंगठित किया। गृह्य-सूत्र ने मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के जीवन के समस्त कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया। विधि-विधान बताये, प्रत्येक अवसर

हेतु संस्कारों को निश्चित कर एक गृहस्थ के दैनिक जीवन को व्यस्थित किया, उनकी सीमाएँ निर्धारित कर दीं। इससे परिवार की परंपराएँ और अनुशासन की व्यवस्था निद्रिष्ट हो गयी। इन्हीं घरेलू क्रिया-विधियों निषेधों और संस्कारों की व्यवस्था ने समाज का एक निद्रिष्ट ढाँचा बना दिया, उसका स्वरूप और सीमाएँ निश्चित हो गयीं। धर्म सूत्र-ग्रंथों में सामाजिक प्रथाओं और रूढियों का विवरण है। उनमें सामाजिक व्यवहार और सामाजिक सम्म्बन्धों एवं संपत्ति के सिद्धांतों का विवेचन है। इससे प्रतीत होता है कि उस युग में समाज को नयी परंपराओं और विचारधाराओं के आधार पर संगठित और व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया था।

सूत्रयुगीन संस्कृति

सूत्रयुग में आर्यों के क्षेत्र की सीमाओं के विषय में जानकारी बौधायन एवं वशिष्ठ धर्म ग्रंथों के द्वारा प्राप्त होती है। बौधायन में लिखा है कि आर्यावर्त "विनशन के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण और पारियात्र के उत्तर में स्थित है।" वशिष्ठ धर्मसूत्र में भी आर्यावर्त की सीमाओं का उल्लेख हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरी भारत में ही आर्य संस्कृति का क्षेत्र था। बौधायन ने यह भी लिखा है कि अवन्ती, अंग, मगध, सौराष्ट्र, सिंधु, सौवीर, दक्षिणीपथ आदि प्रदेशों में वर्णसंकर जातियों के लोग रहते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यावर्त में अनार्य जातियाँ निवास करती थीं, परंतु उनकी अपनी संस्कृति थी।

2.1.4 सूत्रयुगीन समाज

2.1.4.1 परिवार

परिवार सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण इकाई माना जाता था। पारिवारिक जीवन सामाजिक संगठन का मूल आधार था। संयुक्त परिवार प्रथा थी और परिवार पितृसत्तात्मक होते थे। सभी गृहस्वामी या बयोवृद्ध व्यक्ति की आज्ञा का पालन करते थे। इस युग में परिवार की विशेषता यह थी कि कन्याओं का जन्म और उनका बाहुल्य कष्टदायक माना जाता था। पुत्री का महत्व पुत्र की अपेक्षा कम था और पुत्र-जन्म की अधिक कामना की जाती थी। फलतः पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा था।

2.1.4.2 वर्ण-व्यवस्था

सूत्र काल में वर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूप से संगठित कर दी गयी थी। प्रत्येक वर्ण के लोगों के कर्तव्यों और अधिकारों को निर्धारित कर दिया गया था और प्रत्येक मनुष्य से ऐसी आशा की जाती थी कि वह नियमों और कर्तव्यों का पालन करेगा। समाज में चारों वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और प्रभुत्व मान लिया गया था। ब्राह्मणों की विद्वता और पवित्र चरित्र के कारण सूत्रकारों ने उन्हें समाज में सर्वश्रेष्ठ, अदण्ड्य, अवहिष्कार्य तथा अवध्य बताया और उन्हें राज्य की ओर से कर मुक्त कर दिया गया। ब्राह्मण ही राजपुरोहित होते थे। गौतम के सूत्र-ग्रंथों में ब्राह्मणों के तीन प्रमुख कार्य माने गये थे - अध्यापन, याजन (यज्ञादिकर्म) और प्रतिग्रह। परंतु अधिकांश ब्राह्मण अपनी अल्प शिक्षा के कारण ये सभी धार्मिक कार्य नहीं कर सकते थे। इसलिए सूत्रकारों ने उन्हें अंय वर्णों के कार्य करने की छूट दे दी थी। गौतम और बौधायन के मतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कार्य भी कर सकते थे। ब्राह्मण व्यापारी भी होते थे। गौतम का कथन है कि जीविका के अंय साधन उपलब्ध न होने पर आपत्तिकाल में ब्राह्मण शूद्र कर्म भी करते थे। बौधायन धर्म-सूत्र से प्रतीत होता है कि ब्राह्मण कृषक, गड़रिये, नौकर तथा नट के काम भी करते थे।

ब्राह्मणों के बाद समाज में क्षत्रियों का प्रभाव और प्रभुत्व था। क्षत्रियों पर ब्राह्मणों की प्रभुता आरोपित की गयी थी। क्षत्रियों का मुख्य कार्य लोगों की रक्षा करना, युद्ध करना और प्रशासन के कार्य

करना था। यदि समाज की नैतिक, बौद्धिक और धार्मिक प्रगति का भार ब्राह्मणों पर था, तो भौतिक सुरक्षा और प्रगति का भार क्षत्रियों पर था। परंतु आपत्ति काल में क्षत्रियों को भी वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने व यज्ञ करने का अधिकार था। आवश्यकता होने पर क्षत्रिय वैश्य के काम भी करते थे। क्षत्रिय के पश्चात् वैश्य वर्ण के लोग थे। वैश्यों का प्रधान कार्य कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य-व्यवसाय था, परंतु आपत्ति काल में वैश्य वेदों का पठन-पाठन यज्ञ आदि कार्य करते थे।

चौथा, वर्ण शूद्रों का था। शूद्र वर्ण में अनार्य लोग एवं आर्यों की वर्णसंकर जातियाँ थीं। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के परिणामस्वरूप जो संतान होती थी, वह वर्णसंकर कहलायी। सूत्र-ग्रंथों में शूद्र वर्ण के अंतर्गत अनार्य लोग और अम्बष्ठ, आयोगव, चांडाल, निषाद, मागध, रथकार, वैदेहक, सूत, वेण, पौल्कस आदि जातियाँ थीं। समाज में शूद्र नितांत अधिकारहीन और सम्मानरहित अपवित्र लोग थे। समाज में उनका स्थान निम्नतम था और उनका मुख्य कार्य अंय वर्ण के लोगों की सेवा था। गौतम ने अपने सूत्र-ग्रंथ में लिखा है कि शूद्रों को अपने से ऊँचे वर्ण के लोगों के वस्त्रों, आसनों, जूतों, चटाइयों, जूठे भोजन आदि का उपयोग करना चाहिए। वे धार्मिक और बौद्धिक अधिकारों और कार्यों से भी वंचित कर दिये गये थे। वे वेदों के पठन-पाठन और यज्ञ नहीं कर सकते थे। गौतम के मतानुसार यदि कोई शूद्र वैदिक मंत्रों का उच्चारण करे, तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए, यदि वह उन्हें कंठस्थ करे तो उसकी देह के दो भाग कर देने चाहिए और यदि वह भूल कर या जानबूझ कर भी वेद के मन्त्र सुने तो उसके कानों में सीसा अथवा लाख गला कर भर दी जाय। दंड-विधान में भी शूद्रों के साथ इस प्रकार का कठोरता का व्यवहार किया जाता था। उच्च वर्ण के अपराधियों की अपेक्षा शूद्रां ो को समान अपराधों के लिए अधिक कठोर दंड दिया जाता था। इस प्रकार शूद्रों से घृणा की जाती थी, समाज में उनका निम्नतम स्थान था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया था। द्विजों (ब्राह्मणों, क्षत्रिय व वैश्य लोगों) को शूद्रों के हाथ से भोजन ग्रहण करना और उनसे विवाह संबंध करना निषिद्ध था। उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भोजन और अछूत वर्ग का स्पर्श वर्जित होता था। इन विषयों के लिए सूत्रों के विधान कड़े और स्पष्ट हो गये थे।

2.1.4.3 आश्रम व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था को सूत्र ग्रंथों में सामाजिक जीवन में कार्यान्वित किया गया था। समस्त जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था और प्रत्येक भाग को आश्रम माना गया था। मानव जीवन की औसत आयु लगभग सौ वर्ष मानी गयी थी और प्रत्येक आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम 25 वर्ष तक, गृहस्थ आश्रम 25 से 50 वर्ष तक, वानप्रस्थ आश्रम 50 से 75 वर्ष तक और सन्यास आश्रम 75 से 100 वर्ष तक माना गया था। पर विभिन्न सूत्र ग्रंथकारों ने आश्रमों की अवधि में पाँच-दस वर्ष का अंतर कर दिया हैं। जैसे बौधायन ने सन्यास आश्रम को 70 वर्ष की आयु से माना है। आश्वलायन के मतानुसार ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि 20 वर्ष, क्षत्रिय के लिए 23 वर्ष और वैश्य के लिए 24 वर्ष की हो जाती है। यह समस्त आश्रम व्यवस्था उपनयन धारण करने वाले द्विज लोग-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य - ही अपना सकते थे। शूद्रों के लिए केवल गृहस्थ आश्रम की ही योजना थी।

2.1.4.3.1 ब्रह्मचार्य आश्रम

उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचर्याश्रम प्रारंभ करता था। आश्वलायन ने अपने गृह-सूत्र में कन्याओं के लिए उपनयन माना है। कन्याओं को भी, उपनयन संस्कार होने के पश्चात्, वेदों का पठन-

पाठन तथा अंय प्रकार की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी और ब्रह्मचर्य से रहना पड़ता था। ब्रह्मचर्या आश्रम की अवधि में व्यक्ति गृरु गृह या गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करता था। उसके भोजन, वस्त्र तथा अंय व्यय का भार समाज में गृहस्थियों पर था। यह नियमित रूप से भिक्षार्जन करता था। उसके जीवन और कार्यों के लिए जैसे शयन, शय्या, वस्त्र, स्नान, आहार, आचार, भिक्षार्जन, विद्याध्ययन, गुरु सेवा आदि के लिए नियम और विधान थे।

2.1.4.3.2 गृहस्थ आश्रम

अपना अध्ययन समाप्त करके गुरु को दक्षिणा दे, उसका आशीर्वाद लेकर युवक विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम समस्त आश्रमों में श्रेष्ठ और प्रमुख माना गया था। शेष तीनों आश्रमों का भार गृहस्थ-जीवन पर था। गृहस्थी ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के पालन-पोषण, वस्त्र, भोजन आदि की व्यवस्था करता था। ऐसी कल्पना की गयी थी कि ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पित्-ऋण से मुक्त होने के लिए गृहस्थ-जीवन अनिवार्य है। ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन, स्वाध्याय आवश्यक था, देव-ऋण से मुक्त होने के लिए पाँच प्रकार के यज्ञ, हवन, अनुष्ठान तथा अंय धार्मिक कार्य करना एवं पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए, संतानोत्पत्ति करनी पड़ती थी। ऐसी कल्पना की गयी थी कि गृहस्थ-जीवन के नियमों, उपनियमो, विधियों आदि का नियमित रूप से पालन करने पर ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सूत्रकारों ने गृह-सूत्रों में गृहस्थजीवन के सभी कर्तव्यों का विशद रूप में उल्लेख किया है। अतिथि-सत्कार और सेवा गृहस्थ-जीवन का एक प्रमुख कर्तव्य माना गया था। सारे गृहस्थ-जीवन का आधार विविध कर्तव्यों का पालन था।

2.1.4.3.3 वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम होता था। इस आश्रम काल में गृह को त्याग कर, सांसारिक जीवन को तिलांजलि देकर वन में वृक्षादि के नीचे रहना पड़ता था, वर्षा ऋतु में एक ही स्थान पर विश्राम करना पड़ता था, कन्दमूल फल तथा भिक्षा में प्राप्त अन्न से शरीर को बनाये रखना पड़ता था, शारीरिक तपस्या के समय एक ग्राम में एक रात से अधिक नहीं ठहरना पड़ता था आदि इस प्रकार वानप्रस्थाश्रम कठिन और साधनामय जीवन होता था।

2.1.4.3.4 संन्याश्रम

वानप्रस्थाश्रम के पश्चात् संन्यास आश्रम था। संन्यास आश्रम में जीवन बड़ा कठिन और विरक्तिपूर्ण होता था। संन्यासी को कम से कम तथा जीर्ण वस्त्र पहनने पड़ते थे, कभी-कभी काषाय वस्त्र या चमड़े के वस्त्र धारण करने पड़ते थे और हाथ में दंड रखना पड़ता था। भिक्षा प्राप्त करके कम से कम भोजन करना पड़ता था और भिक्षा के निमित्त ही गाँव या नगर में एक ही बार जाने की आज्ञा थी, माया-मोह के बंधन में मुक्त होना पड़ता था। उसे सदाचारी, सत्यनिष्ठ, अल्पाहारी, अहिंसाव्रती, क्रोध व द्वेष-रहित, उदार और क्षमाशील होना पड़ता था।

2.1.4.4 संस्कार

संपूर्ण गृहस्थाश्रम को संस्कारों से बाँधा गया था। सूत्रकारों ने गृह-सूत्रों में इन संस्कारो का विवेचन किया है। संस्कार वे सामाजिक और धार्मिक क्रिया-विधियाँ होती थी, जिनसे मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता था। व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए संस्कारों का विशेष महत्व था। ये संस्कार स्त्री और पुरुष दोनों के लिए होतेथे। प्रत्येक संस्कार के अपने-अपने मन्त्र और कर्मकांड होते थे। ये संस्कार जन्म से मृत्युपर्यन्त होते थे।

गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोनयन, जन्म या जातकर्म, नामकरण निष्क्रमण (शिशु को घर से बाहर लाने का संस्कार), अन्न-प्राशन (शिशु को अन्न खिलाना), चैल या चूड़ा कर्म (शिशु के केश काटना), उपनयन, समावर्तन संस्कार (विद्याध्ययन के बाद गुरु-गृह से लौटना), विवाह संस्कार, पाँच महायज्ञ करना (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ),सात पाकयज्ञ, सात हविर्यस और सात सोमयज्ञ करना अन्त्येष्टि संस्कार आदि। उपर्युक्त विभिन्न यज्ञ करने का उद्देश्य था मनुष्य जीवन को पवित्र बनाना, सद्कार्य करना, अपने देवताओं, पूर्वजों, परिजनों, स्वजनों, अतिथियों आदि के प्रति अपनी कृतज्ञता, श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करना एवं अपने विविध कर्तव्यों का पालन करना था।

2.1.4.5 आहार और वेशभूषा

सूत्र युग में चावल, जौ, गेहूँ, दूध, दही, मक्खन तथा उनसे बनायी गयी वस्तुएँ, तिलहन, साग-सब्जी आदि प्रमुख खाद्य पदार्थ थे। माँस एवं सुरा का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग होता था, परंतु सुरापन निन्दनीय माना जाता था। मधु तथा क्षार-लवण को भी प्रयोग में लाया जाता था। ब्रह्मचारी तथा विद्यार्थी के लिए माँस व मदिरा वर्जित थे।

वेश-भूषा साधारण होती थी। वेश-भूषा के दो प्रमुख वस्त्र थे - प्रथम अंतरीय जो कमर के नीचे पहना जाता था और द्वितीय उत्तरीय जो कमर से ऊपर पहना जाता था। कोई विशेष सामाजिक व धार्मिक अवसर तथा संस्कार संपन्न होने के अवसर पर पगड़ी पहनी जाती थी। विद्यार्थीगण मृगचर्म अथवा अजाचर्म के वस्त्र पहनते थे। ऊनी, सूती, रेशमी वस्त्रों का उपयोग होता था। ऊनी वस्त्र और कम्बल अधिक पवित्र माने जाते थे और इनको पिण्डदान में देते थे। यात्रा के समय जूते, छाते तथा डण्डे रखे जाते थे। लोगों में श्रृंगार-प्रसाधन के प्रति रुचि थी। नेत्रों में अंजन या काजल लगाया जाता था और सौंदर्य-वृद्धि के लिए विविध आभूषण पहने जाते थे।

2.1.4.6 स्वच्छता

इस युग की यह विशेषता थी कि स्वच्छता पर अधिक बल दिया जाता था। लगभग सौ वर्ष की औसत आयु होने का अनुमान था। अतः स्वास्थ्य के नियमों, रोगों के निवारण के साधनों और स्वच्छता के विधानों को अधिक माना जाता था। जीवन को संयमी बना दिया गया था। दैनिक जीवन में स्नान, स्वच्छता, पवित्रता आदि का विशेष महत्व था। गृह और उसके पाश्ववर्ती भागों को नितांत स्वच्छ रखा जाता था। फर्श को गोबर से लीपकर गन्दगी दूर की जाती थी। शौच और मल-मूत्र के लिए निवासगृह से दूर गाँव या नगर के बाहर जाना पड़ता था। कूड़े-कचरे फेंकने के लिए स्थान निद्रिष्ट थे। देवालय, अतिथिगृह, गौशालाएँ आदि स्थान भी निश्चित थे। अछूत और निम्नतम वर्ग का स्पर्श अपवित्र माना जाता था। जूठा, गन्दा और अपवित्र भोजन वर्जित था। संक्रामक रोगों के निवारक और रोकथाम तथा स्वास्थ्य व स्वच्छता के लिए ऐसे नियम आवश्यक थे।

2.1.4.7 नैतिकता और शिष्टाचार

जीवन की पवित्रता, सदाचार, नैतिकता तथा सद्गुणों पर अधिक बल दिया जाता था। आचरण की शुद्धता, संयमी जीवन और आत्मनिग्रह पर बड़ा जोर दिया जाता था। दैनिक जीवन में शिष्टाचार का बड़ा महत्व था। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना होती थी, विनयशील और उदारवृत्ति का होना श्रेयस्कर माना जाता था। दैनिक स्नान-ध्यान, आचमन, प्रक्षालन, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, विचारों की श्रेष्ठता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। स्त्रियों के चरित्रवान होने की अपेक्षा की जाती थी।

2.1.4.8 शिक्षा

उपनयन संस्कार के पश्चात् शिक्षा प्रारंभ की जाती थी। विद्यार्थी को गुरु-गृह में शिक्षा के लिए कई वर्षों तक रहना पड़ता था। वहाँ उसे शिक्षा के लिए जाना पड़ता था। उसकी सभी आवश्यकताएँ गुरु द्वारा पूरी की जाती थीं। उसके पालन-पोषण और शिक्षा का भार गुरु पर होता था। विद्यार्थी जीवन बड़ा कठोर और संयमी होता था। भोजन, वस्त्र, शयन, आराम, उपहास, स्त्री-संपर्क आदि नियमों के लिए इन पर कड़े प्रतिबंध थे। उनके लिए ब्रह्मचारी होना अनिवार्य था। वे व्रत और उपवास भी रखते थे। उनके नैतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास पर भी ध्यान दिया जाता था। शारीरिक विकास के लिए योग, प्राणायम और व्यायाम आवश्यक माने गये थे। चरित्र-गठन पर अधिक बल दिया जाता था। शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। पाठों को कण्ठाग्र किया जाता था। अध्याय के विषय में वेदों का अध्ययन, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, ब्रह्मविद्या, सैनिक, शिक्षा, भूत, विद्या, देवजन विद्या आदि थे। शास्त्रार्थ वाद-विवाद और धर्म-चर्चा आदि आयोजित किये जाते थे जिनमें विद्यार्थी और गुरु भाग लेते थे। शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था।

2.1.4.9 नारी की स्थिति

उत्तरवैदिक युग की अपेक्षा सूत्र युग में स्त्रियों की स्थिति निम्नतम हो गयी थी। पुरुषों की अपेक्षा उनका स्थान निम्नतर था। कन्या का जन्म शुभ नहीं माना जाता था। परंतु कन्याओं की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। आश्वलायन गृह-सूत्र में कन्याओं के समावर्तन संस्कार का वर्णन हैं जो उनकी शिक्षा समाप्त होने पर आयोजित किया जाता था। हारीत ने कन्याओं के लिए उपनयन संस्कार माना है। इससे प्रतीत होता है कि कन्याएँ ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर विद्याध्ययन करती थीं। वे भी वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करती थीं। परंतु उनकी शिक्षा प्रायः घर में होती थी। कई स्त्रिया बड़ी विदुषी होती थीं। आश्वलायन के गृह-सूत्र में गार्गी, वाचवनवी, वड़वा, प्रतिथेपी, सुलभा, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है। कुछ स्त्रियाँ विद्याध्ययन के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अपेक्षा जीवन भर ब्रह्मचारिणी रहती थीं और विद्याध्ययन, आत्मचिंतन और आध्यात्मिक प्रगति में अपना शेष जीवन व्यतीत करती थीं। ऐसी स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी कहते थे।

बौधायन, वशिष्ठ और गौतम सूत्रकारों ने समाज में स्त्री को पुरुष के अधीन माना है। पुरुष के साथ-साथ समानता के अधिकारों से अब वह वंचित कर दी गयी थी। अब वह पुरुष पर आश्रित मानी जाने लगी थी। अपने शैशवकाल में स्त्री को अपने पिता की देखरेख और संरक्षण में रहना पड़ता था, यौवनकाल और प्रौढावस्था में पति के अधीन और वृद्धावस्था में अपने पुत्र पर आश्रित रहना पड़ता था। अब वह पुरुष के साथ समानता के अधिकारों से वंचित कर दी गयी थी। गौतम ने तो यहाँ तक लिखा है कि स्त्रियाँ धार्मिक कर्मकांड और क्रिया-विधियाँ करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। फिर भी समाज में नारियों का सम्मान था। उनके लिए संस्कार निश्चित थे, उनकी शिक्षा की व्यवस्था थी और वे वेदों का पठन-पाठन कर सकती थीं। सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अवसरों, समारोहों और उत्सवों पर वे अपने पतियों के साथ रहती थीं और उन्हें सहयोग और सहायता देती थीं। गृहणी के रूप में परिवार में उनका पद श्रेष्ठ माना जाता था और माता के रूप में वे पूजनीय और सम्माननीय समझी जाती थीं। उन्हें संगीत, नृत्य और अंय मनोरंजन में भाग लेने का अधिकार था। समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन न होने से साधारणतया स्त्रियों की दशा सन्तोषप्रद थी।

2.1.4.10 विवाह संस्कार

समाज में विवाह एक पवित्र बंधन माना जाता था। वयस्क अवस्था में ही विवाह होते थे। बाल-विवाह का अभाव था। साधारण पुरुष एकपत्नीक होते थे, परंतु राजवंश और धनसंपन्न परिवारों में पुरुष बहुपत्नीक होते थे। कभी-कभी पुत्र प्राप्ति के लिए पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। विधवा स्त्रियाँ समाज में रहती थीं। आपस्तंब ने अपने गृह्य-सूत्र में लिखा है कि विधवा स्त्री अपने पति के शव के अग्नि-संस्कार के पश्चात् शमशान से घर लौटती थी। इससे ऐसा प्रतीत होता हे कि सती प्रथा प्रचलित नहीं थी। सपिण्ड और सगौत्र विवाह की भी प्रथा नहीं थी। सपिण्ड विवाह से तात्पर्य है कि जहाँ "रक्त संबंध" हो, वहाँ विवाह न करना। फलतः काका, फूफा, मौसा और मामा की कन्या से विवाह वर्जित था। इसी प्रकार एक ही गोत्र वाले युवक-युवती के विवाह का भी निषेध था। सवर्ण विवाह सर्वमान्य थे, परंतु अंतर्जातीय विवाह भी होते थे। अंतर्जातीय विवाह दो प्रकार के होते थे - प्रथम, अनुलोम विवाह और द्वितीय प्रतिलोम विवाह। अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण का पुरुष निम्न वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था, उदाहरणार्थ, ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री का परस्पर विवाह। प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था, जैसे क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री तथा वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री का परस्पर विवाह। परंतु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों को शूद्र स्त्री से विवाह करने का अधिकार नहीं था। सूत्रकारों ने प्रतिलोम विवाहों का विरोध किया। सूत्र-ग्रंथों में मुख्य रूप से आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है।

1. ब्रह्म विवाह

   इसमें पिता अपनी वयस्क कन्या का विवाह सुयोग्य वर से करता था। यह समाज में सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य विवाह होता था।

2. देव विवाह

   इसमें यज्ञ कराने वाले पुरोहित के साथ यजमान की कन्या का विवाह होता था।

3. आर्य विवाह

   इसमें पिता वर से कुछ गाय, बैल, कन्या के बदले में लेता था।

4. प्राजापत्य विवाह

   इसमें कन्या का पिता वर के साथ विवाह कर दोनों को ही धार्मिक कार्य में संलग्न रहने का आदेश देता था।

5. गन्धर्व विवाह

   इसमें वयस्क युवक और युवती अनुराग में स्वयं विवाह कर लेते थे।

6. असुर विवाह

   इसमें कन्या बेची जाती थी और वर की ओर से कन्या के पिता को धन प्राप्त होता था।

7. राक्षस विवाह

   इसमें वर कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह कर लियाजाता था। कभी यह अपहरण कन्या की स्वीकृति से होता था और कभी बलपूर्वक।

8. पैशाच विवाह

   सोती हुई, बेहोश या पागल कन्या के साथ बलात्कार करने वाले व्यक्ति के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया जाता था। राक्षस-विवाह और पैशाच-विवाह अधर्म विवाह माने जाते थे।

वशिष्ठ धर्म-सूत्र में कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति दी गयी थी। गौतम ने लिखा है कि विधवा स्त्री पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से सजातीय पुरुष के साथ नियोग कर सकती थी। ऐसे नियोग से उत्पन्न संतान को क्षेत्रज कहा जाता था। कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्री अपने पति को तथा पति अपनी स्त्री का तलाक दे सकता था और वैवाहिक संबंधविच्छेद कर सकता था। वशिष्ठ के अनुसार पति के उन्मत्त या पतित होने पर स्त्री उसे त्याग कर सकती थी। बौधायन ने लिखा है कि बाँझ स्त्री से दसवें वर्ष, केवल कन्या पैदा करने वाली स्त्री से बारहवें वर्ष और संतान जीवित न रहने वाली स्त्री से पंद्रह्वें वर्ष पति अपना संबंधविच्छेद कर सकता था। लड़ाकू पत्नी का भी परित्याग किया जा सकता था।

2.1.5 सूत्रयुगीन आर्थिक पर्यावरण

21.5.1 निवास-गृह

साधारण लोगों के लिए, धनी और निर्धन सभी के लिए निवास-गृह की व्यवस्था थी। गृह-निर्माण एक कला समझी जाने लगी थी। गृह-निर्माण के लिए एक विशेष ज्ञान और बुद्धि-विवेक का प्रसार हो गया था। गृह के लिए विशेष रूप से भूमि का चयन होता था। गृह कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के बनते थे। उनमें शुद्ध ताजे प्रकाश और जल की व्यवस्था की जाती थी। दरवाजे और खिड़कियों की समुचित व्यवस्था होती थी।

2.1.5.2 नगर और गाँव

यद्यपि ग्रामों की संख्या अधिक थी, परंतु सूत्रकारों ने जिस समृद्ध, जटिल, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का वर्णन किया है, उससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज सुखी और संपन्न था और लोग नगरों में भी रहते थे। नगरों का जीवन वैभवशाली और संपन्न था।

2.1.5.3 कृषि

जन साधारण का प्रमुख व्यवसाय कृषि था। जौ और चावल की खेती प्रधानतः होती थी। कृषि की प्रणाली लगभग प्राचीन ही रही। बैलों द्वारा इन पर हल चलाये जाने, खेती करने, बंजर भूमि को छोड़ने और मन्त्रोच्चारण करके खेती को कार्य करने के हवाले सूत्र-ग्रंथों में हैं।

2.1.5.4 पशु-पालन

कृषि के साथ-साथ पशु-पालन भी लोकप्रिय व्यवसाय था। पशु-पालन भी जीविकोपार्जन का एक प्रमुख साधन था। विभिन्न प्रकार के पशु पाले जाते थे, जैसे, भेड़, बकरी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट आदि। परंतु गाय व बैल अधिक संख्या में पाले जाते थे। समाज में गाय की प्रतिष्ठा बढ रही थी। उनके प्रति लोगों की श्रद्धा में वृद्धि हो गयी थी। पशु ही संपत्ति माने जाते थे। जिसके पास जितनी ही अधिक कृषि योग्य भूमि और पालतू पशु होते थे, वह उतना ही धन-संपन्न व्यक्ति समझा जाता था।

2.1.5.5 उद्योग-व्यवसाय

विभिन्न प्रकार के उद्योग-व्यवसाय प्रचलित थे। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों की बुनाई का व्यवसाय, मिट्टी के बर्तन बनाने का व्यवसाय, लकड़ी की विविध वस्तुएँ बनाने का धन्धा, वस्त्रों की रंगाई, धुलाई, सिलाई के व्यवसाय, कुशन, चटाई, टोकरियाँ आदि बनाने का व्यवसाय, स्वर्णकार आदि के व्यवसाय, अधिक प्रचलित थे। विभिन्न प्रकार की धातुओं का ज्ञान इस युग में था। धातुकार और लुहार का व्यवसाय भी था। दैनिक जीवन के व्यवहार में आने वाली अनेक वस्तुएँ धातुओं की बनायी जाती थीं। सूत्र-ग्रंथों में स्वर्ण, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, काँसा तथा अंय धातुओं का खूब उल्लेख हैं। इससे प्रतीत होता है कि घरेलू सामान व दैनिक जीवन की कई वस्तुओं के बनाने में इन धातुओं का उपयोग किया जाता था।

2.1.5.6 वाणिज्य तथा व्यापार

वैश्य वर्ग के लोग वाणिज्य और व्यापार करते थे। अपने व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त करने के लिए ये लोग "पाण्ड्य सिद्धि" नामक एक प्रकार का यज्ञ या हवन करते थे। सामुद्रिक व्यापार विशेष रूप से नहीं होता था, क्योंकि बड़े बंदरगाहों तथा सामुद्रिक व्यापार-व्यवसाय के हवाले सूत्र-ग्रंथों में नहीं हैं। छोटी-छोटी नावों के उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि नदियों और नावों द्वारा व्यापारिक माल लाया और भेजा जाता होगा। व्यापार के लिए मुद्राओं और नापतौल के बाँटों का प्रयोग होता था। पाणिनि ने निष्क, शतमान, कार्षापण, माप आदि मुद्राओं का उल्लेख किया है। आधक, पत्र, आचीत, द्रोण आदि बाँटों के हवाले भी उपलब्ध होते हैं।

2.1.5.7 यातायात

देश में व्यापारिक मार्ग थे। व्यापारिक नगर परस्पर ऐसे सार्वजनिक मार्ग या सड़क द्वारा जुड़े होते थे। इन पर पुल भी बने होते थे। व्यापारियों और यात्रियों की सुविधा हेतु मार्गों पर विश्राम-स्थल भी बने थे। रथ यातायात का साधन था। गधों, ऊँटों और नावों का प्रयोग होता था।

2.1.6 सूत्रयुगीन धर्म

धार्मिक विकास की दृष्टि से सूत्र युग में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शुंग युग का श्रीगणेश वैदिक धर्म के पुनरोहरण की लहर से और बौद्ध धर्म के विरूद्ध प्रबल प्रतिक्रिया के साथ हुआ, किंतु इस समय वैदिक युग के जिस धर्म को पुनरूज्जीवित करने का प्रयत्न किया जा रहा था, वह दुबारा लौटकर नहीं आ सकता था। बौद्ध धर्म ने जनता के विचारों में जो परिवर्तन किया था उसे मिटाया नहीं जा सकता था। छठी शताब्दी ई. पूर्व में बौद्ध और जैन धर्मो के रूप में पुराने वैदिक धर्म के विरूद्ध जो महान क्रांति हुई थी, उसका प्रभाव हिंदू धर्म पर पड़ना स्वाभाविक था। इन धर्मों के आक्षेपों और चुनौतियों का उत्तर देने के लिए हिंदू धर्म द्वारा अपने सिद्धान्तों और मंतव्यों को श्रृंखलाबद्ध एवं तर्कसंगत रूप दिया गया। विरोधियों के आक्रमणों से रक्षा करने के लिए धर्म एवं दर्शन संबंधी विचारोंको, रामायण और महाभारत में तथा विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया गया। बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उनको अपने धर्म में समाविष्ट करके हिंदू धर्म को सुदृढ़ किया गया। इस समय न केवल वैदिक धर्म को नवीन रूप प्राप्त हुआ, अपितु बौद्ध धर्म को भी महायान संप्रदाय द्वारा एक नवीन रूप प्राप्त हुआ। हिंदू धर्म में भक्ति-प्रधान वैष्णव शैव संप्रदायों का विकास हुआ। सूत्र युग के धार्मिक विकास की सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

2.1.6.1 भक्ति-प्रधान संप्रदायों का अभ्युदय

सूत्र युग की पहली विशेषता भक्ति-प्रधान संप्रदायों का अभ्युदय और प्राबल्य था। वैष्णव और शैव धर्मों में भक्ति और प्रसाद के सिद्धांतों को महत्व दिया गया। भक्ति का आशय अपने आराध्य देवता के प्रति अगाध प्रेम, उपासना और पूर्णरूप से आत्मसमर्पण की भावना है। प्रसाद का तात्पर्य भक्त पर भगवान की अनुकम्पा और कृपा है। दीनवत्सल और दयालु भगवान भक्तों द्वारा नामस्मरण मात्र से ही उनका कल्याण करते हैं और उनके विभिन्न कष्टों का अंत कर देते हैं। वैष्णव और शैव धर्म इसी प्रकार की भक्ति-भावना से ओतप्रोत थे। भक्ति की यह भावना केवल शैव और वैष्णव धर्मों तक ही सीमित नहीं थी, अपितु नास्तिक और निरीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन धर्म भी इस भावना से प्रभावित हुए बिना न रह सके।

2.1.6.2 मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार

सूत्रयुग की दूसरी विशेषता मूर्तिपूजा का व्यापक रूप से प्रसार था। यह भक्तिवाद के अभ्युदय का स्वाभाविक परिणाम था, क्योंकि इसका पूजा का ढंग भिन्न प्रकार का था। वैदिक धर्म यज्ञप्रधान था, उसमें देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा की जाती थी। किंतु भक्तिवाद में भगवान की पूजा उसकी भूर्ति पर फल-फूल, नैवेद्य, धूप, दीप, पत्र, पुष्प से एवं वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि द्वारा की जाती थी। इसे श्रीमतभगवद् गीता में पत्र, पुष्प, फल, तोय वाली पूजा कहा गया है। इससे पहले वैदिक युग में वैदिक देवी-देवताओं की कोई मूर्तियाँ नहीं बनायी जाती थीं, यद्यपि कुछ विद्वानों का यह विचार है कि उस समय कर्मकांड के प्रयोजनों के लिये इंद्र, रूद्र, वायु, वरूण आदि देवताओं की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, तथापि अधिकांश विद्वान् वैदिक युग में मूर्तिपूजा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। इस विषय में उनका यह भी कहना है कि वैदिक साहित्य में दस्युओं की निंदा करते हुए इसका एक कारण उनका लिंग-पूजक होना बताया गया है। अतः उस समय मूर्तिपूजा को घृणा से देखा जाता था। मूर्तिपूजा प्रचलित न होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक यज्ञों के विस्तृत विधि विधान बताये गये हैं, किंतु इनमें मूर्तियों की कोई चर्चा नहीं मिलती है। ऐसा समझा जाता है कि उस समय की वनेचर जातियों में नाना प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा करने की जो परिपाटी थी, उसी से बाद में मूर्तिपूजा का विकास हुआ। तीसरी शताब्दी ई. पूर्व के एक बौद्ध ग्रंथ निद्देस में यह बताया गया है कि उस समय न केवल वासुदेव, बलदेव आदि की, अपितु पूर्णभद्र, आदि यक्षों की पूजा की जाती थी और हाथी, घोड़े, गौ, कुत्ता, कौवे की उपासना करने वाले पशुपूजक भी थे। नागों की पूजा भी प्रचलित थी।

2.1.6.3 बहुदेववाद

सूत्र युग में परब्रह्म के ज्ञान के अतिरिक्त अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। पाणिनि के अष्टाध्यायी से प्रतीत होता है कि सुत्र-युग के आरंभ में वासुदेव नाम के देवता की आराधना प्रमुख थी। वासुदेव का संप्रदाय भी अस्तित्व में था। ऋग्वेद काल के कुछ देवताओं की भी आराधना होती थी, जैसे इंद्र, सूर्य, अग्नि, सोम, रुद्र आदि। इसके अतिरिक्त रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी आदि की भी कल्पना की जा चुकी थी जिससे स्पष्ट होता है कि सूत्र युग में बहुदेववाद प्रचलित था। संभव है अनार्यों की कुछ धार्मिक विचारधाराएँ, प्रथाएँ और विधियाँ भी समाज में प्रचलित रही हों, जैसे यक्ष-पूजा, गन्धर्व-पूजा, राक्षस-पूजा, सर्प-पूजा आदि; क्योंकि पाणिनि के कुछ सूत्रों में इनके संदर्भ प्राप्त होते हैं।

2.1.6.4 शैव संप्रदाय का प्रादुर्भाव

सूत्र युग में वासुदेव के साथसाथ रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी आदि की भी कल्पना की जा चुकी थी जिससे आभास होता है कि सूत्र युग में शैव-संप्रदाय का प्रादुर्भाव हो चुका था। देवी-देवताओं की पूजा हेतु मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गयी थीं। इनके लिए व्यक्तिगत और सार्वजनिक देवालय थे।

2.1.6.5 यज्ञ-कर्म

पाणिनि के सूत्र से इसका आभास होता है कि देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त यज्ञ, बलि तथा अंय धार्मिक क्रियाएँ, विधियाँ आदि भी प्रचलित थीं। यज्ञमानों द्वारा विविध प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। इनसे शुभ परिणामों की अपेक्षा की जाती थी। लोगो में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना थी।

2.1.6.6 कर्मफल का सिद्धांत

सूत्र युग में कर्मफल का सिद्धांत सर्वमान्य था। अतः इस युग में मान्यता थी कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। इसीलिए निवृत्ति मार्ग भी समाज में प्रचलित था। संसार त्याग कर लोग आत्मचिंतन एवं परब्रह्म की प्राप्ति के लिए तप करते थे। वान्प्रस्थ और संन्यास आश्रमों बड़ा महत्व था। तपस्वी और भिक्षु लोग भी होते थे। कुछ भिक्षु दंड भी धारण करते थे। विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-उपासना से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान और तप-मार्ग के साथ-साथ शक्ति-मार्ग भी प्रचलित था। वासुदेव संप्रदाय और अर्जुन संप्रदाय इसके द्योतक हैं। अर्जुन संप्रदाय में वे लोग थे जो वासुदेव के मित्र अर्जुन की आराधना और पूजा करते थे।

2.1.6.7 प्रतिमाओं में यूनानी कला का प्रभाव

सूत्रयुग में न केवल हिंदू धर्म में अपितु बौद्ध धर्म में भी मूर्ति पूजा का श्रीगणेश हुआ। आरंभ में बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं बनायी जाती थी। इस युग में सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने की पद्धति का श्रीगणेश करने का श्रेय गंधार प्रदेश के यूनानी कलाकारों को दिया जाता था और यह माना जाता था कि भारतीयों ने मूर्तियाँ बनाने की कला यूनानियों से सीखी, किंतु अब यह माना जाता है कि बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने की पद्धति का गंधार तथा मथुरा में सर्वथा स्वतंत्र रीति से एक साथ विकास हुआ।

2.1.6.8 वैदिक धर्म का नया रूप

सूत्रयुग की अंतिम विशेषता वैदिक धर्म को एक नया रूप दिया जाना था। इस युग में यद्यपि वैदिक युग की पुनः स्थापना का प्रयत्न हुआ किंतु इस युग का सुधार आंदोलन बौद्ध धर्म की प्रमुख प्रवृत्तियों को अपनाये हुए था। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिये था तो वैदिक धर्म का नया रूप उससे भी बढ़कर जनता की वस्तु बना।

2.1.7 सारांश

उत्तरवैदिक युग के बाद आर्यों का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन अत्याधिक जटिल होता जा रहा था। वर्ण व्यवस्था संबंधी नियम समाज में लगातार कठोर होते जा रहे थे तथा कर्मकाण्डों में लगातार वृद्धि होती जा रही थी। वे ग्रंथ जिनमें विधि-विधान एकत्र कर परस्पर जोड़ दिये गये हैं सूत्र ग्रंथ कहलाते हैं। उपनिषदों के बाद सूत्र-ग्रंथ आर्यों के साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग है। सूत्र-ग्रंथ से समाज के समस्त धार्मिक एवं सामाजिक नियम-उपनियम और विधि-निषेधों को छोटे-छोटे सुंदर वाक्यों में संगठित करके लिखा गया। इन ग्रंथों की विशेषता यह थी कि कम से कम सूत्रों या वाक्यों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त किये जायें। वेदों की ऋचाओं में व्यवस्थित अध्ययन हेतु छह वेदांगों की रचना हुई - व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त (शब्द-विज्ञान), छन्दस और ज्योतिष। इनमें जिस कल्प का वर्णन हैं उसके अंतर्गत सूत्र ग्रंथ है। यह तीन भागों मे विभाजित है - (1) श्रौत-सूत्र, (2) गृह्य-सूत्र और (3) धर्म-सूत्र। सामाजिक दशा - सूत्र ग्रंथों ने तत्कालीन समाज को व्यवस्थित व सुसंगठित किया। गृह्य-सूत्र ने मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के जीवन के समस्त कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया। 1परिवार 2 वर्ण-व्यवस्था 3 आश्रम व्यवस्था 4 संस्कार 5 आहार और वेशभूषा 6 स्वच्छता 7 नैतिकता और शिष्टाचार 8 शिक्षा 9 नारी की स्थिति 10 विवाह संस्कार। आर्थिक दशा - 1 निवास-गृह 2 नगर और गाँव 3 कृषि 4 पशु-पालन 5 उद्योग- व्यवसाय 6 वाणिज्य तथा व्यापार 7 यातायात। धार्मिक दशा - सूत्रयुग में न केवल वैदिक धर्म को नवीन रूप प्राप्त हुआ, अपितु बौद्ध धर्म को भी महायान संप्रदाय द्वारा एक नवीन रूप प्राप्त हुआ। हिंदू धर्म में भक्ति-प्रधान वैष्णव शैव संप्रदायों का विकास हुआ। सूत्रयुगीन धर्म की विशेषतायें - 1 भक्ति-प्रधान

संप्रदायों का अभ्युदय 2 मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार 3 बहुदेववाद 4 शैव संप्रदाय का प्रादुर्भाव 5 यज्ञ कर्म 6 कर्मफल का सिद्धांत 7 प्रतिमाओं में यूनानी कला का प्रभाव 8 वैदिक धर्म का नया रूप

2.1.8 बोध प्रश्न

2.1.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वेदांग से आप क्या समझते हैं?
2. श्रौत सूत्र, ग्रह सूत्र, एवं धर्म सूत्र पर टिप्पणी लिखिए?
3. सूत्र ग्रंथो का सांस्कृतिक महत्व क्या है?
4. आश्रम व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए?
5. सूत्र साहित्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए?
6. सूत्रकालीन आहार और वेशभूषा पर प्रकाश डालिए?
7. सूत्रकालीन शिक्षण व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए?
8. सूत्रकालीन निवासगृह, नगर और गाँव की व्यवस्था पर प्रकाश डालिये।
9. सूत्रकालीन बहुदेववाद से आप क्या समझते हैं?
10. सूत्रकाल में नारी की स्थिति स्पष्ट कीजिये।

2.1.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सूत्र ग्रंथो पर विस्तार से प्रकाशडालिये।
2. सूत्रकालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिये।
3. सूत्रयुगीन वर्णाश्रम व्यवस्था का साविस्तार वर्णन कीजिये।
4. विवाह को परिभाषित कर उसके प्रकारों का वर्णन कीजिये।
5. सूत्रकालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिये।
6. सूत्रकालीन धार्मिक स्थिति की विवेचना कीजिये।
7. सूत्रकालीन आश्रम व्यवस्था, संस्कार, शिक्षा की विवेचना कीजिये।
8. सूत्र काल में कृषि, पशु-पालन, उद्योग तथा व्यापार पर प्रकाश डालिये।
9. सूत्रकालीन आर्थिक स्थिति की विवेचना कीजिये।
10. सूत्रकालीन धर्म की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

2.1.9 संदर्भ ग्रंथ

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल.पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी.एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993

10. शर्मा, घनश्याम दत्त : मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, जयपुर 1994
11. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
12. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
13. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
14. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
15. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का साँस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
16. लूनिया, बी.एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
17. लूनिया, बी.एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989

खंड - 2 धर्म एवं संस्कृति

इकाई 2 - स्मृतियुगीन धर्म एवं संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

2.2.1 उद्देश्य

2.2.2 प्रस्तावना

2.2.3 स्मृति-ग्रंथ (धर्मशास्त्र)

2.2.3.1 मनुस्मृति

2.2.3.2 याज्ञवल्क्यस्मृति

2.2.3.3 पराशरस्मृति

2.2.3.4 नारदस्मृति

2.2.3.5 बृहस्पतिस्मृति

2.2.3.6 टीकाएँ

2.2.3.7 स्मृति-ग्रंथों का रचना-काल

2.2.3.8 स्मृति-ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व

2.2.4 स्मृति युगीन समाज

2.2.4.1 आर्य और अनार्य

2.2.4.2 चतुर्वर्ण व्यवस्था

2.2.4.3 आश्रम प्रणाली

2.2.4.4 नारी की स्थिति

2.2.4.5 आचार-विचार की श्रेष्ठता

2.2.4.6 जति-प्रथा की नींव

2.2.5 जाति

2.2.5.1 वर्ण और जाति में भेद

2.2.5.2 जाति-प्रथा की उत्पत्ति

2.2.5.3 श्रम-विभाजन

2.2.5.4 जाति-प्रथा का विकास

2.2.6 स्मृति युगीन धर्म

2.2.6.1 वैदिकोत्तर धर्म

2.2.6.2 वैष्णव संप्रदाय

2.2.6.3 शैव संप्रदाय

2.2.6.4 शाक्त संप्रदाय

2.2.6.5 गणपति संप्रदाय

2.2.6.6 कार्तिकेय संप्रदाय

2.2.6.7 सौर संप्रदाय

2.2.6.8 अंय देवता

2.2.7 सारांश

2.2.8 बोध प्रश्न

2.2.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
2.2.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.2.1 उद्देश्य

स्मृति-ग्रंथ या धर्मशास्त्र आर्यों के कानून के प्राचीन ग्रंथ हैं। इनमें मनु द्वारा रचित मानव धर्मशास्त्र सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मानव धर्मशास्त्र को मनुस्मृति भी कहते हैं। इसमें लगभग 2700 श्लोक हैं। मनु ही आर्यों का सर्वश्रेष्ठ विधायक माना गया है। उसका ग्रंथ मनुस्मृति आर्य विधि-विधानों की आधारशिला है। मनु ने अपने ग्रंथ में अत्रि, गौतम, शौणिक, वशिष्ठ आदि के धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनु के पहले अंय कानून के ग्रंथ और थे, परंतु वे अपने स्वतंत्र और मौलिक रूप में आज उपलब्ध नहीं हैं। मनु के पश्चात याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद और विष्णु नामक कानून के विद्वान आचार्यों ने भी अपने-अपने कानून के ग्रंथ लिखे। इन्हें याज्ञवल्क्य-स्मृति, बृहस्पति-स्मृति, नारद-स्मृति और विष्णु-स्मृति कहते हैं। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य स्मृति युगीन धर्म एवं संस्कृति पर विस्तार से प्रकाश डालना है।

2.2.2 प्रस्तावना

धर्म-सूत्रों के अंतर्गत धर्मशास्त्र संबंधी साहित्य में स्मृतियाँ तथा संग्रह-ग्रंथ हैं। उत्तर वैदिक काल में लिखे गये संग्रह-ग्रंथों में संपूर्ण धार्मिक व्यवस्था दी गई है। विष्णु-स्मृति गद्य में हैं परंतु शेष स्मृति-ग्रंथ पद्य में हैं। विष्णु-स्मृति में लगभग 160 श्लोक मनुस्मृति से लिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि विष्णु-स्मृति मनुस्मृति के पश्चात् लिखी गयी होगी। कालांतर में इन स्मृति-ग्रंथों में समय-समय पर और भी विधि-विधान जोड़ दिये गये। प्रस्तुत इकाई में स्मृति युगीन संस्कृति एवं धर्म की स्थिति की विस्तार से विवेचना की जाना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जाना प्रस्तावित है।

2.2.3 स्मृति-ग्रंथ (धर्मशास्त्र)

स्मृति-ग्रंथों में आर्यों की प्राचीन, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था संबंधी कानूनों का विवेचन है। मुख्य स्मृतियाँ और ग्रंथ इस प्रकार हैं -

2.2.3.1 मनुस्मृति

स्मृति-ग्रंथों की संख्या विभिन्न रूप से मिलती है। प्राचीन ग्रंथों के अवलोकन से 100 से अधिक स्मृतियों के नाम मिल जाते हैं, परंतु विश्वसनीय स्मृतियाँ कम ही हैं।

स्मृति-ग्रंथों में 'मनुस्मृति' सबसे महत्वपूर्ण है। 'मनुस्मृति' का वर्तमान रूप ई. पू. चतुर्थ शताब्दी में आ गया था। 'उपलब्ध' मनुस्मृति में 12 अध्याय और 2694 श्लोक हैं। इसमें लोक-जीवन से संबंधित सभी पक्षों पर विचार हुआ है। इस ग्रंथ पर मेधातिथि गोविंदराज और कुल्लूक भट्ट की टीकाएँ प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं।

2.2.3.2 याज्ञवल्क्यस्मृति

'याज्ञवल्क्य स्मृति' के रचयिता याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, परंतु यह स्मृति 'मनुस्मृति' से भी बहुत बाद की है। यह तीन भागों में विभाजित है और इसमें 1010 श्लोक हैं। इसका दायभाग-प्रकरण अधिक मान्य हुआ था। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं उनमें विश्वरुप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि मुख्य हैं।

2.2.3.3 पराशरस्मृति

इस स्मृति को पराशर मुनि के नाम से जाना जाता है। इसमें 12 अध्याय और 593 श्लोक हैं। टीकाकार माधव ने व्यवहार-संबंधी अंश बाद में जोड़ा है।

2.2.3.4 नारदस्मृति

'नारद स्मृति' को नारद के नाम से जाना जाता है। इसके लघु तथा बृहद् दो संस्करण मिलते हैं। इसकी रचना प्रथम शताब्दी ई. में हुई थी। बृहद् 'नारदस्मृति' में 18 अध्याय और 1028 श्लोक हैं। इन पर असहाय की महत्वपूर्ण टीका है।

इसका कल्याण भट्ट ने संशोधन किया था।

2.2.3.5 बृहस्पतिस्मृति- वृहस्पति स्मृति

'बृहस्पति स्मृति' की रचना चतुर्थ शताब्दी ई. में संभावित है। संपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है। 719 श्लोकों को एकत्र करके डॉ. जाली ने इसे संपादित किया था। इन पर 'मनुस्मृति' का बहुत प्रभाव है।

इन स्मृतियों के अतिरिक्त कात्यायन, अंगिरा, ऋष्यश्रृंग, दक्ष, पितामह, पुलस्त्य, प्रचेता, प्रजापति, मरीचि, यम, लौगाक्षि, विश्वामित्र, व्यास, संवर्त, हारीत आदि ऋषियों द्वारा रचित स्मृतियों के उद्धरण अंय धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में पाये जाते हैं।

2.2.3.6 टीकाएँ

धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों पर अनेक विद्वानों ने प्राचीन समय में टीकाएँ लिखी थीं। इनमें सहाय, भर्तृयज्ञ, विश्वरुप, भरुचि, श्रीकर, मेधातिथि, भोज, विज्ञानेश्वर, हलायुध, गोविंदराज, अपरार्क, हरदत्त, कुल्लूकभट्ट और बालकृष्ण के नाम उल्लेखनीय हैं।

2.2.3.7 स्मृति-ग्रंथों का रचना-काल

स्मृति-ग्रंथों के रचना काल के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। मनुस्मृति सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण कानून ग्रंथ माना गया है। संभवत: यह ग्रंथ ईसा पूर्व तीसरी अथवा चौथी सदी में लिखा गया। विद्वानों का मत है कि मोटे रूप से इन स्मृति-ग्रंथों की रचना तीसरी सदी ईस्वी पूर्व से लेकर पाँचवीं सदी तक हुई।

2.2.3.8 स्मृति-ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व

सभी स्मृति-ग्रंथों में व्यक्ति, समाज, वर्ण, जाति, धर्म, राजा के कर्तव्य, राजा-प्रजा के संबंध, न्याय-विधान आदि पर नियम और उपनियम एवं निषेध आदि का विवेचन है। इनमें सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं और रूढ़ियों का विवरण है। इनमें साधारण दीवानी और फौजदारी दंड-विधान का निरूपण है। इनमें तत्कालीन सामाजिक आचार-विचार, व्यवहार, सामाजिक एवं राजनीतिक संबंधों एवं संपत्ति के सिद्धांतों तथा नियमों आदि का दिग्दर्शन है। इन ग्रंथों में नियम, उपनियम, विधि-विधान, निषेधों आदि से तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंगों का सुंदर समन्वय किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में

विश्रंखलता उत्पन्न हो गयी थी और उसे दूर कर समाज को नयी परंपराओं और विचारधाराओं के आधार पर संगठित और व्यवस्थित किया गया। इससे वेदोत्तर साहित्य में स्मृति-ग्रंथों का बड़ा महत्व है।

स्मृति कालीन संस्कृति

आर्य क्षेत्र का विस्तार

स्मृति ग्रंथों में आर्यों के देश का वर्णन उपलब्ध होता है। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश और आर्यावर्त का उल्लेख है। उत्तरी भारत में चार भाग उल्लिखित हैं। ब्रह्मावर्त प्रदेश, सरस्वती नदी और दृशद्वती नदी के बीच में था। आधुनिक पंजाब और उत्तर प्रदेश का अवध, रुहेलखंड का भाग ब्रह्मर्षि देश कहलाता था। इसमें कुरुक्षेत्र, पांचाल, मत्स्य और शूरसेन नामक आर्यों के राज्य थे। सरस्वती नदी तथा प्रयाग के बीच के क्षेत्र को मध्य-देश कहा जाता था। लगभग समस्त उत्तरी भारत को विंध्याचल और हिमाचल के बीच के प्रदेश को आर्यावर्त माना जाता था। आर्य संस्कृति का यह विस्तृत क्षेत्र था। परंतु विष्णु-स्मृति में आर्यावर्त का क्षेत्र अधिक व्यापक माना गया। उसमें लगभग समस्त भारत-वर्ष सम्मिलित कर लिया गया। इससे आभास होता है कि विष्णु-स्मृति के रचना-काल में आर्य संस्कृति का प्रसार दक्षिण भारत में हो गया था।

2.2.4 स्मृति युगीन समाज

2.2.4.1 आर्य और अनार्य

मनुस्मृति के अनुसार समाज में दो मोटे भाग थे, प्रथम आर्य लोग दूसरे अनार्य लोग। आर्य नगरों और ग्रामों में निवास करते थे, पर अनार्य प्रायः बस्तियों से बाहर रहते थे। उनमें से कई एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपना सब सामान साथ लिये भ्रमण करते थे। इनका जीवन भ्रमणशील और अस्थायी था। वे अपने साथ गधे और कुत्ते भी रखते थे। ये सुसंस्कृत नहीं होते थे। कुछ अनार्य पहाड़ों और वनों की उपत्यकाओं में भी रहते थे। जो अनार्य गाँवों या नगरों में रहते थे उन्हें म्लेच्छ या दस्यु कहा जाता था। इसमें कुछ चांडाल और नीच कर्म करने वाले लोग भी सम्मिलित थे। इनमें से कतिपय शमशान के निकट भी करते थे। शवों को उठाने, लाने, ले जाने में वे सहायता करते थे। सफाई के कार्य भी वे करते थे। आर्य समृद्ध और संपन्न होते थे। जीवन के सभी क्षेत्रों में वे सर्वोपरि थे, समाज में उनका बोलबाला था। अनार्यों को वे हीन दृष्टि से देखते थे।

2.2.4.2 चतुर्वर्ण व्यवस्था

आर्यों के समाज का मूल आधार चतुर्वर्ण-व्यवस्था थी। समाज में चार वर्ण थे - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सभी स्मृति ग्रंथों में इस चतुर्वर्ण-व्यवस्था का विस्तृत रूप से विवेचन है। प्रत्येक वर्ण के अधिकार, कर्तव्य, नियम, निषेध, विधि-विधान आदि स्मृतियों में प्रतिपादित किये गये हैं। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। मनुस्मृति में उनके छः प्रमुख कार्य बताये गये हैं, जैसे वे स्वयं यज्ञ करना तथा अंय व्यक्तियों से करवाना, अध्ययन-अध्यापन, दान लेना एवं देना आदि। राज्य और समाज में ब्राह्मण सम्माननीय पदों पर रहते थे। वे पुरोहित, राजमंत्री, आचार्य, अध्यापक, न्यायाधीश, निर्धारक, निर्णायक, आमात्य आदि होते थे। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों की उन शालाओं और आश्रमों का उल्लेख किया है जहाँ ब्राह्मण वेदों के अध्ययन और अध्यापन कार्य में संलग्न रहते थे। ब्राह्मणों से ऐसी आशा की जाती थी कि उनका जीवन सादा, सरल, सच्चरित्र, संयमी और श्रेष्ठ होगा। वे प्रकांड विद्वान होंगे और

अध्यात्मिकता के विषयों में प्रवीण होंगे। समयानुकूल वे सन्यासी जीवन भी व्यतीत करेंगे। उनकी इसी श्रेष्ठता और आध्यात्मिकता के कारण ही मनु ने उन्हें करमुक्त कर प्राणदंड से मुक्त किया है।

ब्राह्मणों से नीचे क्षत्रिय वर्ण के लोग थे। स्मृतियों में इनके विविध कर्तव्य बताये गये हैं, जैसे यज्ञ और अनुष्ठान करवाना, धार्मिक ग्रंथों और शास्त्रों का अध्ययन करना, अपने ज्ञान और बुद्धि-विवेक की वृद्धि करना, प्रशासन करना, शांति और व्यवस्था बनाये रखना, प्रजा की रक्षा करना, शौर्य और साहस से युद्ध करके देश और राज्य की रक्षा करना एवं सत्य और धर्म की रक्षा करना आदि। क्षत्रियों से नीचे वैश्य वर्ण के लोग थे। वैश्य वर्ण समाज का सबसे बड़ा अंग था। समाज में बहुसंख्यक लोग वैश्य थे। स्मृतियों में उनके अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख है। उनके प्रमुख कर्तव्य थे - कृषि करना और पशु-पालना, यज्ञ, हवन तथा अंय धार्मिक कार्य करना, आयात और निर्यात करना, व्यापार-वाणिज्य करना, विविध व्यवसायों, उद्योगों और धंधों को करना, साझेदारी से व्यापार करना तथा अंय व्यवसाय करना, ब्याज पर ऋण देना, समयानुकूल व्यापार हेतु समुद्री यात्राएँ करना आदि। वे देश और राज्य की धन-संपन्नता और समृद्धि की वृद्धि करने में योग देते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में भी जातियाँ थीं। उनके भी कर्तव्य और अधिकार थे। इन तीनों वर्णों के लोग द्विज कहलाते थे। चैथे वर्ण में शूद्र थे। इस वर्ण में आर्य और अनार्य दोनों का ही संमिश्रण था। समाज में शूद्र लोग भी बहुसंख्यक थे। इसमें कुछ दास लोग भी थे। दासों या दस्युओं की भी विविध श्रेणियाँ थीं। मनुस्मृति में दासों की सात श्रेणियों का उल्लेख है, पर नारद-स्मृति में पंद्रह श्रेणियों का। दास विविध प्रकार से बनाये जाते थे, जैसे ऋण की धन-राशि न देने पर बनाये गये दास, युद्ध बंदी में जो दास बनाये जाते थे, क्रय-विक्रय में प्राप्त दास, वसीयत में प्राप्त कुलागत दास आदि। दासों को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था। दासों और शूद्रों का प्रमुख कार्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करना, निम्न स्तर के माने जाने वाले धंदे करना, ग्रामों और नगरों में स्वच्छता और सफाई के कार्य करना आदि। पर-पुरुष गमन, अनुपयुक्त स्त्रियों से विवाह, प्रतिलोम और अनुलोम विवाह के कारण जो वर्णसंकर उत्पन्न हो गये थे, उन्हें भी शूद्रों के वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया था। समाज में वर्णसंकरों का एक अलग ही समुदाय बन गया था। हीन धंधों को करने वाले शूद्रों में म्लेच्छ, श्वपच और अंत्यज कहा जाता था। ये अछूत से थे। स्मृति में उल्लेख है कि उच्च वर्ग के लोगों को म्लेच्छों और अन्त्यजों से परस्पर वार्तालाप करने का निषेध था। रात्रि के समय ऐसे शूद्र व्यक्ति ग्रामों या नगरों में नहीं आते थे। उन पर नियंत्रण था। उनकी वेश-भूषा और आने-जाने पर भी बंधन थे। शूद्रों को वेदों और धर्म-शास्त्रों के अध्ययन की आज्ञा नहीं थी। वे सभी संस्कार भी नहीं कर सकते थे, पर श्राद्ध कर सकते थे।

2.2.4.3 आश्रम प्रणाली

चतुर्वर्ण से संबंधित आश्रम-प्रणाली भी थी। इन दोनों के वर्णाश्रम धर्म कहा जाता था। लोगों का समस्त जीवन इस वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। समाज का संगठन वर्णाश्रम के सिद्धांतों पर किया गया था। द्विजों को ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम की प्रथा और प्रत्येक आश्रम के विधि-विधान का सविस्तृत विश्लेषण स्मृति-ग्रंथों में है। ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि केवल विद्याध्ययन तथा चरित्र-निर्माण के लिए मानी गयी थी। मनु के उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारंभ बताया है। उपनयन संस्कार की आठ वर्ष, क्षत्रियों के लिए ग्यारह वर्ष और वैश्यों के लिए बारह वर्ष की आयु मानी गयी।

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम था। इस काल में विवाह करके पारिवारिक जीवन व्यतीत किया जाता था। गृहस्थ के विविध कर्तव्यों और अधिकारों का भी विस्तृत विवेचन स्मृति-ग्रंथों में हैं। गृहस्थ को संतानोत्पत्ति, अतिथि-सत्कार, यज्ञ, हवन, अनुष्ठान, विविध संस्कार, धार्मिक और सामाजिक

क्रिया-विधियाँ आदि कार्य करने पड़ते थे। गृहस्थाश्रम को त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम और बाद में सन्यास आश्रम अपनाना पड़ता था। सन्यास आश्रम परब्रह्म और सत्य की खोज के लिए था। उसमें रहकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास किये जाते थे। मनु ने शूद्रों के लिए सन्यास आश्रम का निषेध किया है, परंतु विष्णु-स्मृति में "काल्पनिक" और शूद्र सन्यासियों का उल्लेख है।

2.2.4.4 नारी की स्थिति

विभिन्न स्मृति-ग्रंथों में स्त्रियों के कर्तव्यों और अधिकारों के विषय में विविध मत प्रतिपादित किये गये है। मनु ने समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठित स्थान नहीं दिया। उन्होंने वैदिक युग में प्रचलित स्त्रियों की स्वतंत्रता पर नियंत्रण और बंधन लगा दिये। उन्होंने स्त्रियों की परतंत्रता का समर्थन किया। उनका मत है कि विवाह से पूर्व कुमारी अवस्था में स्त्री की रक्षा पिता या भाई करता है, उन पर स्त्री आश्रित रहती है, यौवनावस्था में विवाह के पश्चात् वह पति के नियंत्रण और रक्षा में रहती है और पति की मृत्यु के बाद वह अपने पुत्रों पर आश्रित रहती है, वे ही उसकी रक्षा करते हैं। स्त्री की स्वतंत्रता में कमी करने के साथ-साथ मनु ने स्त्री को दुर्गुण वाली बताया। उनका कथन है कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही मनुष्यों को बुरी आदतों में संलग्न कर देती हैं। उनके विचारों में स्त्रियों में स्थिरता और दृढता का अभाव होने से उन पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता और वे साक्ष्य देने के योग्य नहीं है। परंतु अंय स्मृतिकारों ने स्त्रियों के सामाजिक स्तर को इतना नहीं गिराया। विवाह के संबंधमें विभिन्न स्मृतिकारों में मतभेद हैं। मनुस्मृति में बाल-विवाह का समर्थन किया गया है। आठ से बारह वर्ष की अवस्था में कन्या का विवाह करना मनु ने उचित बताया। विवाह के समय वर-वधू की आयु कितनी होनी चाहिए इस ओर भी मनु ने संकेत किया। कन्या की आयु से वर की दूनी या इससे भी थोड़ी अधिक आयु को मनु ने मान्यता दी। कुछ पिता विवाह के समय कन्यादान के बदले में वर-पक्ष से धन लेते थे। इस प्रकार कन्या का विक्रय होता था। मनु ने कहीं-कहीं कन्या के विक्रय का समर्थन किया है तो अंयत्र उन्होंने उसका विरोध भी किया है। मनुस्मृति में यह भी लिखा है कि "एक दास को भी अपनी कन्या के लिए मूल्य नहीं लेना चाहिए।" इससे प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में कुछ लोग वर-पक्ष से धन लेकर कन्याओं का विवाह करते थे। स्मृतिकारों ने स्त्री के पातिव्रत्य धर्म और सतीत्व का अधिक महत्व बताया। स्त्री से श्रेष्ठ आदर्श, नैतिकता और पातिव्रत्य धर्म की अपेक्षा की जाती थी। पथभ्रष्ट और व्याभिचारिणी स्त्री के लिए मृत्यु-दंड की व्यवस्था मानी गयी थी। विधवा विवाह और नियोग के विषयों में भी स्मृतिकारों में मतभेद हैं। मनुस्मृति में विधवा विवाह और नियोग प्रथा दोनों का समर्थन नहीं किया गया। नियोग प्रथा से तात्पर्य है कि विधवा-स्त्री पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ और यदि देवर न हो तो सगोत्र या सजातीय पुरुष के साथ संबंधस्थापित कर सकती है। पति के नपुंसक या असाध्य रोगी होने पर भी स्त्री पुत्र-प्राप्ति के लिए नियोग कर सकती है, परंतु नारद और याज्ञवल्क्य स्मृति में विधवा-विवाह और नियोग दोनों का समर्थन किया गया है। मनु ने ब्राह्मण को शूद्र की कन्या से विवाह करने की अनुमति दे दी , पर याज्ञवल्क्य ने ऐसे विवाह को ठीक नहीं माना है। यद्यपि स्मृतियों में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर नियंत्रणों का अनुमोदन किया गया है, परंतु उनके मुख पर अवगुण्ठन या पर्दा प्रथा का कहीं पर समर्थन नहीं किया गया है। सती प्रथा का भी विस्तृत विवेचन नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि समाज में सती प्रथा और पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं था। स्त्रियों के अधिकारों के विषय में भी स्मृतिकारों में मतभेद हैं। मनुस्मृति में स्त्री को संपत्ति रखने या उसका क्रय-विक्रय करने का अधिकार नहीं दिया गया है। मनु स्त्री को केवल उस संपत्ति की अधिकारिणी मानते हैं जो उसे विवाह के समय प्राप्त हुई हो। इसे स्त्री-धन कहा गया है। मनु ने विधवाओं के संपत्ति अधिकार को नहीं माना, परंतु याज्ञवल्क्य ने विधवाओं के अधिकारों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य का मत है कि स्त्री

अपने पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है। विभिन्न स्मृतियों में वर्णित स्त्रियों के अधिकारों, कर्तव्यों और दशाओं का अवलोकन करने से ¬प्रतीत होता है कि स्मृतियों के युग में स्त्रियों की दशा वैदिका काल की अपेक्षा अच्छी नहीं थी। वैदिक काल के समाज में स्त्रियों के जो समान अधिकार थे, उन्हें जो स्वतंत्रता थी, समाज में उनकी जो प्रतिष्ठा थी वह स्मृतियों के काल में कम हो गयी थी। उनकी दशा संतोषप्रद नहीं थी।

2.2.4.5 आचार-विचार की श्रेष्ठता

इस युग में जीवन का आदर्श सदाचार माना गया था। वशिष्ठ धर्मसूत्र (6-2-6) में कहा गया है कि यदि मानव का आचार-विचार ठीक न हो तो उसे स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि भी पतन से नहीं बचा सकते। वशिष्ठ ने आचार-विचार की उच्च प्रतिष्ठा का समर्थन किया। उनके मतानुसार चारों आश्रमों के व्यक्तियों को ईर्ष्या, द्वेष, निंदा, गर्व, अहं भाव, कुटिलता, आत्मप्रशंसा, लोभ, प्रवंचना, मोह, क्रोध, द्रोह आदि त्यागना चाहिए, दूरदर्शी बनना चाहिए, सर्वोच्च पद की ओर लक्ष्य रखना चाहिए, इधर-उधर नहीं। बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि सदाचार के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति संभव है। यदि पुरुष उदार हो, उसका हृदय कोमल हो और उसमें आर्जव की आशा हो तो वह जहाँ रहता है, वहाँ स्वर्ग है।

2.2.4.6 जति-प्रथा की नींव

रामायण और महाभारत तथा स्मृति-ग्रंथों की सामग्री से आभास होता है कि स्मृति काल में नवीन सामाजिक और धार्मिक विश्वासों और संस्थाओं की नींव रख दी गयी थी। जाति-प्रथा भी इनमें से एक थी। भारतीय इतिहास और संस्कृति में जाति-प्रथा का बड़ा हाथ रहा है।

2.2.5 जाति

हिंदुओं की जाति-प्रथा का वर्तमान रूप उत्तर-वैदिक काल और महाकाव्यों के काल में विकसित हुआ है, अतएव जाति-प्रथा 2500 वर्ष से भी अधिक प्राचीनतम है। कालांतर में यह प्रथा अधिक जटिल हो गयी और इसने हिंदू समाज को तीन हजार से अधिक जातियों और उप-जातियों के टुकड़ों में विभक्त कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ के मतानुसार जाति उन परिवारों का एक समूह है जो धार्मिक क्रिया-विधि की विशुद्धता को विशेष करने खान-पान और वैवाहिक संबंध की पवित्रता के विशिष्ट नियमों को पालन से परस्पर संगठित हैं। सर हर्बर्ट रिजले का मत है कि "जाति परिवारों के संगठन या समूह को कहते हैं। उस समूह के सदस्यों का एक ही नाम होता है जो किसी ईश्वरीय या महान मानवीय अस्तित्व से संबंधित होता है। उनका एक ही व्यवसाय होता है और योग्य व्यक्तियों के विचारानुसार वे एक संयुक्त समुदाय है।" डॉ. शाम शास्त्री का कथन है कि "आहार और विवाह संबंधी सामाजिक पृथकत्व को ही जाति कहते हैं।"

2.2.5.1 वर्ण और जाति में भेद

'वर्ण' शब्द का प्रारंभ ऋग्वैदिक काल के अंत में हुआ और 'जाति' शब्द उत्तर वैदिक युग में। वर्ण से तात्पर्य है शरीर का रंग और जाति से अभिप्राय है किसी विशेष समुदाय में जन्म और उसका निश्चित व्यवसाय। जब ऋग्वैदिक काल के प्रारंभ में आर्य भारत में आये और यहीं स्थायी रूप से बस गये, तब से यहाँ के मूल निवासियों से शरीर-रचना और रंग में, धर्म, रीति-रिवाजों आदि में भिन्न थे। वे गौर वर्ण के थे और प्रकृति-पूजक थे। इसके विपरीत भारत के निवासी श्याम वर्ण के थे और उनकी धार्मिक धारणाएँ और विधियाँ भिन्न थीं। इसलिए समाज में दो वर्ण थे, एक आर्य और दूसरा अनार्य।

आर्यों ने अपने समाज में व्यवसाय के अनुसार तीन वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्थापित किये। इस प्रकार 'वर्ण' का अर्थ है समुदाय या समूह या वर्ग। वर्ण या वर्ग का संबंध राजनीतिक और

सामाजिक रहा, पर जाति का संबंधपरंपरागत पेशे और विशिष्ट सामाजिक रीति-रिवाजों व विश्वासों का पालन रहा है। एक ही वर्ण में एक व्यवसाय और भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले लोग थे, परंतु एक जाति में एक ही व्यवसाय करने वाले लोग होते थे। वर्ण-व्यवस्था में अंतर्जातीय विवाह, खान-पान और सहभोज प्रचलित था, परंतु विभिन्न जातियों में ऐसी प्रथा नहीं होती थी। वर्ण-व्यवस्था में अस्पृश्यता का बाहुल्य नहीं हैं, परंतु जाति-व्यवस्था में छुआ-छूत का भेदभाव अधिक है। वर्ण-व्यवस्था में रक्त की शुद्धता पर बल दिया जाता था। परंतु जातियों में रक्त की शुद्धता, धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की विशिष्टता पर अधिक जोर दिया जाता था। एक जाति में धार्मिक विधियाँ, सामाजिक रीति-रिवाज और आचरण एक से होते हैं, इनमें एकता और समानता होती है।

2.2.5.2 जाति-प्रथा की उत्पत्ति

जाति-प्रथा का प्रारंभ किस रूप में और कब हुआ यह निर्दिष्ट रूप से ठीक-ठीक कहना दुष्कर है। विश्लेषण और अनुसंधान से प्रतीत होता है कि निम्नलिखित तत्व जाति-प्रथा की उत्पत्ति और विकास का प्रमुख आधार रहा।

2.2.5.3 श्रम-विभाजन

उत्तर-वैदिक युग में आर्यों के कबीलों के प्रमुख बड़े-बड़े शासक बन गये। ये शानदार राजप्रासादों और राज-सभाओं में रहने लगे। युद्ध में बढ़ते हुए प्रशासन में वे अधिक संलग्न रहने लगे। फलतः वे अपने धार्मिक कार्य और यज्ञ आदि करने में असमर्थ थे। इसी प्रकार साधारण मनुष्य भी अपने वैदिक कृत्यों में इतना अधिक संलग्न रहने लगा कि वह भी अपने धार्मिक कार्यों के करने में असमर्थ हो गया। धीरे-धीरे वेदों की पवित्र ऋचाओं और उनके वास्तविक उचित महत्व को भी समझना उनके लिए दुष्कर हो गया। इसी बीच धार्मिक कार्य करने वाले पुरोहितों ने कर्मकांड और धार्मिक क्रिया-विधियों में खूब वृद्धि कर दी, उन्हें अधिक जटिल, गूढ़ और रहस्यमय बना दिया। इसीलिए ऋग्वेद काल के पुरोहित वर्ग के उत्तराधिकारियों में धार्मिक कार्यों में सिद्धहस्त विशेषज्ञों के समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ये इतने प्रवीण थे कि नवीन परिवर्तित और परिवर्द्धित धार्मिक क्रिया-विधियों, यज्ञों, हवनों को समुचित रूप से कर सकते थे। इन विशेषज्ञों के हाथों में समाज के धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य होने से इन्होंने यज्ञ, पूजन, स्तुति, आराधना, कर्मकांड आदि की विशद और विस्तृत क्रिया-विधियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं इनके लिए उन्होंने अपना समस्त जीवन अर्पण कर दिया। इस प्रकार इन्होंने धार्मिक कार्यों को उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधान सहित संपादित करने के लिए विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि इन लोगों ने आर्यों के समाज के अंय लोगों की अपेक्षा, जो अपने सांसारिक कार्यों में अधिक संलग्न थे, अलग उच्च प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। समाज में वे अपने वेदों, धर्मशास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन, यज्ञों व धार्मिक कार्यों के विधिवत् संपादन, प्रकांड विद्वत्ता, सच्चरित्रता आदि के लिए सर्वोपरि और सर्वमान्य हो गये। ब्राह्मण जाति के बाद में होने वाले उत्कर्ष और सर्वोपरिता का यही कारण है।

श्रम-विभाजन के आधार पर क्षत्रियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वेद काल की प्रारंभिक सदियों में जातीय युद्धों के समय प्रत्येक स्वस्थ शरीर व्यक्ति रणक्षेत्र में अपनी जाति के प्रमुख या नेता के साथ जाता था और युद्ध करता था, शांति के समय वह कृषि और पशु-पालन के कार्य करता था, परंतु आर्यों के प्रसार एवं निरंतर वृद्धि और राज्य-सीमाओं के विस्तार के फलस्वरूप आर्य नरेशों और शासकों को ऐसे प्रशिक्षित और रणकुशल सैनिकों को सदा अपनी सेवा में रखने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिनकी सेवाएँ

किसी भी क्षण अवसर आने पर प्राप्त हो सकें। ऐसे व्यक्तियों के समुदायों पर ही रक्षा-कार्य और युद्ध का भार पड़ा। इस प्रकार कालांतर में सैनिकों और योद्धाओं के इस वर्ग ने अपनी सामाजिक और राजनीतिक परंपराओं सहित अपने एक पृथक वर्ग का निर्माण कर लिया और ये क्षत्रिय नाम से प्रतिष्ठित हुए।

आर्यों के समाज के ब्राह्मणों और क्षत्रियों को छोड़कर शेष लोग जो वाणिज्य व्यापार, विविध उद्योग-धंदे तथा कृषि और पशुपालन करते थे वैश्य कहलाये। समाज में इन्हें क्षत्रियों की अपेक्षा निम्न स्तर प्राप्त हुआ। समाज में ऐसे श्याम वर्ग के अनार्य थे जो आर्यों से पराजित हो गये थे और आर्य इन्हें दस्यु कहते थे। यह दास वर्ण था। जब आर्यों ने इस वर्ण को अपना लिया तो ये शूद्र कहलाये। समाज का यह चतुर्थ वर्ग था जिसका कर्तव्य समाज से अंय तीन वर्गों के लोगों की सेवा करना था। ये ऐसे कार्य और पेशे भी करते थे जो हेय और निम्न स्तर के थे। मानव समाज में आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार वैश्य और शूद्र वर्णों के लोग अपनी क्षमता के अनुसार विभिन्न व्यवसाय करने लगे और उनके पेशेवर विविध समूह बन गये जो बाद में जातियाँ कहलायीं। इस प्रकार जाति-प्रथा का आधार लोगों द्वारा अपनाये जाने वाले भिन्न-भिन्न पेशे थे, जैसे - पुरोहिती, लुहारी, सुतारी, दास-कर्म, बुनकरी आदि।

इस भाँति जाति-प्रथा का निर्माण आवश्यकतानुसार श्रम-विभाजन के आधार पर हुआ। विभेद और विभाजन का मूल व्यवसाय और उद्योग-धंदे थे। मनुष्य का वर्ग उसके व्यवसाय से निश्चित होता था। व्यवसाय जन्म से निश्चित नहीं होते थे। एक ही वर्ग या वर्ण के लोग भिन्न-भिन्न व्यवसाय कर सकते थे। ऋग्वेद की एक ऋचा के रचयिता का उल्लेख है कि "मैं ऋचाओं का रचयिता हूँ, मेरा पिता वैद्य हैं और माँ चक्की पीसती है। हम सभी विभिन्न कार्यों में लगे हैं।" यह कथन इस ओर संकेत करता है कि एक ही परिवार में लोग विविध व्यवसाय करते थे। व्यवसाय परिवर्तन सरल था। महाकाव्य काल तक विभिन्न वर्गों या वर्णों में खानपान, सहभोज और वैवाहिक संबंधप्रचलित थे, परंतु तीन उच्च वर्गों और शूद्रों के निम्न वर्ग में परस्पर स्वतंत्र सामाजिक व्यवहार अनुचित समझा जाता था। धर्मशास्त्रों के युग और मनु के पश्चात् जाति-प्रथा की जटिलता और संकीर्णता में वृद्धि होने लगी।

2.2.5.4 जाति-प्रथा का विकास

आर्यों की राजनीतिक प्रभुत्ता, रक्त, वंश और वर्ण की शुद्धता की भावना, श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति ने जाति-प्रथा के निर्माण में अपना-अपना योग दिया है। ईस्वी सन् की प्रारंभिक सदियों में चार वर्णों से प्रारंभ होने वाली जाति-प्रथा अधिकाधिक जटिल और गूढ़ होने लगी। कालांतर में चार वर्ण छोटी-छोटी जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गये। प्रत्येक जाति और उपजाति का एक विशेष व्यवसाय हो गया और उस पेशे पर उस जाति का एकाधिकार हो गया। अब जन्म से ही मनुष्य की जाति या उपजाति निर्दिष्ट होने लगी। जातियों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ जाति प्रथा की संकीर्णता और अपरिवर्तनशीलता भी बड़ी। निम्नलिखित तत्वों ने भी जातियों की वृद्धि और उसकी अपरिवर्तनशीलता में बड़ा योग दिया।

1. पुरोहित वर्ग द्वारा जातियों के नवीन सिद्धांत
2. नवीन धंदे
3. विदेशियों की नवीन जातियाँ
4. समुदायों के देशांतर गमन और प्रवास से नवीन जातियाँ
5. रीति-रिवाजों में परिवर्तन और जाति-बहिष्कार
6. बौद्ध और जैन धर्म तथा अहिंसा का सिद्धांत
7. नवीन धार्मिक संप्रदाय

8. भाग्यवाद, कर्म और पुनर्जम के सिद्धांत
9. धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ
10. दीर्घ अवधि का प्रभाव
11. अंतर्जातीय विवाह और संबंध
12. मुस्लिम आक्रमणकारियों का प्रभाव

ब्रिटिश शासन-काल की प्रारंभिक अवधि में जाति-प्रथा ज्यों की त्यों बनी रही, किंतु ईसाई धर्म के प्रचार तथा अंग्रेजी शिक्षा एवं विदेशसंपर्क के फलस्वरूप जाति-प्रथा कमजोर होती चली गई।

2.2.6 स्मृति युगीन धर्म

स्मृति कालीन संस्कृति में धर्म को बहुत महत्व दिया गया। धर्म के अंतर्गत न केवल ईश्वरोपासना, अध्यात्म और नैतिक व्यवहार हैं, अपितु मनुष्य का व्यक्तिगत आचरण, दैनिक कर्तव्य, पारस्परिक व्यवहार और सामाजिक व्यवहार भी इसकी मर्यादा में आते हैं। विविध संस्कार, विद्याध्ययन, विवाह, माता-पिता-गुरु की सेवा आदि का समावेश धर्म में हो जाता है।

2.2.6.1 वैदिकोत्तर धर्म

उत्तरवर्ती काल में जिन विविध धर्मों या उपासना-पद्धतियों का विकास हुआ। उनमें कुछ वेदानुकूल (आस्तिक) हैं और कुछ वेदविरुद्ध (नास्तिक) हैं।

वैदिक संहिताओं, पुराणों, विभिन्न दार्शनिक मतों आदि के संमिश्रण से मूल वैदिक धर्म के स्थान पर विभिन्न धार्मिक संप्रदाय प्रचलित हो गये, जो देव-विशेष को अपना आराध्य मानते थे। इससे वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत, सौर आदि संप्रदायों ने तथा विभिन्न देवताओं की उपासना ने जन्म लिया। ये परस्पर-विरोधी होते हुए भी वेदों को ही प्रमाण मानते थे। कुछ समय बाद इनमें परस्पर सामंजस्य भी होने लगा। तीन प्रमुख देवता हुए - ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। अंय देवता इनके अधीन हो गये। कुछ की इनके परिवार के रूप में कल्पना हुई। शक्ति को शिव की पत्नी तथा गणेश को पुत्र मान लिया गया। इस प्रकार स्मृति काल में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत, सौर तथा अंय देवताओं की उपासना के मत प्रचलित हुए। ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक इन संप्रदायों का विकास हो चुका था।

2.2.6.2 वैष्णव संप्रदाय

वैष्णव संप्रदाय (धर्म), जिसको भागवत धर्म भी कहा जाता है, विष्णु की भक्ति को केंद्र मानकर विकसित हुआ। वैष्णव धर्म विशुद्ध वैदिक है, आर्य है या इस पर आर्येतर प्रभाव भी है, इस विषय पर मतभेद हैं। विष्णु देवता का पूजन सारे भारतवर्ष में तथा बाहर के देशों में भी प्रचलित रहा। अतः इसका व्यापकत्व तो स्पष्ट है ही तथापि इस पर आर्येतर प्रभाव विचारणीय है।

'ऋग्वेद' तथा अंय वैदिक साहित्य में विष्णु देवता की उपासना तो है, परंतु वह सबसे प्रमुख देवता नहीं है। 'ऋग्वेद' के छः सूक्तों के देवता विष्णु हैं और इनकी स्थिति इस भौतिक जगत से परे भी स्वीकार की गई। इन्होंने तीन पगों में सारे ब्रह्मांड को नाप लिया था तथापि ऋग्वेद का मुख्य देवता इंद्र ही है। विष्णु देवता का जो रूप ऋग्वेद में है, वह उत्तरवर्ती साहित्य में नहीं है। उत्तरवर्ती साहित्य में वे अधिक प्रभावी, शक्तिशाली तथा सृष्टि की स्थिति के कारण बन गये। इंद्र के छोटे भाई (उपेंद्र) होते हुए वे इंद्र से महान् हो गये। उनको यज्ञरूप माना गया।

पुराणों में विष्णु का जो रूप है तथा उनका वर्ण नीलाभ है, इसको हेतु मानकर अनेक समालोचक वैष्णव धर्म को शुद्ध आर्य नहीं मानते। सुनीतिकुमार चटर्जी और रामधारीसिंह दिनकर का कथन है कि

द्रविड़ों के किसी नीलाभ देवता के साथ आर्यों के सूर्यवाचक पद का एकीकरण होकर विष्णु के स्वरूप की कल्पना की गई। विष्णु की उपासना के संकेत वैदिक साहित्य में अवश्य हैं तथापि यह धर्म प्राग्वैदिक परंपराओं के योग से विकसित हुआ है। भंडारकर महोदय का मत है कि वैष्णव धर्म का विकास तीन तत्वों - वैदिक विष्णु (जो सूर्य का भी वाचक है), नारायण और वासुदेव के संयोग से हुआ।

समालोचकों का विचार है कि प्रारंभिक युग में वैष्णव धर्म नारायणीय धर्म रहा था। 'ऋग्वेद' और उत्तरवर्ती साहित्य में नारायण को सृष्टि के आदि रचयिता के रूप में कल्पित किया गया है। नारायण, वासुदेव और विष्णु एक हैं। कालांतर में विष्णु का कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित हुआ। उनके भक्तों ने कृष्ण को केंद्र बनाकर भक्ति-संस्कृति का विकास किया। कृष्ण को नारायण तथा अर्जुन को नर का अवतार माना गया।

'ऋग्वेद' में विष्णु परमपद के अधिष्ठाता हैं और विद्वान् ही उनको देख सकते हैं। उस परम पद में मधु का उत्स है, जहाँ देवगण आनंद प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों में उपनिषदों में विष्णु सभी देवताओं में श्रेष्ठ और परम पद के अधिष्ठाता कहे गये हैं। पुराणों में वे परम ब्रह्म के स्वरूप हैं। कृष्ण के साथ तादात्म्य होकर यह वैष्णव धर्म 'भागवत' कहा जाने लगा। 'छांदोग्य उपनिषद्' के अनुसार देवकीपुत्र कृष्ण ने घोर आगिंरस से शिक्षा प्राप्त करके नारायण धर्म की प्रतिष्ठा की। कृष्ण वासुदेव के पुत्र थे, अतः यह धर्म वासुदेव भी कहा गया। वासुदेव का उल्लेख घटजातक, अष्टाध्यायी और महाभाष्य ने किया है। पुराणों में विष्णु के विशिष्ट रूप की कल्पना हुई। वे चतुर्भज हैं। चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पधारण करते हैं। गले में वनमाला तथा वक्ष पर कौस्तुभ मणि सुशोभित होती है। सिर पर मयूर-मुकुट तथा शरीर पर पीताम्बर होता है। नाभि में कमल रहता है। शरीर का वर्ण नील है। ये शेष-शय्या पर शयन करते हैं। इनके वामांग में लक्ष्मी विराजती हैं। इनका वाहन गरुड़ है।

2.2.6.3 शैव संप्रदाय

भारतवर्ष में शैव संप्रदाय का सबसे अधिक प्रचलन है। ये शिव को परम तत्व परमात्मा के रूप में मानते हैं। शिव की उपासना का मूल स्रोत वैदिक देवता रुद्र है। इस देवता के 2 रूप विकसित हुए - संहारक रुद्र और कल्याणकारी शिव। शिव की उपासना के नाम पर शैव संप्रदाय का प्रवर्तन हुआ।

अनेक समालोचकों का विचार है कि भारत में शिवोपासना पर आर्येतर तथा अवैदिक प्रभाव है एवं यह प्राग्वैदिक है। सिंधु घाटी सभ्यता में प्राप्त अनेक मुद्राओं पर एक देवता की आकृति अंकित है, जिसका रूप पशुपति कहा गया है। इनमें लिंग का प्रतीक भी है। एक दूसरी आकृति ताम्रपट्ट पर मिली है। इसमें देवता को योगी के रूप में दिखाया गया है। इसके समक्ष दो सर्प बैठे हैं। गले में सर्पों की माला है। दोनों ओर व्याघ्र, हाथी, गैंडा और भैंसा हैं। सिंहासन के नीचे मृग चित्रित है। यहाँ बहुत संख्या में लिंग और योनियाँ प्राप्त हुई हैं। लिंगों की ऊँचाई एक से तीन फीट है। इन्हीं पाशुपति को आर्यों ने अपने वैदिक रुद्र देवता से तादात्म्य करके शैव धर्म का विकास किया। अब लिंगोपासना का समावेश रुद्र की उपासना में सम्मिलित हो गया।

सर्वप्रथम 'श्वेताश्वर उपनिषद्' में शिव की उपासना ईश्वर के रूप में मिलती है। शिव संसार के शासक, अनन्यतम देव हैं। वे सृष्टि के रचयिता, पालक और संहारक हैं। वे परब्रह्म सर्वव्यापक ईश हैं। शैव संप्रदाय का विकास संभवत: यहीं से प्रारंभ हुआ है।

'महाभारत' में शिवोपासना के अनेक उदाहरण हैं। शिवोपासना से अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र और अश्वत्थामा ने खड्ग पाया था। नर (अर्जुन) और नारायण (कृष्ण) ने उपासना करके शिव से वर प्राप्त

किया। उमा और शिव सकल जगत के उत्पादक हैं। उनकी उपासना ब्रह्मा और शिव भी करते हैं। 'महाभारत' के नारायणीय प्रकरण में पाशुपत का उल्लेख है।

पतंजलि ने शैव संप्रदाय का उल्लेख किया है। वे इनको शिवभागवत कहते हैं। ये उपासक अपने उपास्य देवता के आयुधों - लौहनिर्मित त्रिशूल और दंड को धारण करते थे। अजिन (मृगचर्म) पहनते थे। पतंजलि ने शिव, स्कंद और विशाखा की मूर्तियों का भी उल्लेख किया है। 'महाभाष्य' के उत्तरवर्ती साहित्य में शिव को परम ब्रह्मरूप कहा गया है। कालिदास इनके परम उपासक थे।

शैवमत के संस्थापकों में लकुलीश या नकुलिन् या लकुलिन् थे। वे संभवत: ईसा की प्रथम शताब्दी ई. में हुए। इनको शिव का 28वाँ तथा अंतिम अवतार कहा गया है। इनके चार शिष्य थे - कुशिक, गार्ग्य, कौरुष और मैत्रेय। इन्होंने पाशुपतों के चार संप्रदायों को जन्म दिया। 'वायु पुराण' और 'लिंगपुराण' में शिव में लकुलिन् रूप में अवतीर्ण होने की भविष्यवाणी है।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि शैव या पाशुपत संप्रदाय का जन्म महाभारतयुग में हो चुका था। ईसा से पहले ही सारे भारत में इसका व्यापक प्रचार था। इसके बाद यह और भी अधिक विकसित हुआ। सारे भारत में शिव के मंदिरों का निर्माण हुआ तथा 12 ज्योतिर्लिंगों की कल्पना हुई। इनके नाम हैं - मांधाता में ओंकार, उज्जयिनी में महाकाल, नासिक के पास त्रयम्बक, एलोरा में घृष्णेश्वर, अहमदनगर से पूर्व नागनाथ, सह्याद्रि पर्वत में भीमा नदी के उद्गमस्थल पर भीमेश्वर या भीमशंकर, गढ़वाल में केदारनाथ, वाराणसी में विश्वेश्वर, सौराष्ट्र में सोमनाथ, परली के पास वैद्यनाथधाम में वैद्यनाथ, श्रीशैल पर मल्लिकार्जुन और दक्षिण में रामेश्वर।

शैवमत में शिव परम परमेश्वर हैं, परंतु इनके परिवार की भी कल्पना है। इनकी पत्नी सती या पार्वती हैं। दो पुत्र हैं - गणेश और कार्तिकेय। इनका वाहन नंदी वृषभ है। समालोचकों का विचार है कि शिव का यह परिवार आर्येतर कल्पना है। सिंधुघाटी की सभ्यता में छोटी-छोटी स्त्री-मूर्तियाँ मिलती हैं। इस संस्कृति में मातृदेवी की उपासना प्रचलित थी। यही देवी आर्य-परंपरा में आकर शिव की पत्नी पार्वती प्रसिद्ध हुईं। अब शिव अर्धनारीश्वर के रूप में प्रसिद्ध हुए। संपूर्णानंदने गणेश को आर्येतर देवता सिद्ध किया है। ये अनार्यों के देवता थे तथा विघ्नहर्ता थे। आर्यों ने इस देवता को स्वीकार करके विघ्न-विनाशक का रूप दिया। देवता के रूप में स्वीकृत हो जाने पर वैदिक साहित्य, सूत्र-ग्रंथ, उपनिषद साहित्य में इनका देवता के रूप में स्मरण किया जाने लगा। स्कंद (कार्तिकेय) को भी अनेक विद्वान् समालोचक आर्येतर मानते हैं। स्कंद को साहित्य में चोरों, डाकुओं और तस्करों का आराध्य कहा गया है। विद्वानों की यह भी मान्यता है कि द्रविड़ों के युद्ध तथा वीरता के देवता मुरुगव को आर्यों ने कार्तिकेय बना दिया। शिव तथा उनके परिवार के पार्वती, गणेश, कार्तिकेय और नंदी को इस प्रकार आर्येतर माननेवाले विद्वानों ने जो भी युक्तियाँ दी हैं, वे अनुमान पर ही आश्रित हैं। वस्तुतः इन सब देवताओं के संकेत वैदिक साहित्य और सूत्र-ग्रंथों में हैं। पुराण-साहित्य में इनके साथ अनेक गाथाओं की कल्पना हुई तथा इनको विशुद्ध आर्य देवताओं के रूप में प्रचारित किया गया। शक्ति, गणेश और कार्तिकेय के उपासकों के अलग संप्रदाय भी बन गये।

शैव धर्म (संप्रदाय) अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ था। इनमें पाशुपत, माहेश्वर और शिवभागवत प्राचीन हैं। कालांतर में कापालिक, वीरशैव (लिंगायत), कालमुख, जंगम, भारशिव, रसेश्वर, शिवाद्वैत आदि संप्रदायों का आविर्भाव हुआ। शैवदर्शन तथा उसकी शाखाएँ भी विकसित हुईं।

2.2.6.4 शाक्त संप्रदाय

शक्ति के उपासक शाक्त कहे गये थे। इनके मत में शक्ति ही सृष्टि के उद्भव और विकास की मूल कारण है। प्राचीन धार्मिक साहित्य में शक्ति के दो रूप हैं - एक तो शिव की सहयोगिनी है, जो सती, पार्वती, उमा आदि नामों से प्रसिद्ध है। दूसरी वह स्वतंत्र परा आद्या शक्ति है, जो संपूर्ण जगत की सृष्टि-स्थिति-प्रलय की कारण हैं। शाक्तों का शैवों के साथ घनिष्ठ संबंध हैं, क्योंकि शक्ति को शिव की सहयोगिनी के रूप में कल्पित कर लिया गया था।

शक्ति-पूजा के उद्भव का समय निश्चित करना कठिन है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आर्यों की शक्ति-पूजा का रूप बहुत कुछ सिंधु घाटी सभ्यता की मातृदेवी की पूजा से मिलता है। 'ऋग्वेद' में अदिति को माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव आदि सभी कुछ माना गया है। आदित्य-वर्ग के देवों की यह माता हैं और पृथ्वी को धारण करती हैं। 'अथर्ववेद' में शक्ति का निरूपण है। 'केनोपनिषद्' में हैमवती उमा को सर्वशक्तिसंपन्न देवी कहा गया है। वे आद्याशक्ति महामाया हैं।

'महाभारत' और पुराणों में शक्ति का स्तवन है। युधिष्ठिर और अर्जुन दुर्गा की स्तुति करते हैं। इनको दुर्गा, कुमारी, काली, कपालिनी, महाकाली, चंडी, कात्यायिनी, कराला, विजया, कौशिकी, कांतारवासिनी, महिषासुरमर्दिनी आदि नाम दिये गये हैं। इनको सुरा, माँस और पशुबलि प्रिय है। शाक्त उपासक शक्ति की उपासना इन्हीं द्रव्यों से करते हैं। संभावना यह भी की गई है कि शक्ति की उपासना का यह रूप गुप्त-युग के बाद प्रचलित हुआ था। 'महाभारत' में ये वर्णन बाद में जोड़े गये थे। पुराणों के अनुसार दुर्गा या महिषासुरमर्दिनी का प्रादुर्भाव शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रचंड तेज से हुआ। उनको चंडी और अंबिका कहा गया है। शुंभ और निशुंभ असुरों का वध करने के लिए पार्वती के शरीर से अंबिका प्रसूत हुईं इस समय पार्वती का शरीर काला पड़ जाने से इनको कालिका कहा गया। चंड-मुंड असुरों का विनाश करने से वे चामुंडा हुईं सिंह को इनका वाहन माना गया।

स्मृति काल में देवी के विविध रूपों की उपासना प्रचलित हुई। इसके तीन रूप कहे गये -

(1) सौम्य रूप, जिसका सामान्य-जन पूजन करते हैं।

(2) प्रचंड रूप, जो कापालिकों को मान्य है। इस पर पशुबलि और नरबलि भी दी जाती है।

(3) कामप्रधान रूप, जो त्रिपुरसुंदरी रूप में विश्व का सृजन करती है।

पूजा-पद्धति के आधार पर शाक्तों के दो मत हुए - कौल और समयी। कौल-उपासक माँस-मदिरा आदि पदार्थों से नारीसुलभ ऐंद्रिक सुखों को अपनाकर शक्ति को प्रसन्न करते थे। कौलों का भैरवीचक्र प्रसिद्ध है। इसमें वर्णभेद नहीं रहता, परंतु इस चक्र के पूरा हो जाने पर सब पुनः अपने वर्ण के हो जाते हैं। समयी इन सबसे दूर रहते हैं और प्रतीकवाद का सहारा लेकर शक्ति की उपासना करते हैं।

2.2.6.5 गणपति संप्रदाय

गणेश या गणपति को पुराणों में शिव का पुत्र कहा गया है। अनेक विचारक गणेश का प्रारंभ आर्येतर कहते हैं, परंतु देवताओं के गणपति की उपासना ऋग्वैदिक युग में ही प्रारंभ हो गई थी। उत्तरवर्ती पौराणिक काल में गणेश को शिव का पुत्र मान लिया गया।

गणपति का पूजन भारत में छठी शताब्दी ई. में प्रारंभ हुआ था। ये बुद्धि के देवता थे और विघ्नविनाशक समझे जाते थे। प्रत्येक कार्य के आरंभ में विघ्नों के निवारण के लिए गणपति-पूजन की परंपरा हो गई। इनका एक विशिष्ट रूप भी कल्पित हुआ। ये विघ्नविनाशक, स्थूलवदन, वरद, हस्तिमुख, वक्रतुंड, एकदंत, लंबोदर तथा मोदकप्रिय रहे। मूषक इनका वाहन है। भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को इनका विशेष पूजन किया जाता है, जिसको गणेश चतुर्थी कहते हैं। मंदिरों में शिव-पार्वती की

मूर्ति के साथ गणेश की मूर्ति भी अवश्य होती है। गणेश का पूजन पुष्प, फल, फूल, मोदक, दही, दूध, धूप, दीप आदि से करना अनिवार्य है।

2.6.6 कार्तिकेय संप्रदाय

कार्तिकेय देवता की भी शिव के पुत्र के रूप में कल्पना है। अनेक समालोचकों ने कार्तिकेय को भी आर्येतर माना, परंतु इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

पुराणों के अनुसार कार्तिकेय का जन्म तारकासुर का विनाश करने तथा देवसेना का नेतृत्व करने के लिए हुआ था। इनके नाम स्कंद, कुमार और गुह भी हैं। गुप्त-काल के अभिलेखों में इनको सुब्रह्मण्य भी कहा गया है। कार्तिकेय का यह नाम दक्षिण भारत में बहुत प्रचलित हुआ।

कार्तिकेय की उपासना भारत में अतिप्राचीन काल से प्रचलित रही है। पतंजलि ने इनका उल्लेख किया है। गुप्तकाल में कार्तिकेय की उपासना अधिक प्रचलित रही होगी। गुप्त राजाओं के कुमारगुप्त, स्कंदगुप्त आदि नाम इसके सूचक हैं। कुलशेखर वर्मन् ने राजकीय प्रासादों के पास कार्तिकेय के मंदिरों का उल्लेख किया है। मयूरासीन कार्तिकेय की मूर्तियों का प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई. का नमूना मथुरा संग्रहालय में हैं। कालिदास के समय में कार्तिकेय का पूजन प्रचलित था। उसने 'मेघदूत' में इसका उल्लेख किया है। 'कुमारसंभव' काव्य की रचना भी इसका पुष्ट प्रमाण है।

2.2.6.7 सौर संप्रदाय

सूर्य देवता के उपासक सौर कहलाते थे। प्राचीन भारत में सूर्य की उपासना भी बहुत प्रचलित थी। सूर्य की उपासना और उसका आवाहन वैदिक युग से प्रचलित रहा। 'ऋग्वेद' में सूर्य-संबंधी अनेक सूक्त हैं। यह चर-अचर के जीवन का आधार है। उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में भी सूर्य की विशेष स्थिति है। देवकीपुत्र कृष्ण के गुरु घोर आगिंरस सूर्योपासक थे। उन्होंने सूर्य की उपासना के लिए विस्तृत निर्देश दिये थे।

अंय समालोचकों का मत है कि सूर्य-पूजा तो वैदिक है, परंतु इस पर बाहर से आने वाली जातियों का भी प्रभाव है। सूर्य-मंदिरों में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को पुजारी नियुक्त किया जाता था। मथुरा संग्रहालय में कुषाणकालीन सूर्य-प्रतिमा की वेष-भूषा इसको विदेशी बताती है। हूणों के आक्रमण के समय सूर्य-पूजा भारत में प्रचलित थी। यहाँ अनेक सूर्य-मंदिर भी थे। ह्वेनसांग ने मुलतान में चंद्रभागा के तट पर विशाल सूर्य-मंदिर देखा था। अलबेरूनी ने भी इसको देखा था। इसको अंग्रेजों ने तुड़वा दिया। काश्मीर के प्रसिद्ध मार्तंड-मंदिर के भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। उड़ीसा का कोणार्क का सूर्य-मंदिर वास्तुकला का उत्तम नमूना है। गुप्त-युग के अभिलेखों में सूर्य देवता का उल्लेख है।

पुराणों में सूर्य देवता की उपासना को महत्व दिया गया है। पुराणों के अनुसार सूर्य की एक दिन की पूजा सैकड़ों यज्ञों के अनुष्ठानों से बढ़कर है। यह सबसे श्रेष्ठ देवता, सृष्टि का सर्जक और संहारक है। यह सारे जगत का माता-पिता और गुरु है।

2.2.6.8 अंय देवता

'ऋग्वेद' में 33 देवता हैं जो तीन वर्गों में विभक्त हैं - स्वर्गस्थानीय, अंतरिक्षस्थानीय और पृथ्वीस्थानीय। उत्तरवर्तीकाल में इनकी संख्या बहुत बढ़ गई और 33 करोड़ हो गई। पुराणों ने देवताओं की पूजा को बहुत महत्व दिया। देवताओं के स्वरूप और शक्तियों में भी बहुत परिवर्तन हुए। देवताओं के अतिरिक्त अनेक देवियों, अर्ध-देवताओं, स्थानीय देवता, नगरदेवता, वनदेवता आदि की कल्पना हुई।

2.2.7 सारांश

स्मृति-ग्रंथ या धर्मशास्त्र आर्यों के कानून के ग्रंथ हैं। इनमें मनु द्वारा रचित मानव धर्मशास्त्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्मृति-ग्रंथों में आर्यों की प्राचीन, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था संबंधीकानूनों का विवेचन है। इनमें सामाजिक, धार्मिक प्रथाओं और रूढियों का विवरण हैं।

स्मृति-ग्रंथ (धर्मशास्त्र)

1 मनुस्मृति 2 याज्ञवल्क्यस्मृति 3 पाराशरस्मृति 4 नारदस्मृति

5 बृहस्पतिस्मृति 6 टीकाएँ 7 स्मृति-ग्रंथों का रचना-काल

स्मृति युगीन समाज

1 आर्य और अनार्य 2 चतुर्वर्ण व्यवस्था 3 आश्रम प्रणाली

4 नारी की स्थिति 5 आचार-विचार की श्रेष्ठता 6 जति-प्रथा की नींव

जाति प्रथा

1 वर्ण और जाति में भेद 2 जाति-प्रथा की उत्पत्ति

3 श्रम-विभाजन 4 जाति-प्रथा का विकास

स्मृति युगीन धर्म

1 वैष्णव संप्रदाय 2 शैव संप्रदाय 3 शाक्त सम्¬प्रदाय

4 गणपत संप्रदाय 5 कार्तिकेय संप्रदाय 6 सौर संप्रदाय

2.2.8 बोध प्रश्न

2.2.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्मृति ग्रंथों से क्या समझते हैं ?
2. जाति और वर्ण में अंतर स्पष्ट कीजिये।
3. मनु स्मृति का परिचय दीजिये।
4. स्मृति ग्रंथों का सांस्कृतिक महत्व दर्शाइये।
5. स्मृति ग्रंथों के अनुसार आर्य और अनार्य पर प्रकाश डालिये।
6. जाति से क्या तात्पर्य है ?
7. जाति प्रथा के विकास के लिए कौन से तत्व उत्तरदायी थे ?
8. कार्तिकेय संप्रदाय के विषय में क्या जानते हैं ?
9. गणपत संप्रदाय पर टिप्पणी लिखिये।
10. सौर संप्रदाय पर लघु नोट लिखिये।

2.2.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्मृति ग्रंथों की विवेचना कीजिये तथा उनके महत्व को रेखांकित कीजिये।
2. स्मृतियुगीन चतुर्वर्ण व्यवस्था का वर्णन कीजिये।
3. स्मृतियुगीन नारी की विवेचना कीजिये।
4. जातिप्रथा पर एक लेख लिखिये।

5. स्मृतियुगीन श्रम विभाजन की विवेचना कीजिये।
6. स्मृतियुगीन वैष्णव संप्रदाय का वर्णन कीजिये।
7. स्मृतियुगीन शैव संप्रदाय पर प्रकाश डालिये।
8. स्मृतियुगीन शाक्त संप्रदाय पर लेख लिखिये।
9. स्मृतियुगीन गणपत, कार्तिकेय एवं सौर संप्रदायों की विवेचना कीजिये।
10. स्मृति युगीन समाज की समीक्षा कीजिये।

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल. पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी. एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
11. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
12. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
13. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
14. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
15. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
16. लूनिया, बी. एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989

खंड - 2 धर्म एवं संस्कृति
इकाई - 3 छठी सदी ई. पू. में धार्मिक आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

2.3.1 उद्देश्य
2.3.2 प्रस्तावना
2.3.3 क्रांति का अर्थ एवं व्यापकता
2.3.3.1 क्रांति का अर्थ
2.3.3.2 क्रांति की व्यापकता
2.3.4 क्रांति के कारण
2.3.4.1 सामाजिक कारण
2.3.4.2 धार्मिक कारण
2.3.4.3 आर्थिक कारण
2.3.5 धार्मिक आंदोलन
2.3.5.1 महावीर स्वामी
2.3.5.2 जैन सिद्धांत
2.3.5.3 महात्मा बुद्ध
2.3.5.4 बौद्ध सिद्धांत
2.3.5.5 जैन और बौद्ध धर्मों की तुलना
2.3.6 क्रांति का महत्व
2.3.6.1 राजनीतिक महत्व
2.3.6.2 सामाजिक महत्व
2.3.6.3 सांस्कृतिक महत्व
2.3.6.4 धार्मिक महत्व
2.3.7 सारांश
2.3.8 बोध प्रश्न
2.3.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
2.3.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
2.3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.3.1 उद्देश्य

विश्व में छठी शताब्दी ई. पू. में महान धार्मिक क्रांति हुई। इस युग में अनेक देशों में आध्यात्मिक और नैतिक अशांति उत्पन्न हुई और बौद्धिक आंदोलनप्रारंभ हुए। मनुष्य की जिज्ञासा तथा तर्कशीलता ने सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों की समीक्षा की और सत्य की खोज की। परिणाम स्वरूप कई देशों में सुधारकों और धर्म प्रवर्तकों ने तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का विरोध किया, नवीन मान्यताओं के आधार पर प्राचीन धर्मों में सुधार हुए, नए धर्मों की स्थापना हुई और मानव-जीवन की मान्यताओं का पुनः मूल्यांकन किया गया। ये सब क्रांतिकारी परिवर्तन थे।

भारत में भी इसी सदी में धार्मिक नेताओं, धर्माचार्यों, सन्यासियों, परिव्राजकों, भिक्षकों, मीमांसकों, तार्किकों, चिंतकों, धर्म प्रचारकों आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने अपने-अपने वादों और मतों का प्रचार किया। इससे भारत में एक नवीन क्रांति की लहर दौड़ गई और धार्मिक आंदोलन का सूत्रपात हुआ। प्रस्तुत इकाई में छठी शताब्दी ई पू. में हुई धार्मिक क्रांति की विस्तृत विवेचना करना है।

2.3.2 प्रस्तावना

छठी सदी ई. पू. में गंगा के मैदानों के मध्य में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। इस युग के करीब 62 धार्मिक संप्रदाय ज्ञात हैं, जिन्होंने पुरातन धार्मिक और सामाजिक सिद्धांतों और मान्यताओं का घोर विरोध किया। इनमें से कई संप्रदाय पूर्वोत्तर भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों में प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और अनुष्ठान-विधियों पर आधारित हैं। इनमें जैन संप्रदाय और बौद्ध संप्रदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे और इन दोनों का उदय धार्मिक सुधार के परम शक्तिशाली आंदोलन के क्रम में हुआ है। छठी सदी ई. पू. में दो महापुरूषों अर्थात महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध द्वारा वैदिक धर्म में प्रवेशित कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का विरोध कर नवीन सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया गया जिसे धार्मिक आंदोलन के नाम से जाना जाता है। प्रस्तुत इकाई में छठी शताब्दी ई. पू. में हुई धार्मिक क्रांति का अर्थ और उसकी व्यापकता, क्रांति के कारण, महावीर और गौतम तथा उनकी शिक्षायें, जैन एवं बौद्ध धर्मों की तुलना तथा क्रांति के महत्व पर प्रकाश डाला जाना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में इकाई का सारांश, अभ्यास हेतु बोध प्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी उल्लिखित होगी।

2.3.3 क्रांति का अर्थ एवं व्यापकता

2.3.3.1 अर्थ

क्रांति शब्द संस्कृत की क्रम धातु से बना है जिसका अर्थ होता है गति अथवा चाल। क्रांति उस गति को कहते हैं जो समाज में बहुत बड़ी उथल-पुथल मचा देती है। मनुष्य अपने तथा समाज के विकास एवं कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण करती है, परंतु कालांतर में उनमें आडंबर आ जाता है और उनमें अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। तब यह संस्थाएँ जन साधारण के लिए अभिशाप बन जाती हैं और उनका उन्मूलन आवश्यक हो जाता है, परंतु समाज में प्रायः ऐसे शक्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं जो इन संस्थाओं का दुरूपयोग कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करते हैं और उनके अस्तित्व को बनाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। यह वर्ग प्रायः रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी होते हैं। साधारण जनता कुछ काल तक इन भ्रष्ट तथा विकृत संस्थाओं के अत्याचारों को मूक होकर सहन करती है, क्योंकि इन परंपरागत संस्थाओं के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा होती है और वह सहसा उनके विरूद्ध आंदोलन करने का साहस नहीं करती, परंतु प्रत्येक समाज में एक प्रबुद्ध वर्ग भी होता है जो बड़ा ही प्रगतिवादी विवेकशील तथा स्वतंत्र विचार का होता है। यह वर्ग सामाजिक दोषों की ओर से चैतंयशील तथा जागरूक रहता है। वह लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक समस्याओं पर विचार करने लगता है। इस प्रकार उसके मस्तिष्क में विचारों की उथल-पुथल अथवा क्रांति आरंभ हो जाती है। इसी को बौद्धिक क्रांति कहा जाता है। प्रबुद्ध वर्ग ध्वंसात्मक तथा रचनात्मक दोनों प्रकार के विचारों से ओत-प्रोत हो जाता है। उसके मस्तिष्क में दूषित संस्थाओं की कुव्यवस्थाओं, अत्याचारों तथा अंधविश्वासों का चित्र विद्यमान रहता है जिनका वह विध्वंस करना चाहता है और साथ ही साथ स्वस्थ एवं कल्याणकारी काल्पनिक संस्थाओं

का चित्र उसके मस्तिष्क में उपस्थित रहता है जिन्हें वह समाज के कल्याण के लिए स्थापित करना चाहता है। ¬प्रबुद्ध वर्ग अपनी मानसिक क्रांति को व्यवहारिक स्वरूप देने के लिये अपने विचारों, प्रवचनों तथा लेखों द्वारा जनता के सामने उपस्थित करता है। वह दूषित संस्थाओं को अत्यंत वीभत्स और अपनी काल्पनिक संस्थाओं का अत्यंत मनोहर एवं कल्याणकारी चित्र जनता के सामने उपस्थित करता है और उसे आंदोलन करने के लिए प्रोत्साहित करता है जब जनता पुरानी भ्रष्ट व्यवस्थाओं को उन्मूलित करने के लिए आंदोलन कर देती है। तब उसे जनक्रांति के नाम से पुकारा जाता है। जन-क्रांति द्वारा समाज में बहुत बड़े-बड़े राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मौलिक परिवर्तन हो जाते है। यह परिवर्तन दो प्रकार से संपन्न किये जाते हैं। यह शांतिपूर्वक भी संपन्न हो सकते हैं और इसके संपन्न करने में भीषण रक्तपात तथा हत्याकांड भी हो सकता है। छठी शताब्दी ई. पू. में हमारे देश में एक बहुत बड़ी क्रांति हुई जिसका हमारे देश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यह क्रांति बड़े ही शांतिपूर्वक तथा अहिंसात्मक ढंग से संपन्न हुई थी।

2.3.3.2 क्रांति की व्यापकता

छठी शताब्दी ई. पू. न केवल भारत के वरन् विश्व के इतिहास में एक महान् क्रांति का युग माना जाता है। डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने इस काल के संबंधमें लिखा है, "छठी शताब्दी ई. पू. मानव इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है। यह विभिन्न क्षेत्रों में जो एक दूसरे से अत्यधिक अलग थे असाधारण मानसिक तथा आध्यात्मिक अशांति का युग था।" जिस समय हमारे देश में यह क्रांन्ति आरंभ हुई उसी समय ईरान, चीन तथा यूनान में भी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सुधार के आंदोलन चल रहे थे जिनका उन देशों के इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। हमारे देश में छठी शताब्दी ई. पू. में जो क्रांति आरंभ हुई उसका क्षेत्रअत्यंत व्यापक था। इस क्रांति का प्रभाव राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। राजनीतिक क्षेत्र में यह मगध के साम्राज्यवाद का युग था। इस समय उत्तरी भारत में सोलह जन-जनपद विद्यमान थे जिनमें परस्पर संघर्ष चला करता था, परंतु थोड़े समय में छोटे-छोटे राज्यों को विनष्ट कर मगध-साम्राज्य का निर्माण किया गया और राजनीतिक एकता स्थापित करने का स्वप्न सिद्ध हो गया। सामाजिक क्षेत्र में भी यह एक क्रांति का युग था। इन दिनों जाति-प्रथा के बंधन अत्यंत जटिल हो गये थे और ऊँच-नीच तथा छुआछूत की भावना बड़ी प्रबल हो गई। ब्राह्मणों की समाज में प्रधानता थी और सर्वत्र उन्हीं का बोल-बाला था। छठी शताब्दी ई. पू. में इन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी आंदोलन आरंभ हुआ। जाति-प्रथा का घोर विरोध किया गया और ऊँच-नीच तथा छुआ-छूत की भावनाओं को दूर करने का भगीरथ प्रयास किया गया। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की प्रधानता का विरोध करना आरंभ किया और अपने को सर्वोच्च श्रेणी में रखने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी वह क्रांतिकारी युग था। इस काल में साहित्य तथा कला के क्षेत्र में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उसके पूर्व केवल संस्कृत ही साहित्यिक भाषा समझी जाती थी और उसी में ग्रंथों की रचना होती थी और धार्मिक उपदेश दिये जाते थे। यह ब्राह्मणों की भाषा थी और वही लोग इसे ठीक से समझ सकते थे, परंतु छठी शताब्दी ई. पू. में प्राकृत तथा पालि में भी, जो जन-साधारण की भाषा थी, साहित्य रचना होने लगी और धर्मोपदेश दिये जाने लगे। जैन-धर्म ने प्राकृत को और बौद्ध-धर्म ने पाली को माध्यम बनाकर अपने धर्म का प्रचार आरंभ किया। फलतः प्राकृत तथा पाली भाषा में बहुत बड़े साहित्य की रचना हुई जो सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य था। कला में भी बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। वैदिक काल में केवल मंडपों, यज्ञशालाओं आदि का निर्माण किया जाता था, परंतु इस काल में विहारों, गुहा-मंदिरों तथा स्तूपों और मूर्तियों का निर्माण बड़े जोरों के साथ आरंभ हुआ जिससे वास्तु-कला तथा

शिल्प-कला में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन आरंभ हो गये, परंतु इस काल में सबसे बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन धार्मिक क्षेत्र में हुआ। वैदिक धर्म जिसे ब्राह्मण धर्म तथा सनातन धर्म भी कहते हैं, अत्यंत जटिल हो गया था और साधारण जनता न उसे समझ सकती थी और न उसका ठीक-ठीक पालन कर सकती थी ? केवल ब्राह्मण वर्ग ही उसे समझता था और उसका पालन कर सकता था। वैदिक काल में यज्ञ ही मोक्ष के साधन समझे जाते थे, परंतु यह इतने दुरुह हो गये थे और इनमें इतना अधिक धन व्यय करना पड़ता था और इतना अधिक समय लगता था कि साधारण जनता इन्हें कर नहीं सकती। अतएव एक अत्यंत सरल धर्म की आवश्यकता थी जिसे सभी लोग समझ सकें और सभी पालन कर सकें। फलतः सरल मार्ग को ढूँढ़ने के लिए एक भयंकर धार्मिक क्रांति क्षत्रियों के नेतृत्व में आरंभ हुई जो दो प्रधान धाराओं में प्रवाहित हो चली। एक धारा आस्तिक कहलाई जो वैष्णव तथा शैव-धर्म के रूप में प्रस्फुटित हुई और एक दूसरी धारा नास्तिक कहलाई जो बौद्ध तथा जैन-धर्म के रूप में प्रवाहित हुई। वैष्णव तथा शैव धर्म ने भक्ति तथा उपासना के अत्यंत सरल मार्ग को और बौद्ध तथा जैन-धर्म ने उससे भी सरल सत्कर्म तथा सदाचरण मार्ग को ढूँढ़ निकाला जो सर्व-साधारण के लिए अनुगमनीय था।

2.3.4 क्रांति के कारण

2.3.4.1 सामाजिक कारण

(1) अनुपयोगी चातुर्वण व्यवस्था

ईसा पूर्व छठी सदी तक समाज में नए धंधे करने वालों की, भारत में प्रविष्ट विदेशियों की, अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न वर्णसंकरों की तथा विभिन्न प्रदेशों में रहने वालों की अनेक जातियाँ और उप-जातियाँ बन गई थीं। ये सब शूद्रों में सम्मिलित कर लिए गये थे। चातुर्वण व्यवस्था में इनके लिए कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं था। ये ऊँचे वर्णों के लोगों के काम करते थे। उनके लिए कर्तव्य ही थे, अधिकार नहीं। इस प्रकार चातुर्वण व्यवस्था अनुपयोगी और अव्यावहारिक हो गई थी। स्वतंत्र विचारक इस सामाजिक कुव्यवस्था का तीव्र विरोध करने लगे।

(2) सामाजिक विषमताएँ

समाज में विभिन्न जातियों और वर्गों के लिए अलग-अलग नियम थे। ब्राह्मणों को कई विशेष अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त थीं। वे भूमिकर और मृत्यु दंड से मुक्त थे। क्षत्रियों और वैश्यों के लिए भी अलग-अलग नियम थे। शूद्रों के लिए तो उच्चवर्ण की सेवा के और कर्तव्य के ही नियम थे, उनके अधिकारों का विधान नहीं था। स्त्रियों की दशा भी दयनीय थी। वे भी नितांत अधिकारविहीन थीं। जातियों के बंधन भी कठोर और अपरिवर्तनशील थे। अंतर्जातीय विवाह निषिद्ध थे और अपनी जाति का व्यवसाय छोड़ कर अपनी अभिरूचि और प्रतिभा के अनुसार अंय व्यवसाय करने वालों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था थी। इन सबसे समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव, छुआ-छूत की प्रबल भावना, सामाजिक असमानताएँ और विषमताएँ उत्पन्न हो गईं थीं, जिससे जन-साधारण में विद्रोह की भावना प्रबल हो रही थी।

(3) शूद्रों की दयनीय दशा

निम्न स्तर के धंधे करने वालों और शूद्रों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। उन्हें धर्मशास्त्रों और वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने, यज्ञोपवीत धारण करने, यज्ञ, हवन आदि करने, तय करने एवं सन्यासी बनने के अधिकार नहीं थे। उदारवृत्ति के प्रगतिशील लोग ऐसी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था चाहते थे जिसमें शूद्रों को भी अधिकार प्राप्त हों, उनकी दशा भी सुधर जाये।

(4) ब्राह्मणों का प्राधान्य

समाज में ब्राह्मणों की सर्वोपरिता थी। वेद और धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन करने वाले अनुष्ठान, होम और यज्ञ करने वाले, संसार और अंय धार्मिक क्रिया-विधियाँ करने वाले ब्राह्मण ही होते थे। जन्म से मृत्यु तक जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ होती थीं वे सभी ब्राह्मणों द्वारा संपन्न की जाती थीं। ब्राह्मणों की पुरोहिती, विद्वता, अभियान, आधिपत्य ने समाज को पूरा जकड़ दिया था। राजनीति और प्रशासन में भी उनका प्रभुत्व था। वे क्षत्रिय राजाओं के पुरोहित, गुरू, परामर्शदाता और मंत्री होते थे। उच्च पदों पर उनका एकाधिकार होता था। अपनी इस सर्वोपरिता के कारण ब्राह्मण लोग अंय जातियों और वर्णों के लोगों पर अनाचार और अत्याचार भी करते थे। इसीलिए साधारण जनता में ब्राह्मणों के विरुद्ध घोर असंतोष और विद्रोह उत्पन्न हो गया था।

2.3.4.2 धार्मिक कारण

(1) दुरूह कर्म-कांड बाह्य आडंबर

वैदिक धर्म की पुरातन शुचिता, शुभ्रता और सरलता लुप्त हो गई थी। अब धर्म का स्थान जटिल, निरर्थक कर्मकांड और धार्मिक आडंबर ने ले लिया था। धार्मिक संस्कार और विधियाँ बोझिल, खर्चीली, निरर्थक, अस्वाभाविक, दुरूह और विस्तृत हो गईं थीं। उन्हें विधिवत पूर्ण करना साधारण व्यक्तियों की शक्ति और सार्मथ्य के बाहर था।

(2) यज्ञों का बाहुल्य

वैदिक युग में यज्ञ सरल, सादे पवित्र और व्यक्तिगत होते थे। प्रत्येक गृहपति बिना किसी पुरोहित के स्वयं ही यज्ञ कर लेता था, परंतु ईसा पूर्व छठी सदी तक यज्ञों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गई, उनकी विधियों की जटिलता बढ़ गई और उनमें बहुमूल्य सामग्री की आवश्यकता होने लगी। कुछ यज्ञ तो वर्षों तक चलते थे। कुछ विशिष्ट अवसरों पर यज्ञों में मानवों और पशुओं की बलि भी दी जाती थी। यज्ञ ही धर्म का प्रमुख स्वरूप और मोक्ष प्राप्ति का साधन बन गया था। इन सब कारणों से जनता ने ब्राह्मण धर्म और यज्ञवाद का विरोध किया।

(3) वेद-वाद

वेदों को अपौरूषेय माना गया। ब्राह्मण धर्म में वेदों को सर्वोपरि माना गया। यहाँ तक कहा जाने लगा कि "वेदों में जो कुछ कहा गया है, वही धर्म है, उसके विरुद्ध जो कुछ भी है, वह अधर्म है।" सभी सत्यों, विधि-विधान, निषेधों और धार्मिक प्रमाणों तथा संस्कारों का आधार वेद मान लिये गये। आत्मोन्नति और मुक्ति के लिए वेदों का ज्ञान पर्याप्त माना गया, परंतु इस एक मात्र पुस्तक ज्ञान के प्रति असंतोष प्रकट किया गया। स्वतंत्र विचारकों और चिंतकों ने इस वेद-वाद का विरोध किया, उन्होंने इसकी कटु आलोचना की, क्योंकि इससे मनुष्य का बौद्धिक विकास कुण्ठित होता था और स्वतंत्र तर्क-वितर्क तथा अंय धार्मिक मतों के विकास के लिए मार्ग अवरूद्ध हो गया था।

(4) बहुदेववाद

ब्राह्मण धर्म में अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की गई और मोक्ष-प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं का पूजन-अर्चन, आराधना, समर्पण आदि आवश्यक माने जाने लगे, परंतु स्वतंत्र तार्किकों ने इस बहुदेववाद को मानव की मुक्ति के लिए निरर्थक बतलाया। उनका कथन था कि मनुष्य का कर्म ही उसका भाग्य-विधाता है।

(5) तंत्र-मंत्र और अंध-विश्वास

इस युग में तंत्र-मंत्र, जादू-टोने, भूत-प्रेत में लोगों का अंध-विश्वास बढ़ रहा था। लोगों का विश्वास था कि मंत्रों में देवी शक्ति होती है, मंत्रों से शत्रु का विनाश और युद्ध में विजय प्राप्त की जा सकती है, सुख-समृद्धि में वृद्धि हो सकती है, रोगों को दूर किया जा सकता है और देवी-देवता भी वश में किये जा सकते हैं। प्रगतिवादी बुद्धिजीवी लोगों ने इसका घोर-विरोध किया।

(6) धार्मिक साहित्य की क्लिष्टता

ब्राह्मण धर्म की दुरूहता, कर्म-कांड और धार्मिक क्रिया-विधियों की जटिलता के साथ-साथ धार्मिक ग्रंथों की संख्या में भी वृद्धि हुई और संस्कृत भाषा की क्लिष्टता बढ़ गई। धार्मिक साहित्य अत्यंत व्यापक हो गया। प्रत्येक धार्मिक ग्रंथ, संस्कार और कर्म-कांड के लिए पुरोहितों की आवश्यकता होने लगी। इससे पुरातन वैदिक धर्म जन-साधारण की समझ और सार्मथ्य के परे हो गया। साधारण जनता ऐसा सरल, सादा धर्म चाहती थी जो आडंबर और पांखडविहीन हो जो उनकी बोलचाल की भाषा में हो और जिसे वह भली-भाँति समझ सकें।

(7) कर्म, तप और ज्ञान मार्ग की दुरूहता

इस युग तक कर्म, तप और ज्ञान मार्ग के प्रतिपादन से जनता में धार्मिक दुरूहता और बौद्धिक परिभ्रांति उत्पन्न हो गई थी। ब्राह्मणों ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य धार्मिक क्रिया-विधियों, अनुष्ठानों, यज्ञों एवं संस्कारों को विधिवत् संपन्न करे। यह धार्मिक कर्म-कांड के सिद्धांतों का प्रचार किया। उनका मत था कि मनुष्य वन में घोर तपस्या करे, इंद्रिय-निग्रह करे, भौतिक सफलताओं पर अंकुश रखे एवं परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए मनन एवं ध्यान करने की शक्ति का विकास करे। कर्म और तपस्या के सिद्धांतों के अतिरिक्त तार्किकों और बुद्धिजीवियों ने ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि आत्मा ईश्वर का अविच्छिन्न अंग है। वह ईश्वर से संबंधित है। वह ईश्वर में एवं ईश्वर का है, अतएव उसे ईश्वर में ही विलीन होना चाहिए। उनका कथन था कि आध्यात्मिक प्रगति, सांसारिक मुक्ति एवं अनंत आनंद और सुख की प्राप्ति के हेतु आत्मा की पवित्रता और उसका ईश्वर में विलीन होना अनिवार्य है। कर्म, तप और ज्ञान मार्ग के ये सिद्धांत इतने गूढ़ और क्लिष्ट थे कि साधारण मनुष्य के लिए इन्हें भली-भाँति समझना और उनका अनुकरण करना दुष्कर था। साधारण लोग न तो सभी प्रकार के कर्म-कांड में और यज्ञों को विधिवत संपन्न ही कर सकते थे, न वे संसार को त्याग कर घने वनों में जाकर तपस्या ही कर सकते थे और न गहन चिंतन और मनन द्वारा अनंत ईश्वरीय ज्ञान ही प्राप्त कर सकते थे। ये सभी सिद्धांत स्थूल बुद्धि वाले साधारण मनुष्य के लिए अति दुर्बोध थे।

2.3.4.3आर्थिक कारण

(1) जन्मजात व्यवसायों की अपरिवर्तनशीलता

ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने अपनी चातुर्वण व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक जाति के और मनुष्यों के व्यवसाय निश्चित कर दिये थे, परंतु जातियों की बढ़ती हुई अधिकता, आर्थिक समस्याओं और व्यक्तिगत अभिरूचि के कारण कई लोग अपने जाति विरुद्ध व्यवसायों को नहीं कर पा रहे थे। जाति के व्यवसाय के विपरीत अंय व्यवसाय द्वारा जीविका निर्वाह करना अधर्म माना जाता था। इसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था भी थी। समाज में नवोदित जातियों और उप-जातियों के लोग नवीन व्यवसायों और धंधों को अपनाना चाहते थे, पर वे ऐसा नहीं कर सकते थे। परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के कारण जनता ने ब्राह्मणों की सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया और नवीन धर्मोपदेशकों ने इस विरोध को प्रोत्साहन दिया।

(2) व्यवसाध्य यज्ञ और धार्मिक कार्य

वैदिक संस्कृति के यज्ञ बहुधा दीर्घकालीन होते थे जिनमें यज्ञ की व्यवस्था पर, ब्राह्मणों की दान-दक्षिणा पर और यज्ञ की सामग्री पर अत्यधिक व्यय होता था। यज्ञ, अनुष्ठान एवं विविध धार्मिक कार्य और संस्कार अधिक व्ययसाध्य हो गये थे और इनको संपन्न करना सामान्य मनुष्य के सीमित आर्थिक साधनों से परे था। यह भी आर्थिक असंतोष का एक कारण बन गया था। इस आर्थिक असंतोष और द्वेष को बुद्धिवादी विचारकों ने तीव्रगति प्रदान की।

(3) उत्तर-पूर्वी भारत में कृषि और व्यापार में क्रांतिकारीविकास और भौतिक परिवर्तन

उत्तर वैदिककाल के बाद आर्यों का प्रसार उत्तर पूर्व की ओर हुआ। वे जंगल काटकर खेती करते गये। लोहे के अनेक उपकरणों के प्रयोग से यह कार्य सरल हो गया। लोहे के हल का उपयोग कृषि में होने लगा। कृषि और यंत्रों के तथा फसलों व पौधों के उन्नत ज्ञान के कारण कृषक अधिक अनाज उत्पन्न करने लगे। कम श्रम से अधिक उत्पादन की क्षमता बढ़ी। कृषि के विकास के अतिरिक्त लौह उपकरणों के बढ़ते हुए प्रयोग से अनेक शिल्पों तथा उद्योग धंधों में भी प्रगति हुई। इसके परिणामस्वरूप व्यवस्थापनों का पर्याप्त विकास तो हुआ ही है, शहरीकरण की युगांतकारी प्रक्रिया भी पहले उत्तर-पश्चिम में और फिर उत्तर भारत से पश्चिम में समुद्रतट की ओर तथा दक्षिण की ओर व्यापारिक मार्ग प्रारंभ हो गये। मुख्य व्यापारिक मार्ग गंगा नदी के इर्दगिर्द बिहार में राजगृह से कौशांबी से गुजरते थे और ये विदिशा तथा उज्जैन होते हुए पश्चिमी समुद्र तट पर भड़ौच तक पहुँचते थे। उज्जैन से एक मार्ग महेश्वर होते हुए दक्षिण में महाराष्ट्र में प्रतिष्ठान (पैठन) तक जाता था। जातक कथाओं में 500 से लेकर 1000 गाड़ियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने वाले व्यापारिक काफिलों का विशद विवरण है। उन्नत कृषि, बढ़ते हुए शिल्प व्यवसाय और व्यापार के कारण उत्तर भारत में अनेक नगरों का विकास हुआ। ईसा पूर्व 600 से 300 के बीच देश में 60 नगरों के अस्तित्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इनमें चंपा, राजगृह, कौशांबी, वैशाली, वाराणसी, कुशीनगर, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, उज्जैन, महेश्वर आदि प्रमुख थे। नगरों में अधिकतर व्यापारी, उद्योग-व्यवसायी, शिल्पी और शासक वर्ग के लोग रहते थे। अब शिल्पी उद्योगों के कारण उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र में विशिष्टीकरण का बोलबाला हो गया। इस युग में आहत मुद्राओं(सिक्कों) के प्रवचन से व्यापार में व्यापक विस्तार हुआ। विभिन्न कलाओं और शिल्पों ने व्यापार को मौद्रिक अर्थ व्यवस्था से पूरी तरह जोड़ दिया। शिल्पी, उद्योग-व्यवसायी और व्यापारी अपने-अपने हितों के संवर्धन के लिए संघों और श्रेणियों में गठित होने लगे। इन क्रांतिकारी परिवर्तनों के कारण शासक वर्ग तथा व्यापारी अत्यधिक धनी होने लगे। निजी संपत्ति की धारणा दृढ़ होने लगी और उसे सामाजिक मान्यता मिली। ग्रामों में कृषि का महत्व बढ़ जाने से भू-स्वामियों की मान-मर्यादा में वृद्धि हुई। अब वैदिकोत्तर काल में पशुओं की अपेक्षा कृषिभूमि से ही व्यक्ति की धन संपत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित की जाने लगी। नगरों में धनवान व्यापारी या श्रेष्ठी (सेठी) अपनी संपत्ति के कारण और गाँवों में गृहपति अपनी-अपनी कृषि भूमि के कारण समाज में महत्वपूर्ण होने लगे थे। अब पशु ही संपत्ति की इकाई नहीं था। संपत्ति का संचय विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन, व्यापार और कृषि के रूप में हो रहा था। इससे गाँवों और नगरों में नवीन वर्ग अस्तित्व में आये, नये धनवान वर्ग का उद्भव हुआ। इससे आर्थिक विषमताएँ भी उत्पन्न हो गयीं। इस भौतिक परिवर्तन से समाज में नवीन समस्याएँ और विषमताएँ बढ़ी। इनमें से अधोलिखित प्रमुख थीं।

(अ) उत्तर पूर्व भारत में कबाइली जीवन था। यहाँ आर्येत्तर जनजातियाँ थीं। ये छुट-पुट आबादी वाले ऊँची भूमि पर कुदाल से खेती करते थे और चावल तथा छोटे दाने वाली फसलों को उत्पन्न करते थे। वे

पशुओं को केवल माँसाहार के लिए पालते थे, कृषि में उनके उपयोग के लिए नहीं। जब आर्यों का प्रसार इस क्षेत्र में हुआ, तब यज्ञ विधान की परंपरा के कारण उन्होंने पशु-वध विशेष रूप से प्रचलित रखा। इस बीच नवीन कृषि प्रणाली में कृषि कार्य के लिए अधिकाधिक पशुओं की आवश्यकता बढ़ने लगी। लोगों ने अनुभव किया कि पशुओं की सुरक्षानितांत आवश्यक है। पशु वध चाहे आर्यों के वैदिक यज्ञों में हो या उत्तर पूर्व की जनजातियों में हो अब यह अनावश्यक परंपरा मान ली गयी थी। पशुधन कृषि का मुख्य आधार बन गया था। धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ और माँसाहारी जीवन इस पशुधन के निरर्थक सर्वनाश के साधन माने जाने लगे थे।

अतः पशु-वध की निंदा की जाने लगी और पशुओं को सुख देने वाला और अन्न देने वाला कहा जाने लगा। अब धर्मोपदेशक पशु-वध विरोध करने लगे और वे अहिंसा का उपदेश देने लगे। उपनिषदों में भी पशु-वध की कटु आलोचना की गयी।

(ब) औद्योगिकी और लौह शिल्पकला के ज्ञान से अप्रभावित रहने वाली अनेक आर्येत्तर जनजातियाँ आर्यों के जीवन में व्याप्त भौतिक समृद्धि की तुलना में बहुत ही निम्न स्तर का जीवन व्यतीत कर रहीं थीं। आदिम जनजातियाँ लौह यंत्रों के ज्ञान और कृषि-संस्कृति से ओत-प्रोत वर्णविभक्त समाज से अलग-थलग रहकर मुख्यतया शिकारियों और बहेलियों का जीवन व्यतीत कर रहीं थीं, वे वन की उपज पर जीवन-निर्वाह कर रहीं थीं। उनके सांस्कृतिक पिछड़ेपन और हेय व्यवसायों के कारण वैदिकोत्तरकाल में समाज में अस्पृश्यता का विकास हो गया, छुआ-छूत और ऊँच-नीच की भावना बढ़ गयी। नवीन धर्मोपदेशकों और विचारकों ने इसका विरोध किया।

(स) पूर्वोत्तर भारत का प्राचीन जनजातीय जीवन नये सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के लिए अब उपयोगी नहीं रह गया था। वैदिक संस्कृति के अंय तत्व उनके समाज में घर कर गये, जैसे-जाति-व्यवस्था, यज्ञवाद, पुरोहितों का प्रभुत्व, वेदवाद, व्यापारियों और श्रेष्ठी वर्ग की धन संपन्नता आदि। समाज में निर्धनता, उसके कारण अस्पृश्यता, चोरी, झूठ, हिंसा, घृणा, बर्बरता आदि सामाजिक दोष भी बढ़ गये। इससे प्राचीन जीवन प्रणाली और नवोदित सामाजिक समूहों की आकांक्षाओं में परस्पर टकराव होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में ऐसे नवीन सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों की खोज हुई जो एक ओर तो जनता के नये भौतिक जीवन की समृद्धि और उसमें बुनियादी परिवर्तनों के अनुरूप हों और दूसरी ओर समाज में व्याप्त कुप्रथाओं जैसे पशुवध, क्रूरता, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच, पुरोहिती प्रभुत्व, वेदवाद, यज्ञवाद आदि पर कठोर प्रहार कर उनका उन्मूलन कर सकें।

फलतः ईसा पूर्व छठी सदी में गंगा-घाटी के क्षेत्र में वैदिक धर्म और समाज में व्याप्त कुप्रथाओं के विरुद्ध प्रचार के लिए अनेक धर्मोपदेशकों का आविर्भाव हुआ।

2.3.5 धार्मिक आंदोलन

छठी शताब्दी ई. पू. में हुई क्रांति के कारणों से उत्तरी भारत में चारों ओर तीव्र असंतोष उत्पन्न हो गया। लोग पुरातन धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने लगे, उनकी कटु आलोचना करने लगे और तत्कालीन व्यवस्था में सुधार करने के लिए अपने-अपने मत प्रकट करने लगे। फलतः बौद्धिक और धार्मिक आंदोलन प्रारंभ हो गये। ईसा पूर्व छठी सदी में वैशाली, कपिलवस्तु आदि राज्यों में गणराज्य थे और उनमें प्रजातांत्रिक वातावरण था। इससे जनसाधारण में स्वतंत्रता की प्रवृत्ति जागृत हुई। इस प्रवृत्ति के साथ-साथ लोगों में सत्यान्वेषिणी दृष्टि और अद्भुत तर्कशीलता का विकास हुआ। इन्होंने अंध श्रद्धा पर आश्रित धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों का खंडन किया, पुरातन धर्म ग्रहण करने के पूर्व

उसे भली-भाँति परख लेना चाहा, सत्य का अनुसंधान किया और सरल, सादे पवित्र, व्यावहारिक धर्म की खोज की। फलतः अनेक धार्मिक आंदोलन प्रारंभ हुए।

विभिन्न विद्वानों, धर्माचार्यों, परिव्राजकों, प्रगतिवादियों, सुधारवादियों, धार्मिक प्रचारकों, मीमांसकों एवं स्वतंत्र विचारकों ने अपने-अपने सिद्धांतों और मतों का प्रचार किया। फलस्वरूप कई संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। इन संप्रदायों में जैन और बौद्ध संप्रदाय स्थायी हो गये।

2.3.5.1 महावीर स्वामी

जैनों के अनुसार उनके धर्म का प्रारंभ सुदूर अतीत में हुआ। उनका विश्वास है कि महावीर अंतिम तीर्थंकर थे जिनसे पहले 23 तीर्थंकर और हो चुके थे, इनमें से प्राचीनतम के बाद वाले अर्थात् दूसरे पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते हैं, परंतु अंय तीर्थंकरों की आकार रेखाएँ नितांत अस्पष्ट और अतर्क्य जन-विश्वासों से ढकी हैं। पार्श्वनाथ काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उन्होंने तप की तुष्टि के अर्थ राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया। उनके मुख्य उपदेश चार थे - (1) अहिंसा (2) सत्यभाषण (3) अस्तेय और (4) संपक्ति का त्याग। ज्ञात नहीं पाश्र्व कहाँ तक अपने प्रचार में सफल हुए, परंतु 250 वर्ष बाद होने वाले चैबीसवें तीर्थंकर महावीर ने निस्संदेह धर्म को विशेष प्रतिष्ठा दी। महावीर का प्राकृत नाम वर्धमान था। वैशाली के समीप कुंडग्राम में उनका जन्म हुआ था। क्षत्रिय ज्ञात्रिक कुल के प्रधान सिद्धार्थ के वे पुत्र थे और उनकी माता त्रिशला उस लिच्छवि 'राजा' चेटक की भगिनी थी जिसकी कन्या चेल्लना राजा बिंबिसार की रानी थी। इस प्रकार वर्धमान का कुल अभिजातवर्गीय था और इस बात से उनके प्रचार कार्य में बड़ी सहायता मिली होगी। 30 वर्ष तक सुखी गृहस्थ का जीवन बिता वर्धमान प्रव्रजित हो गये, फिर उन्होंने कठिन तप किया और 12 वर्ष के लंबे तप से अपने शरीर को सर्वथा दुर्बल कर दिया। अंत में उनको 'कैवल्य' प्राप्त हुआ और उनकी संज्ञा 'निर्ग्रन्थ' (बंधन रहित) अथवा 'जिन' (विजयी) हुई। इसी जिन से उनके अनुयायियों की जैन संज्ञा पड़ी। इसके तीस वर्ष बाद 72 वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु तक महावीर मगध, अंग, मिथिला और कोशल में निरंतर अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। पाश्र्व के चारों सिद्धांतों को अपनाकर उन्होंने अपना पाँचवाँ शुद्ध पवित्रता का सिद्धांत जोड़ा। वसन त्यागकर वे दिगंबर घूमते रहे। कुछ विद्धानों ने जैनधर्म के श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायों का उदय महावीर के इसी आचरण से माना, परंतु इसे स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि जैन संघ में विच्छेद तृतीय शती ई. पू. में हुआ जब भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत को अकालपीड़ित गए हुए जैन लौटे। 527 ई. पू. के लगभग महावीर का देहांत आधुनिक पटना जिले की पावापुरी में हुआ।

2.3.5.2 जैन सिद्धांत

जैन वेद की सत्ता और प्रमाण को स्वीकार नहीं करते और न वे यज्ञों के अनुष्ठान को ही महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु में, परमाणु तक में, जीव होता है और वह चेतन है। इसका फल हुआ उनका अर्थरहित अहिंसक दृष्टिकोण। छोटे से छोटे जीव के प्रति हिंसा का विचार उनके लिए अत्यंत अग्राह्य और असह्य हो उठा। परिणामतः हिंसा की दृष्टि से यह धर्म अदभुत वैषम्य का केंद्र हो उठा, क्योंकि ऐसी भी उदाहरण इतिहास में प्रस्तुत है कि जैन राजा ने पशु की हत्या के अपराध में मनुष्य को प्राणदंड की आज्ञा दे दी। जैन संसार के चेतन स्पष्टा, उसके पालनकर्ता अथवा व्यापक परमात्मा को नहीं मानते। उसके अनुसार 'ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तिकरण है जो मनुष्य की आत्मा में निहित होती है'। जैन जीवन का लक्ष्य भौतिक बंधनों से मोक्ष है। आत्मा का बंधन कर्मों के फलस्वरूप है। पूर्वजन्म के कर्मों का नाश और इह जन्म में उनका अनस्तित्व ही मोक्षदायक है और कर्मों का नाश सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार के त्रिरत्नों के साधन से होता है। जैन कठोर तप

को बड़ा महत्व देते हैं। यौगिक प्रक्रियाओं और आमरण अन्न त्याग का भी उनके यहाँ विशेष महत्व है। उनका विश्वास है कि तप और संयम से आत्मा को शक्ति मिलती है तथा निकृष्ट प्रवृत्तियाँ दबी रहती हैं।

2.3.5.3 महात्मा बुद्ध

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म भी एक मेधावी अभिजातकुलीय क्षत्रिय द्वारा प्रचारित हुआ। उसका गोत्र नाम गौतम था, परंतु प्रसिद्ध वह अपने आध्यात्मिक नाम बुद्ध से ही हुआ। कपिलवस्तु के समीप लुंबिनी वन (आधुनिक रूम्मिन्देह अथवा रूपदेहि गाँव) में माया की कोख से वह जन्मा। उसका पिता शुद्धोदन मनस्वी शाक्य जाति का 'राजा' (प्रधान) था। अपने पुत्र की चिंतन प्रवृत्ति देख उसने उसका विवाह अल्पायु में ही गोपा (यशोधरा) से कर दिया और उसके प्रासाद को विलास के सारे साधनों से भर दिया, परंतु दुखी और विषादग्रस्त संसार के बीच भोग के इन उपकरणों से गौतम के आकुल चिंतन को शांति न मिली। तब सन्यस्त जीवन से शांति लाभ करने के अर्थ अपनी आयु के 29वें वर्ष में अपनी तरूणी भार्या गोपा और सद्यःजात शिशु राहुल को प्रासाद में छोड़ एक रात वह प्रव्रजित हो गया। आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त के आश्रय में कुछ काल निवास और अध्ययन कर चुके पर और युग के उन दो मेधावियों के अध्यापन से भी जब उसकी जिज्ञासा न मिटी तब गौतम आधुनिक बोधगया के समीप उरबेला के घने वन में घोर तप के अर्थ प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने अपनी काया को असाधारण यातना देकर इतना तपाया कि वह अस्थि-पंजर मात्र रह गई, परंतु अपने लक्ष्य से वह फिर भी उतना ही दूर रहा जितना पहले था। तब उसने तप से विरक्त होकर शरीर यातना छोड़ दी और सुजाता द्वारा लाए स्वादु भोजन को अंगीकार कर वह अभितृप्त हुआ। सुजाता वृक्षदेवता को तुष्ट करने के लिएपायस लेकर आई थी, फिर पीपल के नीचे तृण के आसन पर बैठे हुए एक रात उसे सहसा सत्य के दर्शन हुए। अपनी आयु के 35वें वर्ष में गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। पहले ही इस विषय में उसके प्रबुद्ध मन का बड़ा तर्क-वितर्क हुआ कि वह असाधारण सत्य तृष्णागत मानवों को देना कहाँ तक उपादेय होगा, परंतु अंत में अपने ज्ञान का आलोक उन तक पहुँचाने का निश्चय कर बुद्ध ने सारनाथ में धर्म-चक्र का पहला प्रवर्तन किया।

बुद्ध के नए धर्म के पहले श्रद्धालु वे ही पंचभद्रवर्गीय ब्राह्मण हुए जिन्होंने उसे उरूबेला में तप से विरक्त होते देख तृष्णा से अभिभूत जानकर त्याग दिया था। उसके भावी जीवन के शेष पैतालिस वर्ष अनवरत् श्रम और सक्रियता के थे। उसने अपना संदेश जनता से उसकी नित्य की बोली में कहा और अपने उपदेशों की शालीनता, करूणा, आचारजन्य गौरव तथा गहरी संवेदना से उसने अपने श्रोताओं के चित्त हर लिए। राजा और रंक सबने उसे अपना अनुराग दिया और अल्पाकाल में ही उसके अनुयायियों का एक शक्तिमान 'संघ' संगठित हो गया।

दीर्घ काल तक अनवरत् प्रचार के बाद धर्म का यह महारथी रूका और अस्सी वर्ष की परिपक्व आयु में कुशीनगर (गोरखपुर जिले) में उसने निर्वाण प्राप्त किया।

2.3.5.4 बौद्ध सिद्धांत

बुद्ध के उपदेश सर्वथा सरल और प्रायोगिक हैं। उन्होंने घोषणा की कि संसार में सब कुछ अनित्य है क्षणभंगुर (सर्वअनिच्चं)। अपने समकालीन दार्शनिकों की भाँति वह भी जन्म को दुःख मानते थे, परंतु दुःख और विषाद की कठोरता से वह नितांत व्यथित थे। इसी कारण दुःख के विश्लेषण और उसके शमन के उपाय के प्रति वह अधिक दत्तचित्त हुए। अत्यंत मनोयोग से उन्होंने चार आर्यसत्यों का प्रचार किया। चार आर्यसत्य निम्नलिखित थे (1) दुःख है (2) दुःख का कारण (दुक्ख-समुदाय) है - (3) दुःख का निरोध है और (4) दुःख के निरोध के मार्ग (दुक्ख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा) है। बुद्ध के अनुसार सारे मानव दुःखों का कारण तृष्णा (तन्हा) है और इसका नाश ही दुःख का अंत करने का एकमात्र उपाय है। 'तन्हा'

का नाश 'अष्टांगिक मार्ग' के सेवन से ही साध्य है। यह अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित हैं- (1) सम्यक् दृष्टि (विश्वास) (2) सम्यक् संकल्प (विचार) (3) सम्यक् वाक् (वचन) (4) सम्यक् कर्मात (कर्म) (5) सम्यक आजीव (वृत्ति) (6) सम्यक् व्यायाम (श्रम) (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् समाधि। बुद्ध ने इसे मध्यम मार्ग (मज्झिम-मग्ग) कहा क्योंकि यह अत्यंत विलास और अत्यंत तप दोनों के बीच का था। उनको मनसा, वाचा, कर्मणा, सर्वथा पवित्रता रखनी थी। इस अर्थ बुद्ध ने दस प्रकार के निम्नलिखित निषेध किए जिनमें से पहले पाँच साधारण उपासक के आचरण में भी वर्जित थे - (1) परद्रव्य का लोभ (2) हिंसा (3) मद्यपान (4) मिथ्या भाषण (5) व्याभिचार (6) संगीत और नृत्य में भाग लेना (7) अंजन, फूल और सुवासित द्रव्यों का प्रयोग (8) अकाल भोजन (9) सुखप्रद शय्या का उपयोग और (10) द्रव्य ग्रहण। इस प्रकार बुद्ध ने आचार के काफी कड़े नियम बनाए, परंतु दार्शनिक चिंतन को आध्यात्मिक उन्नति में बाधक कह कर निषिद्ध किया। बुद्ध की सबसे क्रांतिकारी घोषणा यह थी कि उसके सन्देश सबके लिए हैं। नर और नारी, युवा और वृद्ध, श्रीमान् और कंगाल सभी समान रूप से उस पर आचरण कर सकते हैं।

2.3.5.5 जैन और बौद्ध धर्मों की तुलना

दीर्घकाल तक लोगों का विश्वास था कि जैन संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय की अथवा बौद्ध संप्रदाय जैन धर्म की शाखा है। अब इस प्रकार के विचार अप्रमाणित हो गए हैं यद्यपि दोनों संप्रदायों की पारस्परिक समानताएँ अनेक हैं। दोनों वेदों को प्रमाण नहीं मानते और कर्मकांड के विरोधी हैं। दोनों ईश्वर के प्रति उदासीन रहे और दोनों ने वर्ण व्यवस्था पर प्रहार किया। दोनों ने अहिंसा पर जोर दिया और व्यक्ति के पुनर्जम का कारण कर्म बताया। दोनों ने जन विश्वासों को प्रश्रय दिया। इसमें संदेह नहीं कि ये समानताएँ असाधारण हैं, परंतु इनकी पारस्परिक विषमताएँ भी कम महत्व की नहीं हैं। बौद्ध संप्रदाय 'अनात्मवाद' को मानता है, परंतु इसके विरोध में जैन प्रत्येक वस्तु में जीव का निवास मानते हैं। शरीर की यातना को जहाँ जैन इतना गौरव प्रदान करते हैं, बौद्ध अत्यंत विलास और अत्यंत तप के बीच के मध्यम मार्ग को सराहते हैं। बंधच्छेद और निर्वाण के संबंध में भी उनके विचार सर्वथा समग्र नहीं हैं। समान काल में उदित समान देश में प्रचारित होने के कारण जैन और बौद्ध संप्रदायों में समानता स्वाभाविक थी, परंतु उनके पारस्परिक विरोध भी इतने गहरे थे कि दोनों में प्रायः स्पर्धा और ईष्या के भाव जग उठते थे।

2.3.6 क्रांति का महत्व

छठी शताब्दी ई. पू. भारत में घटित धार्मिक क्रांति का भारतीयों के जीवन में बहुत महत्व है। वास्तव में यह क्रांति इतिहास में एक नये युग का आरंभ करती है और इसका महत्व निम्नांकित है-

2.3.6.1 राजनीतिक महत्व

छठी शताब्दी ई. पू. के इतिहास को वैदिक काल का इतिहास धार्मिक कहा जाता है। इस काल का राजनीतिक इतिहास जानने के हमारे एकमात्र साधन धार्मिक ग्रंथ हैं जिनमें यत्र-तत्र राजनीतिक तथ्य भी बिखरे हुए मिलते हैं इन्हीं तथ्यों का संग्रह करके तथा भाषा-शैली के सहारे इस युग के इतिहास का निर्माण किया गया। अतएव यह इतिहास न तो निर्भ्रान्त है और न श्रंखलाबद्ध, परंतु छठी शताब्दी ई. पू. के तथा उसके बाद का इतिहास जानने में हमें प्रचुर साधन प्राप्त हो जाते हैं इससे इस काल का राजनीतिक इतिहास असंदिग्ध तथा श्रंखलाबद्ध हो गया।

2.3.6.2 सामाजिक महत्व

छठी शताब्दी ई. पू. की क्रांति का सामाजिक क्षेत्र में भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इस क्रांति ने ब्राह्मणों की सत्ता को कम कर दिया और क्षत्रियों के प्रभाव में वृद्धि कर दी। वास्तव में इस क्रांति के प्रधान नेता क्षत्रिय ही थे अतएव उन्होंने अपने को समाज में सर्वश्रेष्ठ स्थान ¬प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस क्रांति ने जाति-प्रथा को उन्मूलित कर समाज को समानता के आधार पर फिर से संगठित करने का प्रयत्न किया।

2.3.6.3 सांस्कृतिक महत्व

इस क्रांति का सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी बहुत बड़ा महत्व है। वैदिक साहित्य केवल संस्कृत भाषा में था जिसमें केवल ब्राह्मण ही लाभ उठा सकते थे, परंतु छठी शताब्दी ई. पू. तथा उसके बाद का साहित्य लौकिक संस्कृत तथा जन-साधारण की पाली प्राकृत भाषाओं में लिखा गया है। इससे सभी जिज्ञासु लाभ उठा सकते हैं। वैदिक कालीन कला पूर्ण-रूप से धर्म प्रभावित थी, परंतु छठी शताब्दी ई. पू. की कला में भौतिकता का प्रादुर्भाव हो गया। इसके अतिरिक्त इस क्रांति के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार विदेशों में भी हो गया है। बड़े-बड़े सुधारक तथा प्रचारक विदेशों में गये और वहाँ पर उन्होंने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया। इससे भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो गया और उनके साथ निरंतर विचार-विनिमय चलता रहा।

2.3.6.4 धार्मिक महत्व

इस क्रांति का धार्मिक दृष्टिकोण में सबसे अधिक महत्व है। इस क्रांति के फलस्वरूप हमारे देश में बड़े-बड़े विचारक, दार्शनिक तथा सुधारक हुए जिन्होंने नई-नई धार्मिक विचार-धाराओं को जन्म दिया और नये-नये धर्मों तथा संप्रदायों की स्थापना की जिनका भारतीयों के जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा। इसके पहले वेद प्रामाणिक ग्रंथ तथा ज्ञान के एकमात्र साधन समझे जाते थे, परंतु अब वेदों की प्रामाणिकता का विरोध होने लगा और तर्क तथा विवेचन को ज्ञान का सच्चा साधन बतलाया गया। पहले यज्ञों तथा बलि को ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना जाता था और इसमें ब्राह्मणों की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी, परंतु अब बिना किसी की सहायता केवल भक्ति तथा उपासना द्वारा अथवा अहिंसा, सत्कर्म तथा सदाचार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती थी। यह नये मार्ग बड़े ही सरल थे। अतएव यह बड़े लोक-प्रिय बन गये। इस क्रांति ने भारतीय दर्शन की वृद्धि में भी बड़ा योग दिया। इसी क्रांति से स्वतंत्र चिंतन पर आधारित साहित्य का जन्म हुआ जो अतुलनीय तथा अवर्णनीय है।

2.3.7 सारांश

छठी शताब्दी ई. पू. में हुई क्रांति के कारणों से उत्तरी भारत में चारों ओर तीव्र असंतोष उत्पन्न हो गया। लोग पुरातन धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने लगे, उनकी कटु आलोचना करने लगे और तत्कालीन व्यवस्था में सुधार करने के लिए अपने-अपने मत प्रकट करने लगे। फलतः बौद्धिक और धार्मिक आंदोलन प्रारंभ हो गये।

महावीर स्वामी - महावीर अंतिम तीर्थंकर थे। उनका वास्तविक नाम वर्धमान था। उनके मुख्य उपदेश चार थे - (1) अहिंसा (2) सत्यभाषण (3) अस्तेय और (4) संपत्ति का त्याग।

30 वर्ष तक सुखी गृहस्थ का जीवन बिता वर्धमान प्रव्रजित हो गये। फिर उन्होंने कठिन तप किया और 12 वर्ष के लंबे तप से अपने शरीर को सर्वथा दुर्बल कर दिया। अंत में उनको 'कैवल्य' प्राप्त हुआ और उनकी संज्ञा 'निर्ग्रन्थ' (बंधन रहित) अथवा 'जिन' (विजयी) हुई। इसी जिन से उनके अनुयायियों की जैन संज्ञा पड़ी।

जैन सिद्धांत - जैन वेद की सत्ता और प्रमाण को स्वीकार नहीं करते और न वे यज्ञों के अनुष्ठान को ही महत्व देते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु में, परमाणु तक में, जीव होता है और वह चेतन है। जैन कठोर तप को बड़ा महत्व देते है। यौगिक प्रक्रियाओं और आमरण अन्न त्याग का भी उनके यहाँ विशेष महत्व है।

महात्मा बुद्ध - बुद्ध का वास्तविक नाम गौतम था। दुखी और विषादग्रस्त संसार के बीच भोग के बीच गौतम को शांति न मिली। तब संयस्त जीवन से शांति लाभ प्राप्त करने हेतु 29 वर्ष की आयु में उन्होंने पत्नि, बालक एवं राज प्रासाद को छोड़ दिया। अपनी आयु के 35वें वर्ष में गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। इसीलिए उनके अनुगामी बौद्ध कहलाये।

बौद्ध सिद्धांत - चार आर्यसत्य हैं - (1) दुःख है (2) दुःख का कारण (दुक्ख-समुदाय) है - (3) दुःख का निरोध है और (4) दुःख के निरोध के मार्ग (दुक्ख-निरोधगामिनी-प्रतिपद) है। अष्टांगिक मार्ग है - (1) सम्यक् दृष्टि (विश्वास) (2) सम्यक् संकल्प (विचार) (3) सम्यक् वाक् (वचन) (4) सम्यक् कर्मात (कर्म) (5) सम्यक आजीव (वृत्ति) (6) सम्यक् व्यायाम (श्रम) (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् समाधि।

2.3.8 बोध प्रश्न

2.3.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. क्रांति से क्या तात्पर्य है ?
2. धार्मिक क्रांति का परिचय दीजिये।
3. भारत में हुई धार्मिक क्रांति से क्या समझते हैं ?
4. धार्मिक क्रांति के सामाजिक कारणों का उल्लेख कीजिये।
5. धार्मिक क्रांति के धार्मिक कारणों को रेखांकित कीजिये।
6. धार्मिक क्रांति के आर्थिक कारणों पर टिप्पणी लिखिये।
7. धार्मिक क्रांति का सांस्कृतिक महत्व बताइये।
8. धार्मिक क्रांति के धार्मिक महत्व को स्पष्ट कीजिये।
9. धार्मिक क्रांति के सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व पर प्रकाश डालिये।
10. धार्मिक आंदोलन का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

2.3.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. क्रांति से आप क्या समझते हैं ? धार्मिक क्रांति की व्यापकता पर प्रकाश डालिये।
2. छठी शताब्दी ई. पू. में घटित धार्मिक क्रांति के कारणों का वर्णन कीजिये।
3. महावीर स्वामी एवं जैन सिद्धांतों की विवेचना कीजिये।
4. गौतम बुद्ध एवं बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का समालोचनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिये।
5. छठी शताब्दी ई. पू. में घटित धार्मिक क्रांति के महत्व की समीक्षा कीजिये।
6. छठी शताब्दी ई. पू. में घटित धार्मिक क्रांति पर एक निबंध लिखिये।
7. महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध के जीवन एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।
8. जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की विवेचना कीजिये।

2.3.9 संदर्भ

1. सहाय, एस. एस. : प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, दिल्ली, 1992
2. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
3. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
4. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
5. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
6. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1975
7. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
8. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
9. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
10. सहाय, एस. एस. : हिंदु सामाजिक संस्थायें एवं आर्थिक जीवन, दिल्ली, 1992
11. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, 1984
12. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
13. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
14. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
15. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
16. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
17. लूनिया, बी. एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989
18. लूनिया, बी. एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
19. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
20. शर्मा, एल. पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
21. अल्तेकर, ए. एस. : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, दिल्ली, 1944
22. चौधरी, आर. के. : प्राचीन भारत में शासन प्रणाली, दिल्ली, 1947
23. मिश्र, उर्मिला प्रकाश : प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 1980
24. बाजपेयी, के. डी. : प्राचीन काल में भारत के विदेशों से संबंध, लखनऊ, 1970
25. दीक्षित, प्रेम कुमारी : प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, लखनऊ, 1977

खंड - 2 धर्म एवं संस्कृति
इकाई- 4 गुप्तकालीन धर्म एवं संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

2.4.1 उद्देश्य
2.4.2 प्रस्तावना
2.4.3 गुप्तकालीन धर्म
2.4.3.1 ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का नवोत्थान
2.4.3.2 धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण
2.4.3.3 गुप्तकालीन धर्म की विशेषतायें
2.4.4 गुप्तकालीन संस्कृति
2.4.4.1 गुप्तकालीन संस्कृति की विशेषतायें
2.4.4.2 गुप्तकालीन समाज
2.4.4.3 गुप्तकालीन साहित्य
2.4.5 सारांश
2.4.6 बोध प्रश्न
2.4.6.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
2.4.6.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
2.4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.4.1 उद्देश्य

गुप्त-काल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जाता है।गुप्त-काल को स्वर्ण-युग कहा जाने के लिए इस युग में हुई चतुर्दिक उन्नति उत्तरदायी है। इस काल में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में असीमित उन्नति हुई। इन्हीं कारणों से गुप्त युग की तुलना अंय विश्व प्रसिद्ध युगों से की जाती है और गुप्त-युग को 'क्लासिकल एज' कहा जाता है। गुप्तकाल में भारतीय धर्म एवं संस्कृति की विशेष उन्नति हुई। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य गुप्तकालीन धर्म एवं संकृति पर प्रकाश डालना है।

2.4.2 प्रस्तावना

गुप्त सम्राटों ने अपने पराक्रम एवं वीरता के बल पर उन्होंने प्रायः समस्त भारतवर्ष को एकता के सूत्र में आबद्ध कर लिया था। गुप्त राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने वैदिक धर्म के उत्थान के लिये विशेष प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का भारत से पतन होना आरंभ हुआ और वैदिक धर्म का उत्थान होने लगा। गुप्त राजा यद्यपि वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे, किंतु उनकी धार्मिक नीति अंय धर्म के प्रति सदा उदार रही। गुप्तकालीन संस्कृति की उत्कृष्टता में तत्कालीन सामाजिक स्थिति एवं साहित्य सृजन तथा उनके संकलन का विशेष योगदान है। प्रस्तुत इकाई में गुप्तकालीन धर्म एवं संस्कृति के प्रत्येक पहलू की विस्तार से विवेचना की जाना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची दी जाना भी प्रस्तावित है।

2.4.3 गुप्तकालीन धर्म

2.4.3.1 ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का नवोत्थान

गुप्तकाल का स्वर्ण-युग, ब्राह्मण नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण का काल नहीं, परंतु ब्राह्मणों का पूर्ण विकसित परिप्लावित दैदीप्यमान युग था - सर्व विदित है कि भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण-युग कहा गया है। यह काल नवोत्थान काल या पुनर्जागरण युग के नाम से भी प्रख्यात है और यूरोपीय लेखकों ने यूनान देश के इतिहास में पेरीक्लीज के युग से इसकी तुलना की है, क्योंकि इस युग में ही राष्ट्रीय अंतरात्मा को जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्रीय-जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, आर्थिक, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में हुई, अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है, राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय अंतरात्मा हिंदू शासन का पुनर्जागरण कर प्रस्फुटित हुई थी। शक, क्षत्रय, कुषाण और यूनानी जैसे विदेशी शासकों की राजनीतिक प्रभुता और प्रधानता नष्ट कर गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में राष्ट्रीय स्वतंत्रता दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दी गयी व हिंदू साम्राज्यवाद की नींव डाली गयी। राष्ट्रीय प्रवृत्ति का यह एक अंग था। इसका दूसरा महत्वशाली स्वरूप ब्राह्मण संस्कृति और धर्म का पुनरुद्धार था।

2.4.3.2 धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण

गुप्त सम्राट वैष्णव होने पर भी अंय धर्मों के प्रति अत्यधिक उदार और सहिष्णु थे। उनके शासनकाल में विभिन्न मतावलंबियों को अपने-अपने धार्मिक विश्वास और पूजा-उपासना तथा अनुष्ठान आदि करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। धार्मिक विषयों में गुप्त सम्राट अत्यंत उदार थे। समुद्र गुप्त ने वैष्णव होने पर भी राजकुमारों की शिक्षा के लिए बौद्ध आचार्य बसुबंधु को नियुक्त किया था। गुप्त सम्राट नरसिंहगुप्त बुधगुप्त और तथागत बौद्ध थे सम्राट कुमार गुप्त शैव था, उसका ज्येष्ठ पुत्र बौद्ध था और छोटा पुत्र स्कंदगुप्त वैष्णव था। धर्मों में विभिन्नता होने पर भी गुप्त सम्राट शैव, वैष्णव और बौद्ध धर्म के अनुयायियों को राजसेवा और शासन में उदारतापूर्वक बिना किसी धार्मिक भेदभाव और विद्वेष के नियुक्त करते थे। शैव मतावलंबी मंत्री हरिषेण साव और वीरसेन साव तथा बौद्ध वसुबंधु की नियुक्ति इसके उदाहरण हैं। गुप्त सम्राट बौद्ध मठों, बिहारों, जैन मंदिरों, ब्राह्मणों तथा हिंदू देव-स्थानों की, विभिन्न संप्रदायों को बिना किसी धार्मिक भेदभाव के उदारता से दान देते थे। नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध बिहार का शिलान्यास और उसके वैभव का सूत्रपात वैष्णव गुप्त सम्राटों के दान से ही हुआ था।

2.4.3.3गुप्तकालीन धर्म की विशेषतायें

गुप्तकाल में धार्मिक क्षेत्र में राष्ट्रीय प्रवृत्ति उस रूप में प्रकट हुई जिसे मैक्समूलर जैसे विद्वान ने हिंदू नवाभ्युत्थान कहा है और फलतः गुप्तकाल ब्राह्मणों के पुनरुद्धार का युग माना गया है। परंतु इस युग के धार्मिक उत्साह के अनुराग का सूक्ष्म परीक्षण यह प्रमाणित करता है कि इस युग में ब्राह्मण धर्म के नवाभ्युत्थान जैसी घटना न तो थी और न होने का कोई कारण ही हो सकता था, क्योंकि मौर्यों के पतन और गुप्त सम्राटों के अभ्युदय के मध्यकाल में ब्राह्मण धर्म मरणासन्न नहीं था। अनेक विदेशी, जैसे यवनदूत हेलीओडोरस, उज्जैन के शक क्षत्रप और कुछ कुषाण नरेश ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से प्रसन्न हो गये थे। ब्राह्मण धर्म में उस समय भी ऐसी जीवनशक्ति और चेतनत्व था कि विदेशी लोग उससे अत्यधिक आकर्षित और प्रभावित होते थे। इनके अतिरिक्त मौर्य युग के पश्चात् गौतमी पुत्र शातकर्णी जैसे भारतीय नरेशों ने अपने सुधार के कार्यों द्वारा ब्राह्मण धर्म की परंपरा और अनुश्रुति को बनाये रखा था। वस्तुतः समुचित रूप से ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार गंगा की घाटी में शुंग राजवंश के प्रतिष्ठाता पुष्यमित्र के समय से ही चला आ रहा था और दक्षिण में तो अनेक राजवंशों का उत्कर्ष होता रहा जो वाजपेय और अश्वमेघ-

यज्ञों के समान वैदिक विधियों और क्रियाओं को बारंबार करने में अपना महान गौरव समझते थे। अतएव गुप्तकाल में तो ब्राह्मण नवाभ्युत्थान का प्रश्न उठता ही नहीं। कालिदास के ग्रंथों से बौद्धिक पुनर्जागरण अथवा साहित्यिक कृतित्व के पुनरुत्थान के संकेत नहीं प्राप्त होते हैं। वे प्राचीन काल में उद्भूत साहित्यिक स्वरूपों और शैलियों के विकास के द्योतक ही माने जाते हैं गुप्त सम्राटों ने वैष्णव और शैवमत नामक दो ब्राह्मणमार्गी संप्रदायों को संरक्षण प्रदान किया, परंतु इस संरक्षण से और वैष्णव मत शैवमत के सिद्धांतों से भी किसी धार्मिक पुनरुत्थान का बोध नहीं होता है। इन दोनों संप्रदायों के मूल सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे। अब गुप्त युग में सामंती जीवन के उद्भव के नये संदर्भ में वे अधिक से अधिक अनुयायियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। इसके अतिरिक्त धार्मिक जागृति और पुनरुद्धार के युग में धर्मोंमाद के कारण सदैव आतंक, संपीडन और हत्याएँ होती रहती हैं, परंतु गुप्तकाल किसी भी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता, धर्मोंमाद तथा आंतक से मुक्त रहा है। चंद्रगुप्त का प्रसिद्ध सेनापति अम्रकार्द्रब बौद्ध धर्मानुयायी था और बौद्ध धर्मावलंबी प्रख्यात वसुबंधु समुद्रगुप्त का घनिष्ठ मित्र व अधिकारी था। फाह्यान के मतानुसार गुप्त सम्राट बौद्धों को भी राज्याश्रय देते थे। उपरोक्त प्रमाणों के प्रकाश में कुमारस्वामी का यह निष्कर्ष स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा कि गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार ही नहीं हुआ था, अपितु वह अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पहुँच चुका था।

गुप्त सम्राट विष्णु के उपासक थे और वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त सम्राट विष्णु, शिव, पार्वती और कार्तिकेय (स्कंद) के भक्त और उपासक थे और ये विभिन्न रूपों में शिव की पूजा करते थे। गुप्त सम्राटों और उनकी प्रजा में उदात्त दान-शीलता और धर्मपरायणता थी। वे बौद्ध बिहारों, स्तूपों, ब्राह्मणों, विभिन्न धार्मिक स्थानों, मंदिरों आदि को दान देते थे और उन्हें निर्माण करवाते थे। बौद्ध भिक्षुओं के निवास, आहार और वस्त्र की व्यवस्था भी दान से की जाती थी। गुप्तकालीन धर्म की अंय विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

(1)धर्म आधारित सामाजिक व्यवस्था

गुप्तकाल में सत्ताधारी वर्ग और श्रेष्ठ ब्राह्मण वर्ग ने धर्म का आश्रय लेकर वर्णों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के प्रयत्न किये। शैवों और वैष्णवों ने अच्छे कर्मों पर अधिक बल दिया। महाभारत के एक परिच्छेद में कहा गया है कि द्विजों की सेवा पर भगवद्भक्ति से शूद्रों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस बात पर बल दिया जाने लगा कि शूद्र भी अपने अच्छे व्यवहार और कार्यों से दूसरे जन्म में ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकता है। कर्म और पूर्वजन्म के सिद्धांत को मान लिया गया। इसके अनुसार व्यक्ति को पूर्व जन्म के कर्म ही उसकी प्रकृति, प्रारब्ध, सामाजिक स्थिति, सुख-दुख आदि निश्चित करते हैं। इस सिद्धांत ने समाज में विभिन्न वर्णों के सदस्यों को प्रभावित किया क्योंकि अब शूद्र और अंय हेय व्यवसाय करने वाले व्यक्ति भी सोच सकते थे कि यदि उनके कर्म श्रेष्ठ रहे तो वे शासक, अधिकारी, ब्राह्मण आदि भी हो सकते हैं। इस युग के शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में एक शूद्र कर्मचारी बसन्त सेना की हत्या करना स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह पुनः ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिससे उसे इस जन्म में दास बनना पड़े। ऐसी धारणाओं से प्रत्येक वर्ण के सदस्यों का यह मत था कि उनको परंपरागत नियमों और वंश परंपरा के अनुकूल दिये गये सामाजिक कर्तव्यों और व्यवसायों का ही निर्वाह करना चाहिए। इस प्रकार जनता को अपने कर्तव्यों पर भरोसा दिलाने और वर्ण-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक विभाजन को कायम रखने में धर्म की प्रमुख भूमिका थी।

(2) ब्राह्मण धर्म के उत्थान हेतु प्रयास

गुप्त सम्राटों के राज्याश्रम में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान और खूब विकास हुआ। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के विविध अनुष्ठानों, प्रणालियों, विभिन्न यज्ञों और देवी-देवताओं की पूजा, उपासना, तीर्थ यात्रा, शांतिक और स्वास्तिक पूजा पाठ, दानपुण्य आदि प्रारंभ किये। संस्कृत भाषा को वैदिक धर्म के ग्रंथों, शास्त्रों और धार्मिक विचार के लिए अपनाया गया। इससे वर्तमान ब्राह्मण धर्म की आधार-शिला गुप्तकाल में भली-भाँति रख दी गई थी।

(3) धार्मिक देवी-देवता

गुप्तकाल में वैष्णव और शैव धर्म अधिक लोकप्रिय हो गये। विष्णु के दस अवतार का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया और ये दस अवतार थे मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। विष्णु मानव को कल्याण और परि-रक्षण का देवता माना जाने लगा। सभी अवतारवादियों ने विष्णु को सृष्टि का रक्षक माना। यद्यपि राम व कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था परंतु कृष्ण-लीला और राम-सीता की पूजा का प्रचार नहीं हुआ था। शिव सृष्टि का संहारक माना जाने लगा था और मानव आकृति व लिंग आकृति में तथा तांडव नृत्य करती हुई प्रलयंकारी मुद्रा में शिव की पूजा व उपासना होती थी। विष्णु और शिव की पूजा के अतिरिक्त ब्रह्मा, सूर्य, कार्तिकेय (महासेन), गणेश, नाग और यक्ष की पूजा भी होती थी और इनके मंदिर निर्मित किये गये थे। गुप्त युग में शक्ति उपासना या देवी उपासना का भी खूब प्रचार हुआ। लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती, महिषासुरमर्दिनी आदि की पूजा होने लगी। शक्ति, करुणा और वात्सल्य की प्रतीक सात माता (सप्तमात्रिक) को भी माना जाने लगा और इनकी मूर्तियाँ बनाई गईं

(4) प्रतिमा निर्माण एवं उपासना

गुप्तकाल में देवी-देवताओं की पूजा-उपासना के लिए उनकी मूर्तियाँ बनाई गईं और उन्हें मंदिरों में प्रतिष्ठित किया गया। मूर्ति-पूजा का खूब प्रचार बढ़ा। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, पार्वती, महिषमर्दिनी, लक्ष्मी, स्कंद, सूर्य, जैन तीर्थंकरों, बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ निर्मित की गईं और उनकी पूजा-उपासना होने लगी, इससे भक्ति-भाव का खूब विकास हुआ। भक्ति और भगवत प्रेम से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। भक्ति की प्रधानता गुप्तयुग की विशिष्टता है। भक्ति की अभिव्यंजना दान-पुण्य करने, ध्वजस्तंभों, प्रवेश द्वारों, मूर्तियों और मंदिरों के निर्माण में हुई।

(5) धार्मिक ग्रंथों का संकलन

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म अत्यधिक विकास हुआ। गुप्त सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म के विकास के लिए हर संभव प्रयास किये। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का वह काल था जब विभिन्न मत-मतांतरों और उनके दार्शनिकों ने अपने सिद्धांतों, विचारों, क्रिया विधियों और गाथाओं को स्मृतियों, पुराणों, रामायण, महाभारत, धर्म-शास्त्रों और दार्शनिक ग्रंथों में व्यवस्थित रूप से संकलित कर लिया। गुप्तकाल के अतिरिक्त किसी अंय काल में धार्मिक ग्रंथों के संकलन का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

(6) देवी-उपासना एवं तांत्रिक समुदाय

गुप्तयुगीन धर्म की एक महत्वशाली विशेषता थी देवी की उपासना। शैव और वैष्णव संप्रदायों में देवी उपासना का खूब प्रचार और प्रसार हुआ। देवियों में लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा या भगवती और सप्त मातृकाओं की पूजा-उपासना होती थीं ब्राह्मण धर्म में देवियों के प्रतिष्ठित हो जाने से शक्ति पूजा की प्रथा चल पड़ी। कालांतर में देवी उपासना के फलस्वरूप इस युग के अंतिम चरण में तांत्रिक समुदाय का उत्कर्ष हुआ।

(7) बौद्ध धर्म की स्थिति

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी अपने महायान और हीनयान संप्रदायों सहित प्रचलित था, पर यह धर्म बंगाल, बिहार और गंगा की घाटी की अपेक्षा पंजाब, काश्मीर और अफगानिस्तान में अधिक लोकप्रिय था। इन प्रदेशों में एवं मथुरा, सारनाथ, नालंदा, अजंता, एलोरा, कार्ली, जुन्हार, कान्हेरी आदि स्थानों में अनेक बौद्ध बिहार थे, जहाँ सहस्त्रों बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ निवास करते थे। दक्षिण भारत में आंध्र, काँचीवरम् और लंका बौद्ध धर्म के केंद्र थे। अनेक बौद्ध बिहार, स्तूप, चैत्य आदि निर्मित किये गये। उनमें बुद्ध जीवन की अनेक घटनाएँ और जातक ग्रंथों के कथानक उत्कीर्ण किए गए। महायान संप्रदाय के मौलिक धर्मशास्त्र और दर्शन ग्रंथ युग में ही लिखें गए। महायान संप्रदाय के अनुयायी बुद्ध और बोधिसत्वों की भक्ति पर बल देते थे और विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

(8) जैन धर्म की स्थिति

गुप्तकाल में उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में जैन धर्म अधिक प्रचलित था। मथुरा, वलभी, पुंड्रवर्धन, कर्नाटक, मैसूर, मदुरा आदि जैन धर्म के प्रसिद्ध केंद्र थे। जैन धर्म में भी तीर्थंकरों की मूर्ति की पूजा, तीर्थ यात्रा, तीर्थस्थान, धार्मिक कर्म-कांड, दान-पुण्य आदि किये जाते थे। जैन धर्म में व्याप्त मतभेदों के निवारणार्थ और धार्मिक ग्रंथों का संशोधन व परिवर्धन करने के लिए सन् 313 और 453 ई. में वलभी में दो सम्मेलन हुए और 470 ई. में मदुरा में भी अधिवेशन हुआ। इस युग में जैन धर्म के सिद्धांतों और दर्शन पर नवीन ग्रंथों की रचना हुई।

2.4.4 गुप्तकालीन संस्कृति

गुप्त सम्राटों ने श्रेष्ठ सुव्यवस्थित शासन, देश में शांति और समृद्धि के वातावरण, उनकी उदारता व सहिष्णुता की नीति, उनकी विद्वता और विद्यानुराग, ललित कलाओं और साहित्य को उनका संरक्षण आदि ने सामाजिक जीवन में नवीन स्फूर्ति, पुनर्जागरण, आत्मचेतना और सम्यक विकास की भावना उत्पन्न कर दी और सांस्कृतिक सृजन का नवीन अनुकूल वातावरण निर्मित किया। फलतः भारतीय समाज ने अपना जितना बहुमुखी विकास गुप्तकाल में किया, उतना विकास शायद अंय युगों में नहीं किया।

2.4.4.1 गुप्तकालीन संस्कृति की विशेषतायें

गुप्तकालीन संस्कृति की विशेषतायें निम्नानुसार हैं।

(1) सुख समृद्धि का युग

गुप्त युग सुख-समृद्धि और संपन्नता का था। सामान्यतया लोगों में किसी बात का अभाव नहीं था। लोग सद्गुणसंपन्न, सुखी और फले-फूले थे। देश में विशाल नगरों की प्रचुरता व उनकी समृद्धि और धन-धान्यता, वहाँ के निवासियों की उदारता, धर्मपरायणता एवं दान-शीलता, राजमार्गों पर स्थित सुख-सुविधापूर्ण धर्मशालाएँ, अनेक स्थानों के दान और क्षेत्र आदि इस बात के प्रमाण हैं कि साधारण जनता सुखी, संतुष्ठ और समृद्ध थी।

(2) नैतिकता की संपन्नता का युग

गुप्त युग में लोगों में श्रेष्ठ चरित्र बल उच्च नैतिकता, सदाचारिता और सद्गुण-संपन्नता थी। लोगों में शिष्टाचार, भद्रता, दान, अतिथि-सत्कार, आदि गुण प्रचुर मात्रा में थे। फाह्यान के कथनानुसार लोग इतने ईमानदार थे कि उनमें व्यवहार और लेन-देन के लिए लिखा-पढ़ी नहीं होती थी व लोगों में झगड़ालू वृत्ति नहीं थी। चोरी, लूट और अपराध नगण्य थे। बहुसंख्यक लोग शाकाहारी थे और अहिंसा का सिद्धांत

मानते थे। सुरा-पान दुर्व्यसन माना जाता था। घरों में सूअर और मुर्गा-मुर्गी नहीं पाले जाते थे। जीवित पशु भी नहीं बेचे जाते थे। गुप्तकाल में सामान्यतः लोग न तो माँस, लहसुन और प्याज खाते थे और न मद्य-पान ही करते थे। चांडाल ही, जो समाज से बहिष्कृत होते थे, आखेट करते, पशु-पक्षी और मछली मारते, माँस खाते और बेचते थे।

(3) विदेशियों का विलीनीकरण

भारत में यूनानी, बाख्ती, कुषाण, पहलव, शक आदि विदेशी आक्रमण करने वाली जातियाँ बस गई थीं। जब उनके राज्य और शक्ति क्षीण हो गए तब वे भारतीय समाज की पाचन शक्ति के कारण, समाज में विलीन हो गए। गुप्त युग में भारतीयों में ये लोग घुलमिल गए और उनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।

2.4.4.2 गुप्तकालीन समाज

गुप्तकालीन समाज की विशेषतायें निम्नलिखित हैं -

(1) वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा

गुप्तकाल में समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था थी। समाज में वर्णाश्रम धर्म का महत्व बढ़ने लगा था। सामाजिक संगठन में चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) की महत्ता पुनः स्थापित हो गई थी। सभी वर्ण के लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। ब्राह्मण वर्ण के लोग अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन करने में, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन-व्यतीत करने में, "सिद्धी" और मोक्ष हेतु चिंतन-मनन और तप करने में रत रहते थे। वे वैदिक ज्ञान, मंत्रों, सूत्रों, भाष्यों और प्रवचनों में प्रवीण होते थे। इसलिए समाज में अंय वर्णों की अपेक्षा वे अधिक सम्मानित होते थे। क्षत्रिय वर्ग के लोग भी प्रजा-पालन और प्रजारक्षण के कार्य बड़ी निष्ठा और तत्परता से करते थे। वैश्य वर्ण के लोग वाणिज्य और व्यापार, उद्योग और व्यवसाय, कृषि और पशु-पालन के कार्य करके देश को समृद्ध बना रहे थे। शूद्र भी अंय व्यवसाय करके अपनी शक्ति के अनुसार समाज सेवा के कार्य करते थे।

समाज में विदेशियों के विलीनीकरण का प्रभाव पड़ा और जातियों की विविधता बढ़ गयी। भारत में हूण बड़ी संख्या में प्रविष्ट हो गये और वे आक्रांता और शासक होने से क्षत्रियों की श्रेणी में आ गये थे। बाद में विदेशी गुर्जर भी क्षत्रिय वर्ग में सम्मिलित हो गये। इससे क्षत्रिय जाति की वृद्धि हुई। वनों में रहने वाली पिछड़ी जातियों को भी स्थिर वर्ण समाज में आत्मसात कर लिया गया। इससे शूद्रों और अछूतों की संख्या में वृद्धि हुई। शिल्पियों और कारीगरों के भी उनके व्यवसाय के अनुसार श्रेणी या संघ थे। जब ये शिल्पी संघ स्थायी हो गये तो उनके धंदे और संघों से अलग-अलग जातियाँ हो गयीं और इनके निवास गृहों से इनके अलग-अलग मुहल्ले बन गये। भूमि हस्तान्तरण व भूमि राजस्व व्यवस्था से और सरकारी अभिलेखों के रखरखाव के कार्यों से कायस्थों (लेखकों) की एक नवीन जाति बन गयी। कायस्थों ने ब्राह्मणों के लेखन संबंधी एकाधिकार को समाप्त कर दिया। उत्तर भारत के विशेषकर उत्तरप्रदेश और बिहार में ग्रामीण क्षेत्रों में गाँव के सामंतों और मुखियों की एक नवीन जाति उभर कर आयी। ये महत्तर कहलाये। कालांतर में वे एक जाति में परिणित हो गये।

(2) सामंत वर्ग, बेगार प्रथा और कृषि दासता

गुप्त युग में मंदिरों को, विद्वानों को और ब्राह्मण पुजारियों को और संभवतया अधिकारियों को भूमिखंड और गाँव दान-अनुदान में दिये जाते थे। भूमि अनुदान के साथ-साथ राजस्व की सुविधाएँ भी दी जाती थीं। जिनको ऐसे भूमिदान और सुविधाएँ प्राप्त होती थीं, वे वृत्तिभोगी के समान थे और कालांतर में

इनसे सामंत वर्ग उभरा। ये वृत्तिभोगी अपने क्षेत्र में करों की वसूली भी करते थे और मुकद्मों की सुनवाई और न्याय भी करते थे। भूमि अनुदानों की प्रथा से भारत में सामंती व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो गया। वृत्तिभोगियों को भूमि दान में दिये जाने के बाद भी कृषक उनकी भूमि से जुड़े रहते थे। यदि कृषकों की भूमि आन्य को अनुदान में दे दी जाती थी तो भी वे उसके अधीन रहकर कृषि करते थे। इससे देश के कुछ भागों में कृषकों की स्वतंत्र स्थिति की उपेक्षा की गयी और वे कृषि दास या अर्द्ध कृषि दास बन जाते थे।

गुप्तकाल में बिना पारिश्रमिक दिये कृषकों से या अंय लोगों से कार्य कराने की बेगार प्रथा प्रारंभ हो गयी थी। वाकाटक शिलालेखों से विदित होता है कि जब सेना या उच्च अधिकारी किसी गाँव में पड़ाव डालते थे या किसी ग्राम से गुजरते थे तब उस गाँव के निवासियों को सैनिकों तथा उच्च अधिकारियों के लिए धन और रसद की व्यवस्था करनी पड़ती थी। गाँव वाले सैनिकों के लिए फल और दूध की, सामान ढोने के लिए पशुओं की व्यवस्था करते थे। इसके लिए कोई पारिश्रमिक नहीं था।

(3) अस्पृश्यता की स्थिति

इस युग में चांडाल और नीच तथा हेय धंदे करने वाले घुमक्कड़ जंगली, अर्द्धसभ्य जातियाँ जिन्हें चांडाल और श्वपच कहते थे, नगर और गाँव के बाहर रहते थे। जब ये नगर या गाँव में प्रवेश करते थे, तब इन्हें लकड़ी बजाते हुए चलना पड़ता था जिससे लोगों को इनके आगमन की सूचना प्राप्त हो जाय, वे मार्ग से हट जाये और उनको स्पर्श न कर सकें। इससे प्रतीत होता है कि समाज में छूआ-छूत थी। चांडालों को अपवित्र, झूठा, असनातनी, झगड़ालू, क्रोधी व लोभी माना गया।

(4) व्यवसाय की परिवर्तनशीलता

गुप्त काल में वर्णों तथा व्यवसायों का परिवर्तन संभव था। ब्राह्मण और शिल्पी जातियों के लोग सैनिक का कार्य करते थे, क्षत्रिय जाति के लोग व्यापारी का काम करते थे और शूद्र लोग सेवा कार्यों के अतिरिक्त व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम भी करते थे। कुछ शूद्र सैनिक और सेना के पदाधिकारी भी थे। लोग अपनी सुविधा, शक्ति और प्रतिभा के अनुसार अपने वर्ण या जाति के प्रतिकूल भी व्यवसाय चुन लेते थे। इस प्रकार यद्यपि समाज में जातिप्रथा विद्यमान थी, परंतु इस प्रथा में अभी वह अपरिवर्तनशीलता और दृढ़ता नहीं आ पायी थी जो मध्ययुग में थी।

(5) संयुक्त परिवार तथा व पारिवारिकजीवन

समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। परिवार का मुखिया पिता व वयोवृद्ध व्यक्ति होता था। वह परिवार के समस्त सामाजिक और धार्मिक कार्य करता था। पारिवारिक जीवन सुखी था।

(6) सामाजिक प्रथायें

समाज में छुआछूत और दासप्रथा प्रचलित थी। हीन व्यवसाय करने वाले और आहार-बिहार तथा आचार-विचार में हेय और अर्द्धसभ्य लोग अछूत थे। उनके संपर्क और संसर्ग से छूआ-छूत मानी जाती थी। युद्ध-बंदी या वे लोग जिन्होंने अपने स्वयं को बेच दिया हो या जो खरीदे हुए हों अथवा जिसे दास बनाने का दंड मिला हो या वे जो अपना ऋण न चुका सके हों या जो जुए में हार गए हों दास बना लिये जाते थे, परंतु दासों के साथ कठोर नृशंसता का व्यवहार नहीं किया जाता था। यद्यपि सती-प्रथा यत्र-तत्र राजवंशों में प्रचलित थी, पर इसका व्यापक प्रचार और धार्मिक महत्व नहीं था। पर्दे की प्रथा कुछ सीमा तक प्रचलित थी। सामान्यत: नारियाँ बिना पर्दे के स्वतंत्रतापूर्वक भ्रमण करती थीं, परंतु उच्च कुलों की नारियाँ गृहों से बाहर निकलने पर घूँघट अथवा पर्दे का उपयोग करती थीं और अपने वसनों पर एक प्रकार का आवरण धारण करती थीं।

(7) नारी की स्थिति

पूर्व युगों की अपेक्षा गुप्त युग में स्त्रियों की दशा कुछ बेहतर एवं विकसित प्रतीत होती है। सामान्यतया समाज में स्त्रियों को अच्छा सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। वे पुरुषों और अपने पतियों के साथ समान रूप से सामाजिक और धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। स्त्रियों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। साधारणतया कन्याएँ गायन, नृत्य, गृहकार्य आदि में प्रवीण होती थीं। अपनी उच्च सांस्कृतिक और साहित्यिक शिक्षा के कारण कतिपय स्त्रियाँ लेखकों और कवित्रियों के रूप में भी प्रख्यात थीं, जैसे शीला, भट्टारिका आदि। सांस्कृतिक कार्यों में उच्च जाति और वर्गों की स्त्रियाँ रुचिपूर्वक भाग लेती थीं और शासन-संचालन में भी योग देती थीं। कुछ प्रांतों में विशेषकर कन्नड़ प्रदेश में स्त्रियाँ प्रांतीय प्रशासन में और गाँवों में मुखिया का काम भी करती थीं। दक्षिण भारत में स्त्रियाँ न केवल संगीत और नृत्य में प्रवीण होती थीं, अपितु वे सार्वजनिक रूप से इन कलाओं में अपनी निपुणता का प्रदर्शन भी करती थीं। स्त्रियों को संपत्ति रखने का अधिकार था और वे अपने "स्त्री धन" में से दान-पुण्य करती थीं। कभी-कभी स्त्रियाँ तपस्विनी और भिक्षुणियाँ भी होती थीं।

(8) विवाह

समाज में विवाह महत्वपूर्ण माना जाता था। एक पत्नी प्रथा सर्वमान्य थी, पर धन-संपन्न परिवारों, सामंतों और राजवंशों में बहु-विवाह प्रथा थी। इस युग में तेरह वर्ष के पूर्व ही रजस्वला होने से पहले बाल्यकाल में विवाह करने की प्रथा प्रारंभ की गयी थी, पर स्वयंवर प्रथा विलीन नहीं हो पायी थी। विधवा विवाह और अनमेल वृद्ध-विवाह कुछ अंशों तक प्रचलित थे। विभिन्न जातियों, संप्रदायों और वंशों के लोगों से अंतर्जातीय विवाह होते थे। अनुलोम (उच्चवर्ण के पुरुष के साथ निम्नवर्ण की स्त्री का संबंध) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के पुरुष के साथ उच्चवर्ण की स्त्री का संबंध), दोनों प्रकार के विवाह समाज में प्रचलित थे।

(9) खान-पान

गुप्तकाल में शाकाहार और माँसाहार दोनों ही प्रचलित थे। बौद्ध धर्म की प्रधानता और भगवान की भक्ति की प्रबलता से माँस-मदिरा का उपयोग कम हो गया था, पर विशिष्ट अवसरों पर माँसाहार होता था। क्षत्रिय और निम्न श्रेणी के तीन मद्यपान करते थे। साधारणतया भोजन और खान-पान में शुद्धता, पवित्रता और सात्विकता थी।

(10) वेशभूषा और आभूषण

सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र का उपयोग होता था। विशेष उत्सवों और समारोहों पर रेशमी वस्त्र पहने जाते थे। ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का उपयोग किया जाता था। पुरुष की वेष-भूषा में एक ऊपरी वस्त्र और एक नीचे का वस्त्र धोती रहती थी। स्त्रियाँ साड़ी, अंगी और चोली धारण करती थीं। कुछ प्रदेशों में स्त्रियाँ एक छोटा सा घाघरा और उस पर एक साड़ी पहनती थीं। अंय प्रदेशों में एक लंबी साड़ी का उपयोग दोनों कार्यों के लिए होता था। समाज में शक लोगों के कोट, ओवरकोट और पजामे प्रचलित हो गये थे। साधारण लोग पगड़ी पहनते थे पर अधिकांश लोग बिना जूते के आते-जाते थे। स्त्री और पुरुष दोनों को ही शृंगार और आभूषण प्रिय थे। मुख और ओठों की सौंदर्य-वृद्धि के लिए रंग तथा लेपों का प्रयोग किया जाता था। केशों को विविध प्रकार से सँवारने और सजाने की कलाएँ भी उतनी ही थीं जितने कि केश। विविध प्रकार के सुंदर और कलात्मक आभूषण पहने जाते थे। गुप्त युग के आभूषणों में कान की बालियाँ, विविध प्रकार की मोतियों की मालाएँ और हार, कँदोरे, वक्षस्थल और

जंघाओं के आभूषण, रत्नजड़ित चूड़ियाँ, अंगूठियाँ आदि मुख्य थे, पर नथ या नाक के काँटे का प्रचलन नहीं था।

(11) मनोरंजन

चैपड़, जूआ, शतरंज, मृगया, गैंडों व मुर्गों की लड़ाइयाँ, भैंसों व हाथियों की लड़ाई प्रमुख मनोरंजन थे। बालकों और महिलाओं में कंदुक-क्रीड़ा लोकप्रिय थी। उद्यानों में सैर और विविध प्रकार के खेल, नृत्य, गायन, वादन और नाटक आमोद-प्रमोद के अंय साधन थे। गणिकाएँ भी वादन, गायन और नृत्यों से मनोरंजन करती थीं। लोग मेलों, धार्मिक उत्सवों और रथ यात्राओं में अधिक आनंद लेते थे।

(12) शिक्षा

गुप्त युग में शिक्षा में भी खूब प्रगति हुई। तीर्थ स्थानों, राजधानियों और विशाल नगरों में प्रसिद्ध आचार्यगण अपने निवास-गृहों और आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। नालंदा, वलभी और कांची ऊँची शिक्षा के केंद्र थे। स्त्री शिक्षा का भी प्रचार हुआ था। पुराण, स्मृति, महाकाव्य, तर्क, दर्शन, न्याय, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि विषय पढ़ाये जाते थे। तांत्रिक या व्यावसायिक शिक्षा शिल्पियों के परिवारों में दी जाती थी।

(13) विज्ञान

गुप्तकाल में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। इस काल में दशमलव प्रणाली का आविष्कार व विकास हुआ सूर्य व चंद्रग्रहण के वास्तविक सिद्धांतों की समीक्षा की गई, नक्षत्रों के चलन का विवेचन किया गया, अपनी धुरी पर पृथ्वी के घूमने का सिद्धांत प्रतिपादन किया गया, ग्रहों व नक्षत्रों की गति पर प्रकाश डाला गया, विशुद्ध सह वर्ष-मान निकाला गया, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का विवेचन किया गया, पृथ्वी के आकार और व्यास की गणना की गई, अणु सिद्धांत का प्रचार किया गया, ज्योतिष के पोलिस और रोमन सिद्धांतों की विशद् व्याख्या की गई। इस युग में गणित, भूमिति, ज्योतिष, खगोल विद्या, नक्षत्र विद्या, वनस्पति विज्ञान, प्राणी-शास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, रसायन शास्त्र, धातु-विज्ञान, शल्य-शास्त्र आदि का खूब विकास और प्रगति हुई। आर्यभट्ट जैसे गणितज्ञ, ज्योतिषाचार्य और नक्षत्र वैज्ञानिक, पाँडुरंग, लाटदेव और वराहमिहिर जैसे ज्योतिषी, नागार्जुन और वराहमिहिर जैसे धातु वैज्ञानिक, सुश्रुत और चरक जैसे चिकित्सक, वाग्भट्ट और धन्वंतरी जैसे आयुर्वेद के प्रकांड विद्वान और पालकाप्य जैसे पशु चिकित्सक हुए।

2.4.4.3 गुप्तकालीन साहित्य

गुप्तकाल में संस्कृत भाषा और साहित्य का खूब विकास हुआ। गुप्त सम्राटों के विद्यानुराग और राज्याश्रय से, राज्य भाषा संस्कृत होने से, शिलालेख, प्रशस्ति, राज्यादेश संस्कृत में होने से, ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार और उसके प्रचार में संस्कृत का उपयोग होने से इस युग के विद्वानों, कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, धर्माचार्यों, नाटककारों आदि के द्वारा अपने ग्रंथों में संस्कृत का उपयोग होने से, राष्ट्रभाषा संस्कृत होने से एवं देश में शांति और सुव्यवस्था से संस्कृत साहित्य का खूब उत्कर्ष हुआ। इस साहित्यिक श्रीवृद्धि के कारण गुप्त युग को पेरीक्लीज युग और अगस्टन युग कहा जाता है। गुप्त युग की साहित्य की उन्नति निम्नलिखित है -

(1) प्रशस्तिकार और कवि

गुप्त युग में हरिषेण साव, वीरसेन साव, वत्स भट्टी, वसुल जैसे महान प्रशस्तिकार और कवि हुए हैं। इन्होंने अभिलेखों व दिग्विजयों को काव्यमय संस्कृत में उत्कीर्ण किया है। इनकी प्रशस्तियों से तत्कालीन संस्कृत की सरल, उन्नत, परिष्कृत और अलंकारिक काव्य शैली पर प्रकाश पड़ता है।

गुप्तयुग अपने विश्वविख्यात कवियों और उनके काव्यग्रंथों के लिए भी प्रसिद्ध है। इस युग के सर्वोच्च कवि कालिदास हैं। कालिदास चंद्रगुप्तद्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा का मेधावी साहित्यिक और राजकवि था। कालिदास ने "शकुंतला", "मालविकाग्निमित्र" और "विक्रमोर्वशी" जैसे नाटक, "कुमार संभव' और "रघुवंश" नामक महाकाव्य, "ऋतुसंहार' जैसी गीति काव्य और "मेघदूत" जैसे खंड काव्य लिखे हैं कालिदास की कविता अपने सौंदर्य, सरसता, सरलता, भावों और उपमाओं के लिए प्रसिद्ध है। कालिदास के ओज और प्रसिद्ध गुणों में, उसकी उपमाओं की सुंदरता, अनुकूलता और विविधता में, उसके अनोखें अलंकारों के सौष्ठव में, उसके करुणा, प्रेम व शृंगार के भावों के उत्कृष्ट प्रदर्शन में, उसकी शैली की सरलता एवं शब्द-चयन के माधुर्य में तथा उसके चरित्र-निर्माण में संस्कृत का कोई भी कवि उसके मुकाबले में ठहर नहीं सकता। अपने इन गुणों के कारण ही कालिदास संस्कृत साहित्य में अद्वितीय हैं एवं संसार के श्रेष्ठतम कवियों में हैं। "रावण वध" नामक महाकाव्य का रचियता वत्स भट्टी इस काल का अंय महान कवि है। "रीति ग्रंथ काव्यादर्श" और "दशकुमार चरित" का लेखक दंडिन भी इस युग की महान विभूति थी। वीरसेन साव चंद्रगुप्तद्वितीय के शासनकाल में प्रसिद्ध कवि और महान व्याकरणाचार्य था। "किराता-र्जुनीय" का रचयिता भारवी भी इस युग का प्रतिभा संपन्न कवि था। कतिपय विद्वानों का मत है कि भर्तृहरि भी इसी काल में हुए। उनके तीन ग्रंथ "नीतिशतक" " शृंगारशतक' और "वैराग्यशतक" काव्य की दृष्टि से अतुलनीय और महत्वपूर्ण हैं।

(2) नाटककार

गुप्त युग संस्कृत के श्रेष्ठ नाटकों के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में "शकुंतला" नाटक का लेखक कालिदास, "मृच्छकटिका" नाटक का लेखक शूद्रक, "मुद्राराक्षस" और "देवी चंद्रगुप्तम्" नाटक का लेखक विशाखदत्त तथा "स्वप्नवासवादत्तम" का रचियता भास अधिक प्रसिद्ध थे। "वासवदत्ता" का गद्य काव्यकार सुबंधु भी इसी युग का है।

(3) नीति ग्रंथ और स्मृतियाँ

गुप्त युग में रचे नीति ग्रंथों में कामंदक का 'नीति-सार' ग्रंथ अनुपम है। इसके अतिरिक्त इस युग में स्मृति ग्रंथों या कानून ग्रंथों की रचना भी हुई। इनमें "नारदस्मृति", "कात्यायन स्मृति", "पाराशर स्मृति", "बृहस्पति स्मृति" और "याज्ञवल्क्य" प्रसिद्ध हैं।

(4) कोष और व्याकरण

अमरसिंह द्वारा 'अमरकोष' इसी युग में रचा गया है। चंद्रगोमी नामक बंगाली बौद्ध भिक्षु ने 'चंद्रव्याकरण' लिखा जो बहुत लोकप्रिय हो गया।

(5) गल्पग्रंथ

गुप्तकाल में दो प्रसिद्ध गल्प ग्रंथ 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' रचे गये। मूल 'पंचतंत्र' ग्रंथ विष्णु शर्मा ने लिखा था। ये ग्रंथ मनोरंजक ढंग से विभिन्न कथाओं द्वारा नीति की शिक्षा देते हैं।

(6) दर्शन और दार्शनिक ग्रंथ

गुप्त युग में प्राचीन वैदिक धर्म के प्रसार के कारण विभिन्न धार्मिक विचारों में संघर्ष हुआ, जिससे दार्शनिक विचारों के विकास में बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। इस युग में प्रचलित बौद्ध धर्म के संप्रदाय महायान और हीनयान के प्रवल प्रसार से भी नवीन दार्शनिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के प्रकांड पंडित और आचार्य परस्पर वादविवाद के नवीन तर्क और युक्ति

तथा दार्शनिक विचार प्रस्तुत करते थे। इन सबके परिणामस्वरूप गुप्तयुग में ब्राह्मण, बौद्ध और जैनदर्शन का खूब विकास हुआ और तीनों धर्मों के विद्वानों ने अपने-अपने दार्शनिक ग्रंथ लिखे।

लगभग् 300 ई. में मीमांसा दर्शन पर शबर ने 'शबर भाष्य' लिखा। इसमें याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ-साथ आत्मा, ईश्वर, सृष्टि, मुक्ति आदि की समीक्षा की गयी है और प्राचीन मीमांसा सूत्रों का विकास किया गया है। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य दर्शन प्रणाली पर 'सांख्यकारिता' ग्रंथ लिखा। वैशेषिक दर्शन प्रणाली पर आचार्य प्रशस्त पाद ने 'पदार्थ धर्मसंग्रह' ग्रंथ लिखा। तीसरी सदी के अंत में योग दर्शन पर आचार्य व्यास ने 'व्यास भाष्य' लिखा। न्यायदर्शन पर वात्सायन ने ''न्याय भाष्य'' लिखा। इसमें बौद्धों के माध्यमिक और योगाचार संप्रदायों के मंतव्यों और दार्शनिक विचारों का खंडन किया गया और न्याय सूत्रों की समीक्षा की गयी। उद्योतकर ने न्याय भाष्य पर "न्यायवर्तिक" नामक विद्वतापूर्ण टीका लिखी।

गुप्तयुग में बौद्धों की दार्शनिक प्रणालियों और विचारधाराओं पर भी ग्रंथ लिखें गये। बौद्ध दार्शनिक साहित्य का गुप्तयुग में पर्याप्त विकास हुआ। तीसरी सदी के अंत में बौद्धों के प्रसिद्ध दार्शनिक आसंग ने "योगाचार भूतिशास्त्र", "प्रकरण आर्य वाचा", "महायान सूत्रालंकार", "महायान संपरिग्रह", "वज्रछेदिकाटीका" आदि ग्रंथ लिखे। उसके भ्राता वसुबंधु ने हीनयान और महायान मत के दर्शन पर अनेक ग्रंथ लिखे। उसने अपने "अभिधर्म कोष" में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का श्रेष्ठ प्रतिपादन किया। वसुबंधु बौद्धों के विज्ञानवाद का बड़ा प्रवक्ता था। उसने बौद्धों के पृथक तर्क शास्त्र का सूत्रपात किया। बौद्ध धर्म का अंय महान दार्शनिक दिग्नाग था। वह गुप्तयुग के सर्वोत्कृष्ट बौद्ध लेखकों और दार्शनिकों में से है। "प्रमाण समुच्च" और "न्यायमुख' उसके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। महायान मत के माध्यमिक संप्रदाय के विद्वान आर्यदेव ने "चतुःशतक" नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा। महायान मत के दो प्रसिद्ध ग्रंथ 'वज्रछेदिका' प्रज्ञापारमिता और 'प्रज्ञा पारमिता हृदय सूत्र' तीसरी सदी में रचे गये। गुप्तयुग में हीनयान मत के अनेक धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों की रचना हुई। बुद्ध घोष ने बौद्ध धर्म के त्रिपिटकों पर अनेक भाष्य लिखे। एक अंय बौद्ध विद्वान बुद्ध दत्त ने भी हीनयान मत पर ग्रंथ लिखे।

गुप्त काल में अनेक जैन ग्रंथों को लिपिबद्ध किया गया और नवीन धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ लिखे गये। जैन न्याय दर्शन पर "न्यायवतार" सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। प्रसिद्ध जैन आचार्य सिद्धसेन ने न्याय दर्शन पर ग्रंथ लिखे। सिद्धसेन का "तत्वानुसारिणी टीका" एक मौलिक ग्रंथ है।

(7) ब्राह्मण धर्मशास्त्रों का संसोधन और परिवर्द्धन

ब्राह्मण धर्म या पौराणिक धर्म के साहित्य को नवीन रूप देने और उसे अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु धर्माचार्यों ने इस युग में अनेक धार्मिक ग्रंथों को संशोधित करके उनकी पुनः रचना की। नवीन दृष्टिकोण से धार्मिक साहित्य को परिवर्द्धित और परिष्कृत किया गया। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्मृतियों और सूत्रों पर भाष्य लिखे गये। अनेक पुराणों और रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों का अंतिम संपादन गुप्तयुग में किया गया। पुराण मूलतः अधिकतर गुप्तकाल में ही संपादित किये गये। संस्कृत में अनेक अंय धार्मिक ग्रंथों की रचना इसी काल में हुई। इस प्रकार साहित्य की अनेक शाखाओं के विकास और प्रगति के कारण ही गुप्तकाल को भारत का अगस्टन युग कहा जाता है।

(8) दक्षिण भारत में साहित्यिक प्रगति

गुप्तकाल में दक्षिण भारत में भी साहित्यिक प्रगति हुई। उस समय वहाँ प्रमुखत: तामिल भाषा प्रचलित थी। दक्षिण में इस युग में भक्तिवाद का बाहुल्य था और नायनमारों (शैव संतों) तथा आलवारों (वैष्णव संतों) ने श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत अपने पदों में सर्वशक्तिमान ईश्वर की स्तुति और आराधना की। ये ही पद और भजन तामिल भाषा में भक्ति साहित्य बन गया।

2.4.5 सारांश

गुप्तकाल ब्राह्मण नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण का काल नहीं, परंतु ब्राह्मणों का पूर्ण विकसित परिप्लावित दैदीप्यमान युग था। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण-युग कहा गया है। गुप्त सम्राट वैष्णव होने पर भी अंय धर्मों के प्रति अत्यधिक उदार और सहिष्णु थे। धार्मिक विषयों में गुप्त सम्राट अत्यंत उदार थे।

गुप्तकालीन धर्म की विशेषतायें

(1) धर्म आधारित सामाजिक व्यवस्था
(2) ब्राह्मण धर्म के उत्थान हेतु प्रयास
(3) धार्मिक देवी-देवता
(4) प्रतिमा निर्माण एवं उपासना
(5) धार्मिक ग्रंथों का संकलन
(6) देवी-उपासना एवं तांत्रिक समुदाय
(7) बौद्ध धर्म की स्थिति
(8) जैन धर्म की स्थिति

गुप्तकालीन संस्कृति कीविशेषतायें

(1) सुख समृद्धि का युग
(2) नैतिकता की संपन्नता का युग
(3) विदेशियों का विलीनीकरण

गुप्तकालीन समाज

गुप्तकाल में समाज की आधारशिला वर्ण-व्यवस्था थी। समाज में वर्णाश्रम धर्म का महत्व बढ़ने लगा था। सामाजिक संगठन में चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) की महत्ता पुनः स्थापित हो गई थी। सभी वर्ण के लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। समाज में विदेशियों के विलीनीकरण का प्रभाव पड़ा और जातियों की विविधता बढ़ गयी। कायस्थों ने ब्राह्मणों के लेखन संबंधी एकाधिकार को समाप्त कर दिया।

गुप्तकालीन साहित्य

गुप्तकाल में संस्कृत भाषा और साहित्य का खूब विकास हुआ। गुप्त सम्राटों के विद्यानुराग और राज्याश्रय से, राज्य भाषा संस्कृत होने से, शिलालेख, प्रशस्ति, राज्यादेश संस्कृत में होने से, ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार और उसके प्रचार में संस्कृत का उपयोग होने से इस युग के विद्वानों, कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, धर्माचार्यों, नाटककारों आदि के द्वारा अपने ग्रंथों में संस्कृत का उपयोग होने से, राष्ट्रभाषा संस्कृत होने से एवं देश में शांति और सुव्यवस्था से संस्कृत साहित्य का खूब उत्कर्ष हुआ। इस साहित्यिक श्रीवृद्धि के कारण गुप्त युग को पेरीक्लीज युग और अगस्टन युग कहा जाता है।

2.4.6 बोध प्रशन

2.4.6.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन सम्राटों की तीन विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
2. गुप्तकाल के महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. मौर्योत्तर काल में भारतीय संस्कृति पर टिप्पणी लिखिये।
4. गुप्तकालीन देवी उपासना से आप क्या समझते हैं?
5. गुप्तकाल में बौद्ध धर्म की क्या स्थिति थी?
6. गुप्तकाल में जैन धर्म की क्या स्थिति थी?
7. गुप्तकाल में अस्पृश्यता की स्थिति के विषय में नोट लिखिये?
8. गुप्तकाल में नारी की क्या स्थिति थी? संक्षेप में लिखिये।

9. गुप्तकाल में मनोरंजन के साधनों पर प्रकाश डालिये।
10. गुप्तकाल में विदेशियों के विलीनीकरण से आप क्या समझते हैं?
11. गुप्तकाल में विज्ञान पर टिप्पणी लिखिये।
12. गुप्तकाल में दक्षिण भारत में साहित्य की क्या स्थिति थी?
13. गुप्तकालीन समाज में कौन सी प्रथायें प्रचलित थीं?
14. गुप्तकालीन प्रमुख ग्रंथों के नाम लिखिये।
15. गुप्तकालीन प्रशस्तिकारों एवं कवियों का उल्लेख कीजिये।

2.4.6.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
2. गुप्तकालीन सामाजिक स्थिति की विवेचना कीजिये।
3. मौर्योत्तर काल में भारतीय संस्कृति पर विस्तार से लिखिये।
4. गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति का वर्णन कीजिये।
5. गुप्तकाल में बौद्ध एवं जैन धर्मों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कीजिये कि गुप्तकाल में इन धर्मों का पतन क्यों हुआ?
6. गुप्तकाल में साहित्य की उन्नति की विवेचना कीजिये।
7. गुप्त सम्राटों के सद्गुणों एवं योगदान का वर्णन कीजिये।
8. गुप्तकाल के महत्व का मूल्याँकन कीजिये।
9. गुप्तकाल में धर्म का क्या स्वरूप था? विस्तृत विवेचना कीजिये।
10. गुप्तकालीन संस्कृति पर एक निबंध लिखिये।

2.4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ए. एस. अल्तेकर: वाकाटक-गुप्त एज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960
2. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल: पतंजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, 1963।
3. विमल चंद्र पांडेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद।
4. वी. वी. मिराशी: वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964।
5. राजबली पांडेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संसद, वाराणसी, 1962।
6. वासुदेवशरण अग्रवाल: पाणिनिकालीन भारत, चैखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं. 2012 वि.।
7. मोतीचंद्र: प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयोग, सं. 2007।
8. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962।
9. राजबली पांडेय: विक्रमादित्य, चैखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960।
10. ए.एल. बाशम: अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967।
11. नगेन्द्रनाथ घोष एम.ए.: भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयोग, 1951।
12. एच.सी. राय चैधरी: पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938।
13. वी.ए. स्मिथ: अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924।
14. मजूमदार तथा पुसलकर: दी वैदिक एज, भारतीय विद्याल भवन, बम्बई।

15. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
16. मजूमदार तथा पुसलकर: दी क्लासिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953।
17. के. ए. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी ऑफ इंडिया, खंड-2, मुम्बई, 1957।
18. एलन, हेग, डाडवेल: दी कैंब्रिज शार्टर हिस्टरी ऑफ इंडिया, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934।
19. मजूमदार रमशेचंद्र: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
20. राय उदय नारायण: गुप्तकालीन भारत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980

खंड-3 कला एवं स्थापत्य

इकाई-1 मौर्ययुगीन कला एवं स्थापत्य

इकाई की रूपरेखा

3.1.1. उद्देश्य
3.1.2. प्रस्तावना
3.1.3. मौर्ययुगीन कला
3.1.4. एकाश्म स्तंभ
3.1.5. मूर्तिकला
3.1.6. गुफाएँ
3.1.7. लोक कला
3.1.8. मौर्ययुगीन स्थापत्य
3.1.9. स्तूप
3.1.10. सारांश एवं आलोचना
3.1.11. पारिभाषिक शब्दावली
3.1.12. बोध प्रश्न
3.1.13. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.1.1. उद्देश्य

मौर्य साम्राज्य में कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक प्रगति हुई। मौर्य युग के पूर्व भवन निर्माण हेतु मुख्यरूप से लकड़ी, ईंट एवं मिट्टी का प्रयोग किया जाता था। मूर्तियाँ भी चिकनी मिट्टी की ही बनायी जाती थीं। पर अशोक ने इन कार्यों के लिए लकड़ी, ईंट एवं मिट्टी के साथ-साथ पत्थरों का प्रयोग भी प्रारंभ किया। इस तरह मौर्य काल को कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में संक्रांति का काल कहा जा सकता है। मौर्य युग ने एक ऐसी नींव तैयार की जिसपर परवर्ती युगों में कला एवं स्थापत्य की एक ठोस एवं खूबसूरत अधिरचना का निर्माण संभव हो सका। इस पाठ के द्वारा विद्यार्थियों को इसी विषय के बारे में विस्तार से परिचित कराना है।

3.1.2. प्रस्तावना

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन भारत के लगभग समस्त कलात्मक अवशेष धार्मिक प्रकृति के हैं अथवा उन कलाकृतियों का निर्माण धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया गया। यद्यपि इस कथन में कुछ सच्चाई हो सकती है, पर इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि प्राचीन भारत में कला के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का भी अस्तित्व था। इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन भारतीय साहित्य एवं प्राचीन कलात्मक अवशेषों, जिनमें मौर्ययुगीन अवशेष भी सम्मिलित हैं, से पर्याप्त रूप में होती है। यह भी कहा जाता है कि प्राचीन भारत में मूर्तिकला का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था, बल्कि यह वास्तुकला की सहायक थी। यह कथन भी सत्य नहीं है। यदि मौर्य युग को ही देखा जाए तो हम पाते हैं कि मौर्य स्तंभ और अत्यंत बारीकी से तराशे गए उनके शिखर विशुद्ध रूप से मूर्तिकला के उदाहरण हैं, जिनका वास्तुकला से कोई संबंध नहीं था।

3.1.3. मौर्ययुगीन कला

चूँकि अशोककालीन भवन एवं स्मारक आज अधिक संख्या में विद्यमान नहीं हैं, इसलिए कला की तत्कालीन स्थिति का हमारा ज्ञान मुख्य रूप से अभिलेखों, एकाश्म स्तंभों एवं उनके शिखर पर निर्मित आकृतियों अथवा मूर्तियों पर ही आधारित है। अशोक के समय की कुछ गुफाओं से भी अशोक कालीन कला की जानकारी मिलती है। अशोक के अभिलेख इतने कलात्मक एवं परिष्कृत हैं कि वे भी मूर्तिकला के उदाहरण माने जाने योग्य हैं।

3.1.4. एकाश्म स्तंभ

भारतीय कला का एक अत्यंत प्राचीन इतिहास रहा है। पर एक कलाकार का शिल्प अशोक के दिनों में ही अपने चरमोंकर्ष पर पहुँचा। यह उन कलाकारों की कृतियों, विशेषकर एकाश्म स्तंभों की चिकनी एवं चमकदार सतह, उनके शिखर पर अत्यंत बारीकी से तराशी गयी मूर्तियों एवं अशोक तथा दशरथ द्वारा दान में दी गयी गुफाओं के अभ्यंतर एवं अभिलेखों से स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

कुमार स्वामी मौर्यकालीन कला को दरबारी कला एवं लोक अथवा देशी कला में विभक्त करते हैं। उनका मत है कि दरबारी कला के उदाहरण हम चट्टानों अथवा पत्थरों के उन एकाश्म स्तंभों एवं उनके शिखर को मान सकते हैं जिन्हें अत्यंत सूक्ष्म तरीके से काट और तराश कर तैयार किया गया है। वस्तुत: इस प्रकार के पाषाण स्तंभ जिनके शिखर पर पशु अथवा किसी पवित्र चिह्न की आकृति निर्मित है, भारत में अत्यंत प्राचीन काल से ही विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों के अनुयायियों के द्वारा निर्मित किए जाते रहे हैं। इन स्तंभों को किसी चट्टान से एक खंड के रूप में काटकर एक अहाते में स्थापित किया जाता था और उसे धार्मिक दृष्टि से पवित्र माना जाता था। विन्सेंट आर्थर स्मिथ सासाराम अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार राजाज्ञाओं अथवा अभिलेखों को पत्थरों के उन सभी स्तंभों पर उत्कीर्ण करवाया जा सकता था जो कहीं भी पहले से विद्यमान थे। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि कम से कम कुछ पाषाण स्तंभ अशोक के शासनकाल के पहले भी विद्यमान थे।

अशोक द्वारा निर्मित एकाश्म स्तंभ टोपरा, मेरठ, प्रयाग, साँची, सारनाथ, लौरिया नन्दनगढ़, लौरिया अरेराज, रामपुरवा, रूम्मिनदेई आदि स्थानों में मिले हैं। इन स्तंभों की ऊँचाई 40 से 50 फीट और वजन 50 टन तक है। आधार की ओर उनका व्यास अधिक है पर शीर्ष की ओर उनका व्यास क्रमश: कम होता गया है। स्तंभों पर पशुओं की सुंदर आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रयाग, संकिसा एवं रामपूर्वा के स्तंभों को कमल, तालचित्र अथवा मधुमालती लता आदि के आकर्षक डिजाइनों से अलंकृत किया गया है। स्तंभों पर कलाकारों द्वारा ऐसी चमकदार पॉलिश की गयी है कि वे पत्थर की जगह किसी धातु के स्तंभ प्रतीत होते हैं।

स्तंभ दो प्रकार के पत्थरों से निर्मित हैं। इनमें से कुछ मथुरा से प्राप्त लाल एवं सफेद चित्तीदार बलुआ पत्थर के हैं तो अंय चुनार की खदान से प्राप्त पांडु अथवा हल्के पीले रंग के कठोर बलुआ पत्थर के। अशोककालीन सिविल अभियांत्रिकी अत्यंत उच्च स्तर की थी। यही कारण था कि विशाल आकार के ऐसे स्तंभों का निर्माण हो सका एवं चट्टानों के इतने बड़े-बड़े पिंड एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाए जा सके।

3.1.5. मूर्तिकला

एकाश्म स्तंभों के शिखर मौर्यकालीन मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। स्तंभों के शिखर पर पत्थर को अत्यंत बारीकी से तराशकर मूर्तिकार ने एक प्रतिमा अथवा आकृति बनायी है। किसी स्तंभ में निर्मित यह प्रतिमा एक धार्मिक अथवा पवित्र आकृति के रूप में है तो अंय में पशु आकृति अथवा चक्र के रूप में। इस प्रतिमा की विशेषता है कि यह चारो ओर से दृष्टिगोचर होती है। कलाकार ने इस प्रतिमा के नीचे एक त्रिआयामी आधार फलक का निर्माण किया है जो पशु-पक्षी, लता-पुष्प, चक्र आदि के उभारदार चित्रों से अलंकृत है। लौरिया नन्दनगढ़ का आधार फलक इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है जिसपर उड़ते हुए हंसों की एक खूबसूरत कतार है।

मौर्य साम्राज्य में कलाकार को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। यही कारण है कि स्तंभों के शिखर में विविधता है। कलाकार ने शिखर पर अवस्थित आधारफलक को कहीं आयताकार बनाया है तो कहीं वृत्ताकार ताकि उसके ऊपर निर्मित प्रतिमा आधार फलक के आकार एवं प्रकार से मेल खा सके एवं समानुपातिक प्रतीत हो। स्तंभों के शिखर निम्नलिखित चार पशुओं में से किसी एक की आकृति से निर्मित हैं – अश्व, हाथी, वृषभ एवं सिंह। अश्व को छोड़कर अंय सभी पशु किसी न किसी स्तंभ के शिखर पर अभी भी विद्यमान है, पर प्रलेखों में इस बात का उल्लेख है कि रूम्मिनदेई के स्तंभ पर शिखर पर अश्व की आकृति बनी हुई थी। संकिसा अवस्थित स्तंभ के शिखर पर हाथी का एक सुंदर प्रतिरूप निर्मित है, जबकि रामपूर्वा स्थित दो स्तंभों के शिखर पर क्रमश: एक वृषभ एवं एक सिंह का प्रतिरूप बना हुआ है।

मूर्तिकला की दृष्टि से सारनाथ स्तंभ का भव्य शिखर सर्वोत्कृष्ठ माना जाता है। इसकी रचना अशोक के शासनकाल के परवर्ती वर्षों में हुई। इस स्तंभ का निर्माण उस स्थान की स्मृति में किया गया था जहाँ गौतम बुद्ध ने अपना ख्यात् धर्मचक्र प्रवर्तन उपदेश सार्वजनिक रूप से दिया था। इसमें चार सिंहों की आकृतियाँ हैं जो परस्पर पीठ सटाए बैठे हैं। शेरों के नीचे निर्मित आधार फलक पर चार धर्मचक्र और चार घोड़ा, शेर, हाथी और बैल (नंदी) के चित्र उत्कीर्ण हैं और सबसे नीचे एक घंटी बनी है। समस्त शिखर पर काले रंग की एक चमकदार पॉलिश है। स्मिथ कहते हैं कि सारनाथ के शिखर में कलाकार द्वारा यथार्थ प्रतिरूपण एवं आदर्शवादी भव्यता का एक अद्भुत संमिश्रण किया गया है। स्मिथ की दृष्टि में प्राचीन विश्व में कहीं भी इस प्रतिमा का कोई जोड़ नहीं है।

यह सत्य है कि सारनाथ स्तंभ के शिखर का डिजाइन फारस से प्रभावित दिखता है, किंतु इसमें संदेह नहीं है कि आधार फलक की नक्काशी को विशुद्ध रूप से भारतीय मनोभावों के अनुरूप डिजाइन किया गया है। यदि आधार फलक पर वित्रित पशुओं को देखा जाए तो उनमें जिस भारतीयता की झलक विद्यमान है, उसे देखकर ऐसा भी प्रतीत नहीं होता है कि इसका निर्माण एक एशियाई यूनानी ने किया। कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से सारनाथ शिखर की बराबरी मात्र वह शिखर कर सकता है जो अब स्तंभ से पृथक हो चुका है, पर कभी साँची स्तंभ के शीर्ष पर अवस्थित था। यह शिखर सारनाथ शिखर की प्रतिलिपि प्रतीत होता है और ऐसा माना जा सकता है कि दोनों कलाकृतियों का निर्माण एक ही कलाकार के द्वारा हुआ होगा।

3.1.6. गुफाएँ

चट्टानों को काटकर गुफा-निर्माण की कला का उद्भव मौर्य काल में हुआ। इन गुफाओं का निर्माण बिहार में गया के निकट बराबर और नागर्जुनी नामक पहाड़ियों में अशोक एवं परवर्ती मौर्य राजा

दशरथ के द्वारा करवाया गया। अशोक द्वारा निर्मित गुफाओं में लोमस ऋषि की गुफा अत्यंत आकर्षक है। यह गुफा अंडाकार है तथा इसका मुख्य द्वार विशद् अलंकरण से युक्त है। दशरथ द्वारा बनवायी गयी गुफाओं में गोपी गुफा विशेष उल्लेखनीय है। यह गुफा एक आयताकार हॉल की तरह है जिसकी छत मेहराबदार है। इन सभी गुफाओं की विशिष्टता इनकी पॉलिश है जिसमें आज भी शीशे जैसी चमक है।

3.1.7. लोक कला

स्थानीय मूर्तिकारों द्वारा निर्मित मृण्मूर्तियाँ मौर्ययुगीन लोक कला का उदाहरण मानी जा सकती हैं। मातृ देवी की मृण्मूर्तियाँ बनाने की परंपरा भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही रही है। अहिच्छात्र में प्राप्त मृण्मूर्तियों से यह संकेत मिलता है कि यह परंपरा मौर्य युग में भी जारी रही। मौर्ययुगीन मृण्मूर्तियाँ विविध आकार की हैं और सामान्यत: पाटलिपुत्र एवं तक्षशिला के मध्य स्थित क्षेत्र में पायी गयी हैं। इनमें से कुछ साँचे में बनी प्रतीत होती हैं, फिर भी इनमें कहीं कोई पुनरावृत्ति नहीं है। मृण्मूर्तियों में आदिम मूर्तियाँ, देवी-देवता, खिलौने, आभूषण एवं मनका प्रमुख हैं। खिलौनों में कई पहिया लगे पशु हैं। हाथी का खिलौना विशेष रूप से प्रिय रहा है। आभूषणों में मिट्टी का गोलाकार लॉकेट अत्यंत लोकप्रिय था जिसका प्रयोग संभवत: बुरी नजरों से बचाव के लिए किया जाता था। कई अंय कलाकृतियों की रचना स्थानीय कारीगरों के द्वारा की गयी होंगी। पर चूँकि वे मिट्टी, लकड़ी एवं अंय नष्ट होनेवाली सामग्री से बनी हुई होंगी, इसलिए वे भविष्य के लिए सुरक्षित नहीं रह पायीं।

धौली स्थित एक चट्टान में उत्कीर्ण हाथी की आकृति भी लोक कला का उदाहरण प्रतीत होती है। संभवत: इसकी रचना स्थानीय कलाकारों ने की और इसमें उन राजकीय कारीगरों की कोई भूमिका नहीं थी जिन्होंने स्तंभों एवं शिखरों की रचना की। मौर्ययुगीन लोक कला के उदाहरण बेसनगर से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति, मथुरा के निकट मिली यक्ष की मूर्ति एवं दीदारगंज से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति के रूप में भी विद्यमान है। इन मूर्तियों में सौंदर्य की अपेक्षा आकार को बड़ा बनाने का विशेष आग्रह दिखता है।

3.1.8. मौर्ययुगीन स्थापत्य

उत्खनन से ज्ञात हाता है कि पाटलिपुत्र में मौर्य राजाओं का राजमहल विशाल एवं भव्य भवनों का एक बड़ा समूह था। मेगास्थनीज के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य का राजमहल अत्यंत विशाल एवं राजसी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण था। इसका निर्माण लकिड़यों से हुआ था और उसमें बारीक नक्काशी की गयी थी। यद्यपि ईंटों की कुछ नीवों के अतिरिक्त इस राजमहल का कोई अवशेष आज उपलब्ध नहीं है, पर ऐसी कोई वजह नहीं है जिसके आधार पर यह मान लिया जाए कि मौर्ययुगीन भवन साधारण एवं आदिम किस्म के थे। मौर्ययुगीन एकाश्म स्तंभों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के कारीगरों को पत्थर को तराशने एवं आकार देने में अद्भुत दक्षता हासिल थी। पर यदि मौर्य युग में भवन निर्माण हेतु पत्थरों के स्थान पर लकड़ियों का ही अधिक प्रयोग होता था तो इसका कारण यही हो सकता है कि उस समय गंगा के मैदानी इलाको में पत्थरों का अभाव था जबकि लकड़ियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं। उल्लेखनीय है कि लकड़ियों का बना होने के बावजूद यूनानी एवं रोमन लेखकों ने चंद्रगुप्त मौर्य के महल को सूसा एवं एकबातन के राजमहलों से अधिक भव्य माना है।

अशोक के पूर्व भारतीय वास्तुकारों ने भवनों की नींव को छोड़कर भवनों की अधिरचना तथा अंय भागों का निर्माण मुख्य रूप से लकड़ियों के द्वारा ही किया। भवनों की नींव हेतु उन्होंने धूप में सुखायी गयी ईंटों का प्रयोग किया। पर लकड़ी के प्रयोग से भवनों की भव्यता अथवा उनके ऐश्वर्य में

कोई कमी नहीं आयी। बल्कि लकड़ी के प्रयोग से बड़े-बड़े कमरों, बरामदों आदि पर बड़ी-बड़ी छतें बनाना संभव हो सका जो ईंटों अथवा पत्थरों के द्वारा संभव नहीं था। बाद में वास्तुकला के क्षेत्र में जब चापों एवं मेहराबों का प्रयोग प्रारंभ हुआ तब ईंटों एवं पत्थरों द्वारा भी बड़ी-बड़ी छतें बनाना संभव हो सका।

साहित्य से यह संकेत मिलता है कि अशोक ने अपने कई भवनों में पत्थरों का प्रयोग किया। इस बात के भी पर्याप्त साक्ष्य हैं कि अशोक ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में पूर्व से विद्यमान लकड़ी के भवनों के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक ठोस एवं मजबूत इमारतों का निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त उसने संपूर्ण साम्राज्य में ईंटों एवं पत्थरों की सैंकड़ो खूबसूरत संरचनाएँ बनवायीं। भवन निर्माता के रूप में उसकी गतिविधियाँ इतनी चमत्कारिक थीं कि समकालीन लोग उसके द्वारा निर्मित भवनों, इमारतों एवं अंय संरचनाओं को मानव निर्मित न मानकर उन प्रेतात्माओं द्वारा निर्मित मानते थे जो शाही जादूगर के आदेश पर राज्य के लिए कार्य किया करते थे।

3.1.9. स्तूप

स्तूप मौर्यकालीन स्थापत्य की एक महत्वपूर्ण देन है। अशोक ने गौतम बुद्ध अथवा प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों के ऊपर तक्षशिला, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, बोधगया, वैशाली आदि अनेक स्थानों पर स्तूप बनवाये। स्तूप की आकृति अर्द्धगोलाकार होती थी। उनका निर्माण कच्ची एवं पकी ईंटों द्वारा किया जाता था। स्तूप के ऊपर लकड़ी अथवा पत्थर की एक छतरी होती थी। स्तूप की परिक्रमा हेतु उसके चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ निर्मित होता था।

कला की दृष्टि से साँची का स्तूप सर्वश्रेष्ठ है। यह $77^{1/2}$ फुट ऊँचा तथा इसका व्यास $121^{1/2}$ फुट है। मूल स्तूप का निर्माण ईंटों द्वारा किया गया था, पर बाद के वर्षों में पत्थर आदि जोड़कर इसका आकार लगभग दुगुना कर दिया गया। नेपाल की सीमा पर अवस्थित पिपरहवा का स्तूप भी उल्लेखनीय है। यह स्तूप पत्थरों द्वारा निर्मित एक विशाल कक्ष के चारों ओर बनाया गया है। इसके संबंध में स्मिथ कहते हैं – "इस स्तूप में ईंटें अत्यंत निपुणता से लगायी गई हैं तथा अस्थियों के सम्मान में यहाँ सोने, चांदी तथा बहुमूल्य रत्नों के जो आभूषण रखे गये हैं, उनसे मौर्यकालीन कलाकारों की दक्षता एवं उनके कौशल का परिचय मिलता है।"

3.1.10. सारांश एवं आलोचना

मौर्ययुगीन कलाकृतियाँ रूप एवं शैली में फारस एवं यूनान की कला से अत्यंत सन्निकट प्रतीत होती हैं। कुछ इतिहासकारों का मत है कि मौर्य युग में भवन निर्माण एवं मूर्तिकला हेतु पत्थरों का प्रयोग यूनानी एवं फारसी प्रभाव की वजह से था। मार्टीमर व्हीलर भी कहते हैं कि राज्य द्वारा नियुक्त मौर्य मूर्तिकार फारसी मूल के थे जो भारत में बस गये थे। इन मतों को संपूर्णत अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। पर हमें यह भी स्मरण होना चाहिए कि अशोक मौलिक विचारों का व्यक्ति था और वह बड़े-बड़े भवनों एवं संरचनाओं को डिजाइन करने एवं उन्हेंआकर देने में पूर्ण रूप से समर्थ था। इसलिए मौर्य कला पर विदेशी प्रभाव जो भी रहा हो, यह बात अधिक समीचीन प्रतीत होती है कि संरचनात्मक उद्देश्य से पत्थरों के प्रयोग का निर्णय अशोक ने स्वतंत्र रूप से लिया होगा। रही मार्टीमर व्हीलर की बात तो उस संबंध में यही कहा जा सकता है किउनकी बात पूर्णत: असत्य नहीं है क्योंकि तुषास्प जैसे फारसी मूल के कुछ व्यक्ति राज्य द्वारा प्रशासनिक कार्यों हेतु नियुक्त किए गये थे। पर यदि यह मान भी लिया जाए कि

फारसी मूल के कारीगर भारत में बस गये थे तो भी यह प्रश्न आज की तिथि में अनुत्तरित ही रहेगा कि फारसी मूल की वस्तुएँ बड़ी संख्या में मौर्ययुगीन भारत में क्यों नहीं प्राप्त हुई हैं। रोमिला थापर कहती हैं कि मौर्ययुगीन दरबारी कला का परीक्षण करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एक साम्राज्यिक संरचना की कलात्मक अभिव्यक्ति शायद ही राष्ट्रीय होती है। एक साम्राज्य की प्रकृति सार्वदेशिक होती है क्योंकि इसमें वैसे क्षेत्र भी सम्मिलित होते हैं जो भूतकाल में कभी एक-दूसरे के विदेशी रहे होते हैं।

मौर्यकालीन कला की एक कमी यह थी कि उस कला में तत्कालीन लोक जीवन को पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं मिली। यह कला मुख्य रूप से राजकीय कला थी जिसका विकास मौर्य राजाओं ने अपनी सत्ता एवं अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने हेतु किया। इस कला ने लोक कला का रूप कभी धारण नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ उस कला का अपेक्षित विकास नहीं हो सका। फिर भी, भारतीय कला के विकास में मौर्यकला का महत्वपूर्ण स्थान है। मौर्ययुग में चट्टानों और पत्थरों को काटकर, तराशकर और उनपर पॉलिश करके उन्हें सजीव एवं जीवंत आकार देने की एक ऐसी कला प्रारंभ हुई, जिससे भावी पीढ़ी के कलाकार परवर्ती वर्षों में भी प्रेरणा पाते रहे।

3.1.11. पारिभाषिक शब्दावली

अभिलेख – Inscription
आधार फलक – Abacus
एकाश्म स्तंभ - Monolith/Monolithic column
मूर्ति कला – Sculpture
मृण्मूर्ति – Terracotta
लोक कला – Folk art
वास्तुकला – Architecture
शिखर – Capital
स्तंभ - Pillar/Column
स्थापत्य – Architecture

3.1.12. बोध प्रश्न

1. कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में मौर्ययुग की उपलब्धियों का विवेचन करें।
2. मौर्ययुगीन मूर्तिकला की विशेषताओं का विवेचन करें।
3. मौर्ययुगीन स्थापत्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
4. मौर्ययुगीन लोककला पर प्रकाश डालें।
5. मौर्ययुगीन स्तूप पर एक टिप्पणी लिखें।

3.1.13. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. कुमार स्वामी, आनंद के., हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, नई दिल्ली, 1972
2. थापर, रोमिला, अशोक एवं मौर्य साम्राज्य का पतन, दिल्ली, 1982
3. बरुआ, बी.एम., अशोक एण्ड हिज इंस्क्रृप्शंस, कलकत्ता, 1948

4. बाशम, ए. एल., अद्भुत भारत, लंदन, 1954
5. स्मिथ, वी.ए., ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सिलोन, ऑक्सफोर्ड, 1967

खण्ड – 3 कला एवं स्थापत्य

इकाई – 2 मौर्योत्तर काल: गंधार एवं मथुरा कला शैली

इकाई की रूपरेखा

3.2.1 उद्देश्य
3.2.2 प्रस्तावना
3.2.3 गंधार कला
3.2.3.1 गंधार कला की शैलियाँ
3.2.3.2 गंधार कला के प्रमुख केंद्र
3.2.3.3 कापिशी
3.2.3.4 कला का विकास एवं तिथिक्रम
3.2.3.5 बुद्ध प्रतिमा का विकास
3.2.3.6 गंधार तथा मथुरा की बुद्ध प्रतिमाओं की तुलना
3.2.3.7 गांधार कला पर विदेशी प्रभाव
3.2.4 मथुरा कला
3.2.4.1 स्तूप और वेदिका-स्तंभ
3.2.4.2 जैन कला
3.2.4.3 हिंदू मूर्तियाँ
3.2.4.4 यक्ष मूर्तियाँ
3.2.4.5 नाग मूर्तियाँ
3.2.4.6 सम्राटों की मूर्तियाँ
3.2.4.7 बुद्ध की मूर्ति का आविर्भाव
3.2.4.8 मथुरा की बुद्ध प्रतिमा की विशेषतायें
3.2.4.9 मथुरा कला पर विदेशी प्रभाव
3.2.5 सारांश
3.2.6 बोध प्रश्न
3.2.6.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
3.2.6.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
3.2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.2.1 उद्देश्य

मौर्योत्तर काल में कुषाण काल भारतीय कला के इतिहास में अपनी कई विशेषताओं के लिए असाधारण महत्व रखता है। मौर्य वंश के पतन से गुप्त वंश के अभ्युदय तक की पाँच शताब्दियों में भारतीय कला का विलक्षण बहुमुखी विकास और व्यापक उत्कर्ष हुआ। इस समय कलाकारों और शिल्पियों ने जिन अमर कृतियों की रचनाएँ कीं वे आज भी हमारे लिए गौरव और गर्व का विषय बनी हुई हैं। इस काल में प्रमुख रूप से दो कला शैलियाँ प्रचलित हुईं जिन्हें इतिहास में गंधार कला शैली एवं मथुरा कला शैली के नाम से जाना जाता है। इन कलाओं की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन कलाओं में

पत्थर का अधिक प्रयोग होने लगा अतः इस काल में प्रस्तर शिल्प और स्थापत्य कला का अभूतपूर्व विकास हुआ। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य गंधार कला शैली एवं मथुरा कला शैली की विस्तृत विवेचना करना है।

3.2.2 प्रस्तावना

मौर्योत्तर युग की कला के 500 वर्षों के सुदीर्घ इतिहास को राजवंशों, विभिन्न स्मारकों और प्रादेशिक भेदों के आधार पर कई प्रकार से विभक्त किया जाता है। इस समय भारहुत, सांची, बुद्ध गया, मथुरा, गंधार, पश्चिमी भारत, पूर्वी भारत, अमरावती और नागार्जुन कोंडा में विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। इन कला-शैलियों के तिथिक्रम में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। फिर भी मोटे तौर से यह माना जाता है कि भारहुत, बुद्ध गया और सांची की कलाएँ शुंगकालीनहैं। इनमें भारहुत के स्तूप का समय 150 ई. पूर्व, सांची का स्तूप पहली शताब्दी ई. पूर्व का तथा बुद्ध गया का इन दोनों के बीच में समझा जाता है। इसके बाद कुषाण युग में मथुरा और गंधार की कला-शैलियों का विकास हुआ। प्रस्तुत इकाई में गंधार कला शैली एवं मथुरा कला शैली की उदाहरणों सहित विवेचना, दोनों कलाओं के प्रमुख केंद्र, महत्व एवं गंधार कला शैली एवं मथुरा कला शैली का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में संपूर्ण अध्ययन का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी प्रस्तावित है।

3.2.3 गंधार कला

आरंभिक शताब्दियों में जब मथुरा में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण हुआ, उसी समय गंधार प्रदेश में एक विभिन्न प्रकार की मूर्तिकला का विकास हुआ। प्राचीन काल में सिंधु नदी के पूर्वी और पश्चिमी तट पर पेशावर की घाटी, स्वात, बुनेर और बाजौर के प्रदेशों को गंधार कहा जाता था। सिंधु नदी के पूर्व में पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी और पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती। यह प्रदेश भारत और पश्चिमी जगत के बीच में बसा हुआ था। इस भौगोलिक स्थिति के कारण यह विभिन्न जातियों के आक्रमण का शिकार और विभिन्न देशों के व्यापारिक मार्गों का केंद्र बना तथा यहाँ विविध जातियों की संस्कृतियों का संगम हुआ। यह प्रदेश सर्वप्रथम छठी और पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में हखामनी साम्राज्य का अंग बना। चौथी शताब्दी ई. पू. में कुछ समय तक यह सिकंदर की सेनाओं के अधिकार में रहा। उसके बाद यहाँ चंद्रगुप्त ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, किंतु एक शताब्दी के मौर्य शासन के बाद दूसरी शताब्दी ई. पू. में यहाँ यूनानियों का शासन पुनः स्थापित हुआ। पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में शकों ने इन्हें जीत लिया, किंतु लगभग एक शताब्दी बाद पहलवों और कुषाणों ने शकों को हराया। तीसरी शताब्दी ई. में इस प्रदेश पर पुनः ईरान के सासानी सम्राटों ने तथा चौथी शताब्दी में किदार कुषाणों ने अपना शासन स्थापित किया। 465 ई. श्वेत हूणों ने यहाँ प्रबल विध्वंस और विनाश की तांडव-लीला करते हुए इस प्रदेश के प्राचीन स्मारकों को गहरा धक्का पहुँचाया। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गंधार प्रदेश पर ईरानी, यूनानी, भारतीय, शक, पहलव और कुषाण जातियों के हमले होते रहे तथा इसने इन सब जातियों के प्रभावों को ग्रहण किया। इसके साथ ही प्राचीन काल में भारत और चीन से पश्चिमी जगत को जाने वाले महत्वपूर्ण स्थलीय व्यापारिक मार्ग इसी प्रदेश से होकर गुजरते थे, अतः यह प्रदेश उस समय व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ विभिन्न देशों की कलाओं के प्रभाव को ग्रहण कर रहा था। इन सबके समन्वय से जो कला यहाँ ईसा की पहली चार शताब्दियों में विकसित हुई उसे गंधारकला

कहा जाता है। यह प्रधान रुप से यूनानी और भारतीय कला के सम्मिश्रण से बनी थी, इस पर ईरान और रोम का भी प्रभाव भी पड़ा था।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लगभग 100 वर्ष पहले 1870 ई. में अपनी सभ्यता और संस्कृति का मूल स्त्रोत यूनान को समझने वाले पश्चिमी जगत् को इस कला का परिचय लिटनर के लेखों से मिला तो पश्चिमी विद्वानों ने इस कला को अत्यधिक महत्व दिया, भारतीय कला पर इसका गहरा प्रभाव माना, इसकी यूनानी बौद्ध कला का नाम दिया। किंतु इस विषय में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस कला का उत्कर्ष उस समय हुआ जब भारत में यूनानी शासन समाप्त होकर अतीत की वस्तु बन चुका था। इस कला के प्रधान पोषक और संरक्षक यूनानी नहीं, अपितु मध्य एशिया से आने वाले शक और कुषाण थे, अतः इसे यूनानी बौद्ध कला का नाम देना ठीक नहीं प्रतीत होता। इसके आविर्भाव और विकास के प्रधान क्षेत्र के आधार पर इसे गांधार कला का नाम देना समीचीन प्रतीत होता हैं।

3.2.3.1 गंधार कला की शैलियाँ

गांधार कला को दो बड़ी शैलियों में बाँटा गया है। पहली कला-शैली या संप्रदाय का विकास पहली-दूसरी शताब्दी ई में हुआ। इस कला का माध्यम एक विशेष प्रकार का भूरे काले रंग का परतदार पत्थर था। इस शैली की सभी मूर्तियाँ इसी पत्थर की बनी होती हैं। दूसरी परवर्ती शैली का समय पाँचवी शताब्दी ई. माना जाता है। इस समय इस कला का माध्यम परतदार पत्थर न होकर मिट्टी, चूना, पलस्तर, मसाला या गचकारी था। इन दोनों कला-शैलियों के हजारों उदाहरण प्राचीन गंधार प्रदेश और अफगानिस्तान से मिले है। इनसे यह प्रतीत होता है कि इस कला के सात बड़े केंद्र थे-तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वात नदी की घाटी, कापिशी, बामियाँ, बाल्हीक या बैक्ट्रिया।

3.2.3.2 गंधार कला के प्रमुख केंद्र

गांधार कला का पहला केंद्र तक्षशिला पश्चिमी पाकिस्तान के रावलपिंडी जिले में पूर्वी गंधार की राजधानी एवं व्यापार और कला का बड़ा केंद्र था। सर जान मार्शल ने इस स्थान की खुदाई से यहाँ गंधार-कला के कई महत्वपूर्ण अवशेष उपलब्ध किये थे। इनमें सबसे बड़ा अवशेष धर्मराजिका या चीर स्तूप है। इसको यह नाम इस स्तूप के शिरोभाग पर पड़ी एक दरार के कारण दिया गया है। यह गोल आकृति में ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया था, इसका बाहरी खोल पत्थर की शिलाओं से ढका हुआ था। इनमें अनेक प्रकार के अलंकरण और बोधिसत्वों की पूजा के लिए आले बने हुए थे। इसके पास ही एक बड़ा चैकोर विहार मिला है। तक्षशिला के आस पास का पूरा पहाड़ी इलाका इस प्रकार के अवशेषों से भरा हुआ है। दूसरा केंद्र पुष्कलावती पश्चिमी गंधार की राजधानी थी। इसे हश्तनगर भी कहते हैं। यहाँ हारिति का एक बड़ा मंदिर मिला है। इसके पास बालाहिसार में कुणाल का स्तूप है जहाँ अशोक के पुत्र कुणाल ने अपनी सुंदर आँखों का दान किया था। इसके निकट पल्टूढेरी से दीपंकर जातक की, महाभिनिष्क्रमण की एवं बुद्ध और बोधिसत्व की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। दीपंकर जातक की कथा इस प्रदेश में बहुत लोकप्रिय थी। इसमें सुमेध नामक युवक ने बुद्ध के पैरों को मलिन होने से बचाने के लिए कीचड़ पर अपने बालों को बिछाया था, तब बुद्ध का नाम दीपंकर था। पेशावर के निकट शाह जी की ढेरी नामक स्थान पर कनिष्क द्वारा निर्मित महान स्तूप के अवशेष मिले हैं। चीनी यात्रियों ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इनके अनुसार इसका आधार पाँच खण्डों (150 फीट) में था। इसके ऊपर लकड़ी का स्तूप तेरह मंजिलों (400 फीट) में बना था। इस पर बिजली आदि से रक्षा के लिए एक लोहे का खम्भा था, इस पर 13 से 25 तक सोने का पानी चढ़े ताम्बे के छत्र (88 फीट) थे। इस प्रकार इस स्तूप की कुल ऊँचाई 638 फी. थी। कुमारस्वामी ने इसे भारत के सामान्य स्तूप तथा बर्मा एवं चीन के पगोडों का मध्यवर्गी रूप माना है। यह

प्राचीन काल का सर्वोत्तम स्तूप था। फाहियान ने लिखा है कि "यात्रा में अनेक स्तूप और मंदिर देखे, किंतु ऐसा मनोहर, भव्य कोई दूसरा स्तूप नहीं दिखाई दिया। ऐसा कहा जाता है कि यह जंबुद्वीप में सर्वोत्तम स्तूप है।" इस समय केवल इसका आधार ही मिला है। इसका व्यास 286 फीट है। यह सूचित करता है कि यह उस समय का सबसे बड़ा स्तूप था।

पेशावर से बैक्ट्रिया जाने वाले मार्ग पर नगरहार (जलालाबाद) नामक एक महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ बीमरान नामक स्थान पर सेलखड़ी के पात्र में रखी हुई सोने की मंजूषा मिली है। इसके निकट ही हड्डा नामक स्थान से गंधार कला शैली की पत्थर की तथा गचकारी की यूनानी शैली की अनेक मूर्तियाँ और एक स्तूप मिला है।

3.2.3.3 कापिशी

अफगानिस्तान में गंधार कला का एक महत्वपूर्ण केंद्र कुषाण सम्राटों की गर्मियों की राजधानी कापिशी थी। फ्रेंच पुरातत्वज्ञों को इसके वर्तमान स्थान बेग्राम पर हाथीदाँत के बहुत से फलक मिले हैं जो किसी समय शृंगार-पेटियों या रत्न-मंजूषाओं पर जड़े हुए थे। इनमें हमें एक ओर विशुद्ध भारतीय प्रभाव और दूसरी ओर कुछ वस्तुओं पर रोमन कला का प्रभाव दिखाई देता है। भारतीय कला के उदाहरण प्रायः मथुरा की कला से बहुत सादृश्य रखते हैं। इनमें अशोक वृक्ष पर वामपाद से प्रहार करती हुई स्त्रियाँ हैं। इनके बालों के जूड़े को कई घेरों में एक-दूसरे के ऊपर उठा कर निकलती हुई लट के साथ दिखाया गया है। इसे प्राचीन साहित्य में शुक्लांशुक अट्टाल कहा जाता था। इस केश-भूषा का चित्रण मथुरा में भी पाया जाता है। हाथीदाँत पर अंकित अन्य दृश्यों में शृंगार का सामान ले जाने वाली प्रसाधिका, उड़ते हुए हंस, पूर्ण घट, हंस क्रीड़ा, प्रसाधन और नृत्य करने वाली स्त्रियाँ तथा वंशी बजाती हुई और लंबे केशों से पानी निचोड़ती हुई स्त्रियाँ हैं। इन स्त्रियों के मांसल शरीर की कामुक अनुभूति वैसी है जैसी मथुरा के वेदिका-स्तंभों की नारियों में पायी जाती हैं। कापिशी में पश्चिमी कला का प्रभाव सूचित करने वाले अनेक रंगीन प्याले मिले हैं। यह स्थान उन दिनों पूर्व और पश्चिम के व्यापार का महान केंद्र था और इन पात्रों को संभवत: व्यापारी रोम से लाये थे। इन पात्रों पर अनेक यूनानी दृश्य अंक्ति हैं, जैसे एकली और हेरा के द्वंद का दृश्य। एक तिकोने प्याले पर ज्यूस के गरुड़ द्वारा गेनीमेडी के अपहरण के और एक वृषभ द्वारा यूरोप के अपहरण के दृश्य अंकित हैं। मसाले के बने गोल टिकरों पर रोम देश के सुंदर स्त्री पुरूषों के और पान गोष्ठियों के दृश्य अंकित हैं। इन कलावशेषों से यह सूचित होता है कि कापिशी के व्यापारिक और राजनीतिक केंद्र को एक ओर मथुरा की तथा दूसरी ओर रोम की कला ने बहुत प्रभावित किया था। कलाशास्त्री ग्लोव्यू ने दृढ़तापूर्वक यह स्थापना की है कि कापिशी के हाथीदांत के फलक अधिकांश रूप में मथुरा की कला की देन है। काबुल से 12 मील उत्तर खैरखाना में 1936 में एक पुराने मंदिर से सूर्य की मूर्ति मिली थी। इसमें सूर्य दोनों पैर लटकाये हुए ललितासन में अपने सेवक-दंड और पिंगल के मध्य में दो घोड़ों के रथ पर बैठे हुए हैं। सूर्य चौथी शताब्दी के सासानी राजाओं का वेष धारण किये हुए हैं।

अफगानिस्तान से बलख जाने वाले मार्ग पर बामियाँ का दर्रा बड़ा महत्व रखता है। इस दर्रे के निकट अनेक गुफायें हैं। इनमें अजंता जैसे भित्ति-चित्र हैं। इन चित्रों पर सासानी युग के ईरान की छाप है और मध्य एशिया की चित्रकला का प्रभाव है। उन दिनों बामियाँ चीन तथा मध्य एशिया से भारत आने वालों का प्रवेश-द्वार था। यहाँ श्रद्धालु, धर्मपिपासु बौद्ध चीन और मध्य एशिया से तथा व्यापारी ईरान और रोम से आते थे। श्रद्धालु तीर्थ यात्रियों को भारत के दिव्य रूप का दर्शन करने के लिए न केवल यहाँ भित्तिचित्रों का निर्माण किया गया, अपितु बुद्ध की अतीव भीमकाय मूर्तियाँ बनाई गई थीं। इस समय ऐसी दो मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें से एक 114 फीट ऊँची और दूसरी 173 फुट ऊँची हैं। बामियाँ के बाद उत्तर

की ओर बढ़ते हुए बैक्ट्रिया सुप्रसिद्ध यूनानी राज्य की राजधानी बैक्ट्रिया आती थी। यह उन दिनों न केवल व्यापार का, अपितु कला और संस्कृति का बहुत बड़ा केंद्र था। यहाँ नवविहार नामक एक विहार के अवशेष मिले हैं। आमू नदी के उत्तरी तट पर तिरमिज इस कला का एक बड़ा केंद्र था। यहाँ पहली शताब्दी ई. के एक स्तूप में बोधिसत्व की प्रतिमाएँ मिली हैं।

3.2.3.4 कला का विकास एवं तिथिक्रम

गंधार कला का विकास और तिथिक्रम अत्यंत विवादग्रस्त है। इस पर प्रकाश डालने वाली मूर्तियाँ कम हैं। केवल कुछ मूर्तियों पर ही वर्ष अंकित हैं, जैसे हश्तनगर की 384 वर्ष की मूर्ति तथा लौरियाँ तंगई की 318 वर्ष की मूर्ति हैं। किंतु अभी तक यह नहीं ज्ञात नहीं हो सका है कि ये वर्ष किस संवत् के अनुसार है। अतः गंधार कला का तिथि-निर्धारण मूर्तियों की विकास-शैली के आधार पर किया गया है। किंतु इस विषय में विद्वानों में विभिन्न मत है। सर्वप्रथम कनिंघम ने गंधार की मूर्ति-कला का स्वर्णयुग कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों का समय माना था, किंतु दुर्भाग्यवश कनिष्क की तिथि के संबंध में उग्र मतभेद है। फर्गुसन ने इसका समय पहली शताब्दी ई.पू. से 5वीं शताब्दी ई. मानते हुए इसका स्वर्ण युग 400 ई. के आसपास माना। विंसेंट स्मिथ ने इस पर रोमन प्रभाव मानते हुए इसके चरम उत्कर्ष का समय 50 से 150 अथवा 200 ई. निश्चित किया था। ग्रुइन वेडल और फूशे इसका आरंभ पहली शताब्दी ई.पू. में मानते हैं। किंतु इसके चरम विकास का काल पहले विद्वान के मतानुसार चौथी शताब्दी ई. का उत्तरार्द्ध है और दूसरे के मतानुसार पहली शताब्दी ई.पू. है। यह पहली शताब्दी में ही इसका ह्रास मानता है। वोगल फूशे से सहमत है, किंतु रोलैंड ने रोम और गंधार की कलाओं की तुलना करते हुए यह मत प्रकट किया है कि गंधार कला का आविर्भाव पहली शताब्दी ई. के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसके चरम उत्कर्ष का समय पहली शताब्दी ई. के अंत से चौथी शताब्दी ई. के आरंभ तक था। घिर्शमान ने इसका आरंभ पहली शताब्दी ई. में, उत्कर्ष दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और इसका ह्रास तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना है। इस विषय में दो नवीनतम मत हेरोल्ड इंघोल्ट तथा मार्शल ने प्रकट किये हैं। इंघोल्ट के मतानुसार शैली के आधार पर गंधार की मूर्तियों को 4 वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग की मूर्तियों का समय 144 ई. से 240 ई. है। उनके मतानुसार इसका आरंभ कनिष्क के राज्यारोहण से तथा समाप्ति ईरान के सासानी सम्राट शापुर प्रथम की विजय के साथ होती है। दूसरे वर्ग का समय बहुत ही कम 240 से 300 ई. तक का है। तीसरे वर्ग का समय 300 से 400 ई. का है। चैथे वर्ग की मूर्तियों का समय 400 से 460 ई. तक का है, जब श्वेत हूणों ने इस प्रदेश को जीत कर यहाँ बौद्ध विहारों और स्तूपों को गहरी क्षति पहुँचाई। इस प्रकार गंधार कला का विकास चार अवस्थाओं या युगों में हुआ। पहले युग में इस कला पर यूनानी प्रभाव के अतिरिक्त ईरान का प्रभाव भी पड़ने लगा था। दूसरे युग में ईरान के सासानी प्रभाव में वृद्धि हुई। तीसरे युग में मथुरा की कला का गहरा प्रभाव पड़ा और चौथे युग में इस कला पर ईरान का सासानी प्रभाव प्रबल होने लगा। सर-जान मार्शल ने जीवन-पर्यंत गंधार कला का अध्ययन करने के बाद इसके क्रमिक विकास के संबंध में यह निष्कर्ष निकाला है कि इसका आविर्भाव शक शासन के समय में पहली शताब्दी ई. पू. में हुआ। पहलव शासकों से पहली शताब्दी ई. में इसे प्रोत्साहन मिला। 25 से 60 ई. तक इसका शैशव-काल है। इसके बाद कुषाण सम्राटों के प्रोत्साहन से यह कला दूसरी शताब्दी ईस्वी में किशोरावस्था और यौवन दशा को प्राप्त हुई। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों ने इस बात पर सहमति प्रकट की है कि कनिष्क के समय में गंधार कला को प्रबल प्रोत्साहन मिला।

3.2.3.5 बुद्ध प्रतिमा का विकास

मथुरा के कलाकारों की भाँति गंधार के शिल्पियों ने भी बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया था, किंतु यह मूर्ति शैली की दृष्टि से मथुरा की मूर्ति से भिन्न है। मथुरा में यक्षों और योगियों की पुरानी परंपरा का अनुसरण करते हुए तथागत की मूर्ति का निर्माण किया गया था, किंतु गंधार के शिल्पियों ने इस विषय में यूनानी कला का अनुसरण किया। प्रायः यह कहा जाता है कि यूनानियों ने अपने सूर्य देवता अपोलो की प्रतिकृति का अनुसरण करते हुए बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया है। किंतु इस विषय में आनंद कुमार स्वामी का यह मत अधिक समीचीन जान पड़ता है कि गंधार की मूर्तिकला में अपोलो को बुद्ध नहीं बनाया गया, किंतु बुद्ध को अपोलो बनाया गया है। इसका यह अभिप्राय है कि गंधार के कलाकारों का उद्देश्य तो भारतीय आधार पर बुद्ध की मूर्ति को बनाना था, किंतु उनका हाथ यूनानी कला में सधा हुआ था, इसलिए उन्होंने बुद्ध को यूनानी आदर्शों के अनुसार गढ़ा। गंधार की बुद्ध-मूर्ति में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं - (1) बुद्ध का चेहरा यूनानी देवता अपोलो के अनुसार विशुद्ध अंडाकार और सौम्य भाव रखने वाला बनाया गया है। (2) रोम में अपोलो और एफ्रोडाइट यूनानी मूर्तियों के सिर में जूड़ा बनाया जाता था। इसमें बाल सिर के ऊपर एक या दो जूड़ों के रूप में बँधे हुए होते थे। यूनानी सूर्य देवता के सिर पर बनाये गये ऐसे उभार को क्रोबीलोज कहते थे। गंधार के कलाकारों ने इसका अनुसरण करते हुए बुद्ध के सिर पर उष्णीष बनाया। (3) बुद्ध का वेष भी तत्कालीन रोम में प्रचलित देश के अनुसार है। उस समय रोम में टोगा का वेष प्रचलित था। टोगा नागरिकों द्वारा धारण किया जाने वाला तथा सारे शरीर को ढँकने वाला चोगा या एक बड़ी चादर होता था। गंधार कला में बुद्ध को ऐसा चोगा पहने दिखाया गया है। रोलैंड के मतानुसार ऑगस्टस के युग में रोम की मूर्तियों की भाँति बुद्ध के वस्त्रों की सलवटों को गहरी लकीरों के रूप में उकेरा गया है। इस प्रकार बुद्ध की प्रतिमा पर पहली शताब्दी ई. की रोमन कला का स्पष्ट प्रभाव है। किंतु इसके साथ ही गंधार के कलाकारों ने बुद्ध को बनाते हुए अपने प्रधान उद्देश्य को विस्मृत नहीं किया और इसे बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के आधार पर बनाया। इन मूर्तियों के अर्धनिमीलित नेत्र भौतिक जगत् से अनासक्ति की भावना को प्रकट करते हैं। इनके मुखमंडल पर माधुर्य प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की कामना को सूचित करता है। इन मूर्तियों के कान लंबे हैं। ये संभवत: बुद्ध द्वारा सिद्धार्थ के रूप में बड़े कुंडल धारण करने के कारण ऐसे हो गये हैं। कुछ मूर्तियों में कुषाण-प्रभाव के कारण मूँछे भी दिखाई गई हैं। गंधार का प्रदेश शीतप्रधान था, अतः यहाँ बुद्ध के दोनों कंधे ढ़के हुए दिखाये गये हैं और बुद्ध के वस्त्र भारी और मोटे हैं। उपरले वस्त्रों के भीतर से मथुरा की मूर्तियों की भाँति निचले वस्त्र नहीं दिखाई देते हैं। बुद्ध की कुछ बैठी मूर्तियों में एक दाँया कंधा नंगा दिखाया गया है।

3.2.3.6 गंधार तथा मथुरा की बुद्ध प्रतिमाओं की तुलना

गंधार की बुद्ध प्रतिमा की तुलना यदि मथुरा की बुद्ध प्रतिमा से की जायें तो दोनों में निम्नलिखित भेद दिखाई देते हैं - (1) पहला भेद मूर्ति के माध्यम या पत्थर का है। गंधार की मूर्तियाँ भूरे रंग के परतदार पत्थर में या मसाले से बनी हुई हैं। मथुरा की मूर्तियाँ सफेद चित्तियों वाले लाल पत्थर से बनाई गई हैं। (2) गंधार की मूर्तियों का सिर घुँघराले वालों से ढका है, मथुरा में बुद्ध का सिर मुण्डा हुआ है। (3) गंधार में सिर पर उष्णीष और मस्तक पर ऊर्णा नामक बिंदी पाई जाती है, किंतु मथुरा की मूर्ति में ऊर्णा नहीं मिलती है। (4) गंधार के बुद्ध मथुरा की भाँति सफाचट नहीं होते, अपितु उनके चेहरों पर कुषाण सम्राटों की मूर्तियों की भाँति मूँछें पाई जाती हैं। (5) गंधार की खड़ी मूर्तियों में बुद्ध के दोनों कंधे ढके दिखाये गये हैं, मथुरा में दायाँ कंधा नंगा होता है। (6) गंधार के वस्त्र झीने और पारदर्शक नहीं होते, उनके भीतर से

अंदर के वस्त्र नहीं दिखाई देते। किंतु मथुरा में इन पारदर्शक वस्त्रों में भीतर के अंग और वस्त्र स्पष्ट दिखाई देते हैं। बुद्ध की बहुत सुंदर खड़ी मूर्तियाँ सहरी बहलोल तथा तख्तेबाही से मिली हैं। सहरी बहलोल की एक बड़ी मूर्ति (8 फीट 8 इंच) इस कला का बढ़िया नमूना है। यह अपने विशाल प्रमाण, सौम्य दर्शन और करुणामयी दृष्टि से दर्शकों पर गहरा प्रभाव डालती है। इसमें ऊपर बताई गई सभी विशेषताएँ उष्णीष, लंबे कान, मूँछें, दोनों कंधों का ढका होना, अभय मुद्रा में दायें हाथ का उठा होना दिखाई देता है। इसके माथे पर उर्णा के स्थान पर छोटे गढ़े में चमकीला नग जड़ा हुआ था। इसके हाथों में उँगलियों को मिलाने वाली त्वचा स्पष्ट दिखाई देती है। प्राचीन काल में यह महापुरूषों का लक्षण माना जाता था। इसके मस्तक के पीछे एक बड़ा और सादा प्रभामंडल बना हुआ है।

3.2.3.7 गांधार कला पर विदेशी प्रभाव

गंधार की मूर्तिकला में अनेक विदेशी तत्व पाये जाते हैं। इनमें कुछ तत्व यूनानी कला से और कुछ भारतीय कला से ग्रहण किये गये हैं। यूनानी कला के तत्वों में निम्नलिखित हैं - भारवाहक गुह्यक या किंकर, किन्नर मालाधारी वामन, समुद्री देवता, एथिना या रोमादेवी। लाहौर संग्रहालय में रोमा की एक भव्य मूर्ति सुरक्षित है। यह गंधार कला की सर्वोत्तम मूर्तियों में गिनी जाती है। यूनानी-रोमन कला के निम्नलिखित अभिप्राय भी यहाँ पाये जाते हैं - जैसे कोरिथियन, आयोनियन और डोरिक शैली के स्तंभ, कामपुत्र के यक्ष, मालाओं के फैस्टव गुह्यक, यक्ष, जलदेवता समृद्धि श्रृंग लिये हुए देवी दीमित्रा, हारीती, हापोत्रित, किन्नर, सेंटार, सिलेनस्ल, सैटर इत्यादि। गंधार कला पर ईरानी प्रभाव को सूचित करने वाला जंडियल का अग्नि-मंदिर है। इसके अतिरिक्त हिंगुलाज की देवी मानी और अनाहिता देवी की मिट्टी की बहुत मूर्तियाँ मिली हैं। बिना पंखों वाले पीठ से पीठ सटायें बैलों और हाथियों वाले स्तंभ शीर्ष तथा काल्पनिक नर मस्तक वाले पशु भी ईरानी कला की देन थे। भारत का कुबेर यहाँ पंचिक के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी और हारीती की मूर्तियाँ यहाँ बहुत पाई जाती हैं। वे उस समय गृहस्थों की सब कामनाओं को पूरा करने वाले देवता माने जाते थे।

गंधार कला यूनान और भारत की सर्वथा विभिन्न आदर्श रखने वाली कलाओं के समन्वय का एक प्रयास था। यूनानियों के लिए मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि सभी कुछ थी, उन्होंने देवताओं को भी मानव रूप प्रदान किया, वे भारतीय देवताओं में श्रद्धा रखते थे। उन्होंने इन देवताओं को भी मानव बना दिया। यही कारण है कि यूनानी कला वास्तववादी है एवं भारतीय कला आदर्शवादी है। पहली भौतिक है और दूसरी आध्यात्मिक। गंधार कला में इन दोनों का सम्मिश्रण किया गया। गंधार कला की आत्मा भारतीय थी, किंतु बाह्य शरीर यूनानी था। यह कला अपने व्यापक प्रभाव के कारण बड़ा महत्व रखती है क्योंकि मध्य एशिया और चीन तक बौद्ध धर्म के साथ इस कला का प्रसार हुआ और चीन की सहस्र बुद्ध गुहाओं की मूर्तियों और चित्रों पर इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है इसने तिब्बत, मध्य एशिया और अफगानिस्तान की कला पर भी प्रभाव डाला। मूर्तियों के प्रचुर परिमाण और प्रभाव की व्यापकता की दृष्टि से इस कला का विशेष महत्व है।

3.2.4 मथुरा कला

प्रथम तीन शताब्दियों में मथुरा, कुषाण युग की मूर्तिकला का महान केंद्र था। इसे कई कारणों से यह गौरव प्राप्त हुआ। यमुना तट पर बसी यह नगरी एक महान तीर्थस्थल रहा है। यहाँ अनेक व्यापारिक पथ मिलते थे। जिससे मथुरा को विलक्षण समृद्धि प्राप्त हुई। बिहार से बैक्ट्रिया तक फैले कुषाण साम्राज्य की राजसत्ता का भी भारत में यह एक बड़ा केंद्र था। इसके निकट रूपवास और सीकरी के पर्वतों ने

मूर्तियाँ बनाने के लिए यहाँ के कलाकारों को सफेद चित्ती वाले लाल पत्थर का अक्षय कोष प्रदान किया था। कुषाण सम्राटों का राजसंरक्षण और प्रोत्साहन पाकर कलाकारों ने बहुत बड़ी संख्या में हर प्रकार की मूर्तियाँ तैयार करनी शुरू कीं। उस समय ये मूर्तियाँ दूर-दूर भेजी जाती थीं। भारतीय कला के इतिहास में मथुरा की अपेक्षा अधिक महत्व रखने वाले स्थान अल्प ही हैं।

कुषाण युग में मथुरा की कला की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता यह थी कि इस काल में हिंदू, बौद्ध और जैन तीनों ही धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण था। मौर्ययुग के अंत में मथुरा के शिल्पी यक्ष जैसी महाकाय प्रतिमाओं के निर्माण में सिद्धहस्त हो चुके थे। अब इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों की मूर्तियाँ और स्तूप बनाए जाने लगे। विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा सप्तमातृका, कार्तिकेय आदि की प्राचीनतम मूर्तियाँ मथुरा से ही उपलब्ध हुई हैं। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों और स्तूपों के निर्माण का श्रीगणेश इस युग में हुआ। दूसरी विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण था। इससे पहले बुद्ध को सांची और भरहुत की कला में बोधिवृक्ष, स्तूप, चरण भिक्षापात्र आदि के प्रतीक के रूप में दिखाया जाता था, अब पहली बार बुद्ध को मानव-रूप में प्रदर्शित किया गया। बुद्ध की प्रतिमा मथुरा की सबसे मौलिक देन थी। इससे मूर्ति कला के क्षेत्र में एक महान क्रांति हुई। तीसरी विशेषता उस समय प्रचलित विभिन्न लोकधर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण था। इनमें यक्ष, यक्षिणी, नाग, नागी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा, हारीती आदि की मूर्तियाँ हैं। चौथी विशेषता लोक-जीवन के सभी पक्षों का अभूतपूर्व सौंदर्य और स्वच्छंदता के साथ वेदिका-स्तंभों पर चित्रण है। मथुरा में तत्कालीन आनंदमय जीवन का वेदिका-स्तंभों पर जीता जागता अंकन मिलता है। कहीं वनों में स्त्री-पुरूषों द्वारा पुष्प-संचय किया जा रहा है, कहीं जलाशयों में स्नान और क्रीड़ा के दृश्य हैं, कहीं सुंदरियों द्वारा मंजरी, पुष्प और फलादि दिखा कर पक्षियों को लुभाने का, कहीं स्त्रियों के केशों में गुँथे हुए मुक्ता-जालों के लोभी हंसों का, कहीं अशोक, कदम्ब आदि वृक्षों की शाखायें थामें सुंदरियों के ललित अंग-विन्यासों का चित्रण है। मथुरा जैसे सुंदर वेदिका-स्तंभ तथा उद्यान-क्रीड़ाओं और जल क्रीड़ाओं के दृश्य अन्यत्र कहीं नहीं मिलते हैं। पाँचवी विशेषता मथुरा से मूर्तियों के प्रचुर मात्रा में निर्यात था। उन दिनों मथुरा के शिल्पियों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। वे हर प्रकार की मूर्ति बनाने और प्रत्येक धर्म की आवश्यकता पूर्ण करने में समर्थ थे, अतः उनकी मूर्तियों की माँग सभी स्थानों से आने लगी और वे साँची, सारनाथ, कौशांबी, श्रावस्ती जैसे दूरवर्ती स्थानों में अपनी मूर्तियों को भेजने लगे। कुषाण सम्राट कनिष्क, हुविष्क, और वासुदेव का राज्य-काल इस कला का स्वर्ण-युग था। मथुरा में अब तक लगभग पाँच हजार प्राचीन अवशेष मिल चुके हैं। इनमें अधिकांश कुषाण युग के हैं।

3.2.4.1 स्तूप और वेदिका-स्तंभ

मथुरा के कलाकारों ने भरहुत और सांची की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए जैन और बौद्ध स्तूपों का निर्माण किया, किंतु दुर्भाग्यवश ये स्तूप नष्ट हो चुके हैं। लेखों और मूर्तियों से यह ज्ञात होता है कि मथुरा में जैनों के दो स्तूप थे। इनके अवशेष कंकाली टीले से मिले हैं। इसी प्रकार बौद्धों के भी संभवत: दो स्तूप थे, एक हुविष्क का, मथुरा में वर्तमान कचहरी के पास और दूसरा भूतेश्वर पर बना हुआ था। इन दोनों के अवशेषों से विदित होता है कि मथुरा के स्तूपों के द्वार-तोरण और वेदिका स्तंभ भरहुत और साँची की अपेक्षा नाप में कम और छोटे थे। इन स्तूपों के स्वरूप का परिचय हमें कई शिलापट्टों पर अंकित चित्रों से मिलता है। इनमें सबसे पुराना स्तूप संभवतः अर्धचंद्राकार होता था। यह ऊपर की ओर आकार में घटता चला जाता था। इस पर तीन वेदिकायें और हर्मिका पर चौथी छत्रयुक्त वेदिका बनी होती थी। ऐसे स्तूपों का समय ई. पू. दूसरी शताब्दी माना जाता है। इसके लगभग दो सौ वर्ष बाद के स्तूप का स्वरूप

लोणशोमिका के आयाग-पट्ट (प्रथम सदी ई.) पर बने चित्र से स्पष्ट होता है। इसका गोलाकार अंडभाग बुलबुले जैसा लंबोदरा प्रतीत होता है। यह स्तूप भूमि से ऊँचाई पर पक्के चबूतरे पर बनाया जाता था। इस पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं। उपर्युक्त आयाग पट्ट में भूमितल पर वेदिका और ऊँचा तोरण द्वार स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। इसमें साँची की भाँति द्वारस्तंभों के ऊपर तीन आड़ी बंडेरिया, कोनों में शाल भंजिकायें और प्रदक्षिणापथ बने हुए हैं। इसके मध्य भाग पर दो वेदिकाएँ और शिरोभाग पर हर्मिका, वेदिका और छत्र बने हुए हैं। इन दो जैन स्तूपों के अतिरिक्त एक तोरण पर बौद्ध स्तूप का भी चित्र मिलता है। इसकी बड़ी विशेषता कई वेदिकाओं वाली अनेक मंजिलें हैं, इसके दोनों ओर दो भक्त हाथ जोड़े खड़े हैं। इस प्रकार के कई मंजिलों वाले स्तूपों का गंधार में अधिक प्रचलन था। इन स्तूपों के वेदिका-स्तंभों का नाना प्रकार के अलंकारों के साथ अनेक काल्पनिक अभिप्राय भी बनाए जाते थे, जैसे-गज-मच्छ, नर-मच्छ, पंखवाले शेर, हाथी, हिरण, नाना प्रकार की लताएँ, किंतु सबसे सुंदर अलंकरण विभिन्न भाव भंगिमायों वाली स्त्रियों के हैं।

मथुरा के शिल्पियों ने वेदिका-स्तंभों पर नये-नये दृश्य दिखाने के लिए नारियों के सौंदर्य का बड़ा सुभग और ललित चित्रण नाना रूपों में किया है। इनमें इन्हें विभिन्न प्रकार की जल क्रीड़ाओं और उद्यान क्रीड़ाओं में संलग्न दिखाया गया है। जल क्रीड़ाओं के कुछ दृश्य इस प्रकार हैं-दो स्तंभों पर पहाड़ी झरनों के नीचे स्नान करती हुई स्त्री, स्नान के बाद सूर्य की ओर पीठ करके अपने बालों से जल की बूँदों को निचोड़ने वाली स्त्री, इसमें पैरों के पास बना हुआ हंस इन बूँदों को मोती समझ कर पी रहा है। स्नान के बाद शृंगार के लिए दर्पण में मुख देखती हुई, दायें कान के कुंडल ठीक करती हुई स्त्रियों के चित्र मिले हैं। उस समय घरों के उद्यानों में तोतों से मनोविनोद किया जाता था। एक स्तंभ में एक स्त्री अपने हाथ में पिंजरा लिए खड़ी है। उसके बायें कंधे पर सुग्गा बैठा हुआ है। इसी प्रकार स्त्रियों के आभूषण पहनने और प्रसाधन के भी अनेक दृश्य मिलते हैं। उद्यान-क्रीड़ाओं में अर्थात् शालभंजिका का खेल लोकप्रिय था। अतः मथुरा मे शालभंजिका की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। इस समय का एक अन्य लोकप्रिय मनोरंजन अशोकदोहद अर्थात् अशोक वृक्ष के नीचे एक युवती द्वारा उसे पुष्पित करने के लिए दायां हाथ शाखा पर झुका कर बायें पैर से पेड़ पर आघात या स्पर्श करना था। कंदुक क्रीड़ा करती हुई और पुत्र को गोद में लिए हुई और अँगड़ाई लेती हुई स्त्रियों की सुभग मुद्राएँ यहाँ स्तंभों पर पाई जाती हैं। इन मूर्तियों में तत्कालीन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अंकन मिलता है।

3.2.4.2 जैन कला

मथुरा जैन धर्म का एक प्राचीन केंद्र था। यहाँ कंकाली टीले की खुदाई से यह सूचित होता है कि उस समय यहाँ दो स्तूप बने हुए थे। दुर्भाग्यवश ये नष्ट हो चुके हैं। वर्तमान उपलब्ध अवशेषों में पहला स्थान आयागपट्टों का है। आयाग शब्द संस्कृत के आर्यक शब्द से निकला है, आयागपट्ट एक प्रकार की पूजा करने की शिला होती थी इस पर जैन धर्म के अनेक प्रतीक स्वास्तिक, चित्र, मूर्तियाँ और तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बनी होती थीं, इन्हें अनेक अलंकारों से सजाया जाता था, और इनमें प्रतिमा-पूजन की दोनों विधियों का सुंदर समन्वय था। इस प्रकार की शिलाओं की परिपाटी पुरानी थी। चित्तौड़ के पास माध्यमिका के एक पुराने लेख में नारायणवाटक में संकर्षण और वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। आयागपट्ट इसी प्रकार जैन धर्म की पूजा-शिलाएँ थीं। ये कला की दृष्टि से अत्यंत सुंदर हैं। इनके कई प्रकार मिलते हैं। इनका पहला प्रकार चक्रपट्ट का है। इसके मध्य में सोलह अरों वाला चक्र तीन मंडलों से घिरा हुआ है। पहले मंडल में त्रिरत्न के चिह्न हैं, दूसरे में आकाश-मार्ग से विचरण करती हुई तथा पुष्प-मालाएँ अर्पण करती हुई कुमारी कन्याएँ हैं और तीसरे मंडल में एक भारी माला है। दूसरे प्रकार के आयागपट्ट के

केंद्र में एक बड़ा स्वस्तिक बना होता था। तीसरे प्रकार के आयागपट्ट में तीर्थंकर की प्रतिमा बनी होती थी और इसके चारों ओर माँगलिक त्रिरत्न बने होते थे। इस प्रकार के एक आयागपट्ट की स्थापना सिंहनादिक ने पूजा के लिए की थी। इसके मध्य में पद्मासन में तीर्थंकर की बैठी हुई मूर्ति हैं, इनके चारों ओर चार त्रिरत्न हैं। इस पट्ट के बाहरी चौखटे में आठ माँगलिक चिह्नों का अंकन है। कंकाली टीले से तीर्थंकरों की खड़ी हुई कायोत्सर्ग मुद्रा में तथा पद्मासन मुद्रा में बैठी हुई मूर्तियाँ मिली हैं। कुषाण कालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं में वे विशेष चिन्ह या लक्षण नहीं पाये जाते हैं जिनसे परवर्ती युगों में विभिन्न तीर्थंकरों की पहिचान की जाती थी। इस समय केवल ऋषभनाथ के केशों की लटें और पाश्र्वनाथ के मस्तक पर साँप के फनों का आटोप दिखाया गया है।

3.2.4.3 हिंदू मूर्तियाँ

कृष्ण की जन्मभूमि और भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्म का केंद्र होने से मथुरा में हिंदू देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ बड़ी संख्या में बनाई गईं। मोरा गाँव के कूप से प्राप्त एक अभिलेख में पाँच वृष्णिवीरों की मूर्तियों का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म की मूर्तियाँ बन जाने पर इसका प्रभाव जैनों और बौद्धों पर पड़ा। शुंग युग में हमें केवल बलराम की और पाँच वृष्णि वीरों की वैष्णव मूर्तियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त इस समय बुद्ध गया में चार घोड़ों के रथ पर बैठे सूर्य की और दक्षिण भारत में गुडिमल्लम के लिंग के रूप में शिव की मूर्ति मिलती है। गज-लक्ष्मी की मूर्तियाँ भरहुत, साँची, बोधगया, उदयगिरि, खंडगिरि और पश्चिमी भारत की गुफाओं में पाई जाती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुषाण काल से पहले शिव, सूर्य, गज, लक्ष्मी, बलराम और वृष्णि वीरों की ही मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कुषाण युग में इन मूर्तियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। शिव, कार्तिकेय, गणपति, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, इंद्र, बलराम, कामदेव, कुबेर, हारीती लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा की नई मूर्तियों का निर्माण इस युग में हुआ। इस समय शिव की मूर्तियों के कई रूप मिलते हैं। पहले प्रकार की मूर्तियाँ सादे शिवलिंग के रूप में हैं। दूसरा प्रकार एक मुखी शिवलिंग का है जिसमें एक ओर मुख बना होता है। तीसरा प्रकार पंचमुखी शिवलिंग का है, जिसमें चार मुख चार दिशाओं में और एक मुख सबके ऊपर बना होता है। चौथा प्रकार नंदी के आश्रय से खड़े हुए शिव और नंदिकेश्वर का है। पाँचवें प्रकार में पार्वती शिव के वामाँग हैं। छठा प्रकार अर्धनारीश्वर का है। इसमें दाईं ओर शिव को जटा जूट और बाघांबर में तथा बाईं ओर पार्वती को अलकावली, कर्णकुंडल, मेखला और साड़ी के साथ दिखाया जाता है।

सूर्य की मूर्ति कुषाण काल से पहले बोध गया में पाई जाती है। इसमें वे चार घोड़ों के रथ पर धोती और उत्तरीय पहने हैं, किंतु कुषाण काल में एक सर्वथा भिन्न प्रकार की मूर्ति पाई जाती है। यह उदीच्य वेश में दो घोड़ों के रथ पर पैर लटकाए, बायें हाथ में अंधकार का भेदन करने के लिये तलवार और दायें हाथ में सूर्योदय का प्रतीक कमल लिए हैं। सूर्य का यहाँ उदीच्यवेष उत्तर के शीतप्रधान देशों से आने वाले शकों के प्रभाव से प्रचलित हुआ। इसमें धोती और उत्तरीय के स्थान पर सूर्य लंबा कोट, सलवार और जूते पहने हुए हैं। ईरान में मित्र या मिहिर के रूप में सूर्य की पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। यहाँ से यह पूजा शक कुषाण अपने साथ भारत में लाये। कुषाण राजाओं की मूर्तियों में इनका चित्रण है। कुषाण युग की सूर्य-मूर्तियाँ इन सम्राटों की भाँति सिर पर पगड़ी, शरीर पर कोट, कमर में पटका, टाँगों में सलवार और पैरों में मोटे जूते पहने रहती हैं। हिंदू देवताओं में केवल सूर्य की मूर्तियों में हमें जूते मिलते हैं। इस युग की आरंभिक मूर्तियों में सूर्य दो घोड़ों के रथ में बैठे हैं, बाद में इनकी संख्या चार और सात हो जाती है। गुप्त युग में भी सूर्य को उदीच्य वेश में प्रदर्शित किया गया है। कुषाण काल में विष्णु की मूर्तियाँ सिर पर मुकुट, शरीर पर आभूषण और नीचे धोती पहने हैं, इनकी चार भुजाओं में दायाँ हाथ अभय मुद्रा

में, बायाँ हाथ अमृत-घट लिए कटि पर रखा हुआ है तथा दो अतिरिक्त हाथों में गदा और चक्र है। बलराम का वेष यक्ष मूर्तियों के समान है, इनके सिर पर भारी पगड़ी, कानों में कुंडल, कंधों पर उत्तरीय और नीचे अधोवस्त्र है। इनका विशेष चिह्न सिर पर सर्प की फणों का आटोप और बाँयें हाथ में हल है। गज लक्ष्मी की मूर्ति शुंग काल से ही मिलने लगती है। इस युग में भी कमल के आसन पर कमलों के वन में खड़ें दो हाथियों द्वारा अपनी सूंड़ों से अभिषेक कराई जाती हुई लक्ष्मी की मूर्ति अत्यंत लोकप्रिय हुई। इस समय दुर्गा को महिषासुरमर्दिनी के रूप में अधिक दिखाया जाता था।

3.2.4.4 यक्ष मूर्तियाँ

विदित है कि इस समय जनता में नागों की और यक्षों की पूजा बड़ी लोकप्रिय थी। मथुरा मौर्य युग से ही यक्ष मूर्तियों का केंद्र था। पारखम, बड़ौदा आदि गाँवों से मिली यक्ष मूर्तियाँ यह सूचित करती हैं कि यहाँ इनकी भीमकाय मूर्तियों का निर्माण होता था। यक्षों की पूजा ने आगे चल कर कुबेर की पूजा का रूप ग्रहण किया और इससे संबंध रखने वाले मद्यपान की गोष्ठियों के दृश्यों का भी चित्रण किया जाने लगा। कुबेर भारतीय परंपरा में यक्षों के राजा और धनाधिपति माने जाते हैं। मथुरा में कुबेर को एक मोटे पेट वाले सेठ के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ कुबेर की मूर्ति पाँव लटकायें हुए, सुख से बैठी हुई, एक हाथ में शराब का प्याला और दूसरे में थैली लिए हुए चिंता रहित मुद्रा में दिखाई जाती है। इसका मद्यपान के साथ संबंध होने के कारण मथुरा में मद्यपान गोष्ठियों के कई दृश्य दिखाये गये हैं। इन परसंभवत: हल्की विदेशी छाप है। यूनान और रोम में बेकस और डियोनिसस मद्यपान के देवता थे। इनकी पूजा में किये जाने वाले समारोहों में शराब के दौर चलते थे। इस समय मद्यपान के बाद बड़ा हुड़दंग मचा करता था। इस प्रकार की पानगोष्ठियों में मद्यपान करती हुई स्त्री-पुरूषों की कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ मथुरा के निकट महोली, पालीखेड़ा और नरोली के गाँवों से मिली हैं। यह संभवत: कुबेर की पूजा का केंद्र था। डॉ. अग्रवाल के मतानुसार महोली का पुराना नाम मघुपल्ली था। अर्थात् यह स्थान मघु एवं धन के देवता कुबेर की पूजा का केंद्र था। कुबेर के साथ ही बच्चों की अधिष्ठात्री देवी हारिती की भी पूजा होती थी। इसे कुबेर की पत्नी मान लिया गया था। मथुरा में कुबेर तथा हारिती की कई मूर्तियाँ मिलती हैं।

3.2.4.5 नाग मूर्तियाँ

नाग प्रतिमाओं की परंपरा भरहुत और साँची से चली आ रही थी। मथुरा में नाग राजों की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें घुटने तक लटकती हुई माला और फणों का विशाल मंडल दिखाया जाता हैं, जैसे छड़गाँव से प्राप्त महाकाय नागमूर्ति में इसके दोनों पाश्र्वों के कानों में कुंडल और कटि प्रदेश में पतली करघनी हैं। इसी प्रकार की एक छोटी मूर्ति दधिकर्ण नाग की मिली है।

3.2.4.6 सम्राटों की मूर्तियाँ

मथुरा की कला की एक विशेषता व्यक्तियों की विशाल मूर्तियों का निर्माण था। कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ बहुत ही भव्य हैं। मथुरा के पास 9 मील उत्तर में माट नामक गाँव में संभवतः कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ रखने का एक बड़ा भवन था, इसे उस समय देवकुल कहते थे। यहाँ से कनिष्क, विम तथा चष्टन की मूर्तियाँ मिली हैं। कुषाण-सम्राटों का इसी प्रकार का एक अन्य देवकुल मध्य एशिया में किरगिज तान तोपरक्काला नामक गाँव में भी मिला है। इससे यह जान पड़ता है कि कुषाण सम्राटों ने अपने साम्राज्य के दोनों सिरों पर सम्राटों की मूर्तियाँ रखने वाले देवकुलों की स्थापना की थी। कुषाण सम्राटों की मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध प्रतिमा कनिष्क की है। यह मस्तकहीन खड़ी हुई मूर्ति (7 फीट 7 इंच) 1911 में माट ग्राम से मिली थी। इस पर यह लेख अंकित है - महाराज राजाधिराजा देवपुत्रों कनिष्को। राजा घुटनों से नीचे तक का लंबा कोट पहने हैं, पैरों में भारी गद्दीदार जूते हैं, ये टखनों पर बद्धियों से कसे हैं राजा के

एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में तीन फुट पाँच इंच लंबी गदा या राजदंड हैं। तलवार की मूठ पर हंस की आकृति बनी है और म्यान पर तीन पदक या टिकरे हैं। गदा पर पाँच कड़े हैं और निचले कड़े पर मकरमुखी अलंकरण हैं। इस मूर्ति ने शीतप्रधान देशों के भारी जूतों वाली ऐसी पोशाक पहन रक्खी है जो मथुरा की गर्मी में सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होती हैं। अतः रोलैंड ने यह कल्पना की है कि यह विशेष राजकीय समारोहों पर पहनी जाने वाली शाही पोषाक है। इसे कुषाण आक्रांता शीतप्रधान देशों से अपने साथ यहाँ लाये थे। इसका उपयोग विशेष अवसरों पर ही किया जाता था, यह उनका राजकीय वेश था। रोलैंड के कथनानुसार असीरिया के अथवा रोम के किसी भी सम्राट को कोई मूर्ति मध्य एशिया से आए इस विजेता की प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में सत्ता और शक्ति की गरिमा को प्रकट नहीं करती है। इसी प्रकार एक दूसरी बैठी मूर्ति विम कदफिसस की कही जाती है। यह एक सिंहासन पर आसीन है। इसने कामदानी के वस्त्र का सुंदर कढ़ाई वाला चोगा पहन रखा है। इसके नीचे एक छोटा कोट हैं। टांगों पर सलवार और पैरों में कनिष्क की मूर्ति की भाँति भारी गद्दीदार जूते हैं, जो आजकल भी गिलगित में पहने जाते हैं। इस प्रतिमा में भी सम्राट का गौरव भलीभाँति झलक रहा है। रोलैंड के विचार में यह मूर्ति हर्जफेल्ड द्वारा प्रकाशित पार्थियन युग के ईरानी सम्राटों की प्रतिमा से मिलती है। प्राचीन भारत में इस प्रकार सम्राटों की प्रतिकृति-प्रतिमाओं का एकमात्र उदाहरण यही मूर्तियाँ हैं। अतः यह कहा जाता है कि कुषाणों ने संभवतः ऐसी मूर्तियाँ बनवाने की परिपाटी भी रोम अथवा ईरान के पार्थियन सम्राटों से ग्रहण की होगी।

3.2.4.7 बुद्ध की मूर्ति का आविर्भाव

कुषाण युग में बुद्ध की प्रतिमाओं के निर्माण से भारतीय मूर्तिकला में एक महान क्रांति का सूत्रपात हुआ। कुषाण युग से पहले शुंग युग तक बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं मिलती है केवल स्तूप, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि के प्रतीकों से उनका चित्रण किया गया है। इस समय तक बुद्ध की मूर्ति न बनने का यह कारण था कि बुद्ध ने स्वयमेव अपनी मूर्ति बनाने का निषेध किया था। महापरिनिर्वाण से पहले बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद से कहा था कि मैंने जिस धर्म और विनय का तुम्हें उपदेश दिया है वही मेरे बाद तुम्हारा रास्ता होगा। संयुक्तनिकाय के अनुसार एक बार वक्कलि नामक एक भिक्षु ने रुग्ण होने पर जब भगवान के दर्शनों की इच्छा व्यक्त की तो बुद्ध स्वयमेव उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए उसके पास गये। किंतु उन्होंने उसे यह कहा था-"वक्कलि मेरी इस गंदी काया को देखने का क्या लाभ है ? जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।" ब्रह्मजालसुत्त के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के बाद उसे न तो देवता और न ही मनुष्य देख सकेंगे। हीनयान ने बुद्ध की शिक्षाओं पर बल देते हुए उनके निर्वाण के बाद लगभग पाँच शताब्दियों तक किसी प्रकार की मूर्ति की रचना नहीं की। किंतु कुषाण युग में हमें बुद्ध की सहस्त्रों मूर्तियों का दर्शन होने लगता है। इसका क्या कारण था ?

बुद्ध की प्रतिमा के विकास का प्रश्न भारतीय मूर्तिकला के जटिलतम प्रश्नों में से है। इस विषय में दो बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि बुद्ध की प्रथम मूर्ति का आविर्भाव किस प्रदेश में हुआ और दूसरी यह कि बुद्ध की मूर्ति पर विदेशी प्रभाव कहाँ तक पड़ा है। पहली बात के संबंध में दो मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार यह मूर्ति सर्वप्रथम गंधार प्रदेश के शिल्पियों ने तैयार की और दूसरा मत इसके आविर्भाव का श्रेय मथुरा के शिल्पियों को प्रदान करता है। पहले मत की स्थापना फ्रेंच विद्वान फूशे ने की थी। टार्न ने भी यूनानी कलाकारों को बुद्ध की पहली मूर्ति बनाने का श्रेय देते हुये मोअ और अय के सिक्कों पर बनी बुद्ध की मूर्तियों से इसकी पुष्टि की। किंतु टार्न की यह कल्पना निराधार सिद्ध हुई है, क्योंकि इन सिक्कों की सूक्ष्म जांच से यह पता लगा है कि इन पर बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं है। भारतीय

कला के मर्मज्ञ डॉ. आनंदकुमार स्वामी ने यह मत प्रगट किया है कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सर्वप्रथम मथुरा के शिल्पियों ने किया था। रोलैंड ने यह लिखा है कि निःसन्देह मथुरा के शिल्पियों को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने बुद्ध की विशुद्ध भारतीय ढंग की सबसे पहली मूर्तियों का निर्माण किया। इस समय यह माना जाता है कि मथुरा और गंधार में बुद्ध की मूर्तियों का विकास-संभवतः स्वतंत्र रूप से हुआ।

कुषाण युग में मथुरा में बुद्ध की मूर्ति बनने का मुख्य कारण यह था कि उस समय भक्ति आंदोलन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। ईसा से पहले की दो शताब्दियों में भागवत धर्म मथुरा में वेग से फैल रहा था। अन्यत्र में यह बताया जा चुका है कि इस समय यहाँ वासुदेव और संकर्षण की पूजा हो रही थी। मोरा गाँव के कूप-लेख में पाँच वृष्णि वीरों की उपासना का उल्लेख है। मथुरा में शुंग काल की बलराम की मूर्ति मिली है। वैष्णव धर्म के भक्तिवाद का और मूर्तियों के निर्माण का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ना स्वाभाविक था। इस समय बौद्ध धर्म में भी भक्ति प्रधान महायान संप्रदाय का आंदोलन प्रबल हो रहा था। इसमें भक्त उपासना के लिए बुद्ध की मूर्ति चाहते थे। किंतु इसमें मूर्ति-निषेध की हीनयान की पुरानी परंपरा बाधक थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कनिष्क के समय में एक विशेष स्थिति उत्पन्न हुई। बुद्ध की मूर्ति की माँग श्रद्धालु जनता ने इतने प्रबल रूप में की कि बुद्ध की प्रतिमा बनाने का पुराना निषेध समाप्त हो गया। इस समय बौद्ध संघ में बल जैसे महात्रिपिटकाचार्य बुद्ध की मूर्ति बनाने का आंदोलन कर रहे थे। इन्होंने अपने पक्ष को प्रबल और निर्विवाद बनाने का यह उपाय सोचा कि बुद्ध की जो मूर्तियाँ बनाई जाये, उन्हें बोधिसत्व की मूर्ति कहा जाय ताकि किसी को इन पर धार्मिक दृष्टि से आपत्ति उठाने का मौका न मिले। मथुरा में कटरा से जो मूर्ति प्राप्त हुई है वह बुद्ध की है किंतु उसकी चैकी पर अंकित लेख में उसे बोधिसत्व कहा गया है। इस समय श्रद्धालु बौद्धों की माँग पूरी करने के लिए प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुसार बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण शुरु हुआ।

बुद्ध की मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं, एक खड़ी हुई, दूसरी बैठी हुई। खड़ी मूर्तियों में प्राचीन यक्ष परंपरा का अनुसरण किया गया है और बैठी मूर्तियाँ योगी-मुनियों की मुद्रा के आधार पर बनाई गई। प्राचीन परंपरा में योगी और चक्रवर्ती महापुरूषों के कुछ विशेष लक्षण माने जाते थे। इनमें योगी के प्रमुख लक्षण नासाग्र दृष्टि, पद्मासन और ध्यान मुद्रा थे। चक्रवर्ती के लक्षण चामरग्राही पार्श्वचर और छत्र थे। इन विभिन्न लक्षणों को मिलाकर बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। यह बात मथुरा में मिली बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियों से भली भाँति स्पष्ट होती है।

3.2.4.8 मथुरा की बुद्ध प्रतिमा की विशेषतायें

इस समय मथुरा में बुद्ध की जिस प्रतिमा का विकास हुआ उसकी कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं - (1) डॉ. कुमार स्वामी के मतानुसार इसकी पहली विशेषता सीकरी या रूपवास नामक स्थानों से प्राप्त होने वाले सफेद चित्तियों वाले लाल बलुए पत्थर से इनका बनाया जाना है। (2) इन मूर्तियों को चारों ओर से कोर कर बनाया गया है। इस प्रकार से ये मूर्तियाँ चतुर्दिक् दर्शन वाली हैं। ऐसा न होने पर इनको बहुत अधिक गहराई में कोरा गया है। (3) इनका सिर मुंडा हुआ होता है। (4) इनके सिर पर किसी प्रकार के घुँघराले बाल नहीं होते हैं। इनका उष्णीष सर्पिल अथवा क्रमशः ऊपर की ओर उठते हुए चक्र जैसे होता है। (5) इनमें कोई उर्णा (मस्तक पर बिन्दी) तथा चेहरे पर कोई मूँछ नहीं होती है। (6) इनका दायाँ हाथ अभय मुद्रा में ऊपर उठा रहता है तथा बाँयें हाथ की मुट्ठी प्रायः बंधी होती है। बैठी हुई मूर्तियों में यह हाथ जांघ पर पड़ा रहता है और खड़ी मूर्तियों में यह हाथ वस्त्रों की सलवटों को संभाले हुए दिखाया जाता है। (7) कोहनी सदैव शरीर से कुछ दूरी पर होती है। (8) वक्षःस्थल बहुत उन्नत होता है, किंतु ऐसा होने पर

भी यह पूर्ण रूप से पुरुष मूर्ति के रूप में दिखाया जाता है। (9) वस्त्र प्रायः शरीर से बिल्कुल सटे हुए, चुस्त और भीतर से मांसल शरीर के अंग प्रत्यंग को प्रदर्शित करनेवाले होते हैं। कलामर्मज्ञ इस प्रकार को आर्द्र वस्त्र कहते हैं, क्योंकि बारीक वस्त्र भीग जाने पर शरीर के अंगों से सट जाते हैं तथा भीतर के मांसल देह को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के आर्द्र वस्त्रों की विशेषता न केवल बुद्ध की मूर्तियों में, अपितु मथुरा की अन्य मूर्तियों में भी दिखाई देती है। वस्त्रों की सलवटों को एक विशेष ढंग में व्यवस्थित किया जाता है। (10) बुद्ध को कभी भी कमल पर बैठे हुए नहीं दिखाया जाता है, उन्हें सदैव सिंहासन पर बैठे हुए प्रदर्शित किया जाता है, इसमें चैकी के नीचे सिंह बने होते हैं। खड़ी मूर्तियों में ¬प्रायः पैरों के बीच में बैठा हुआ एक सिंह दिखाया जाता है, जिस प्रकार पशुओं में सिंह का स्थान सर्वश्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बुद्ध का स्थान सर्वोपरि है। इसकी प्रतीकात्मक व्यंजना सिंह की मूर्ति से की जाती है।(11) बुद्ध की प्रतिमा के नाक-नक्श और हावभाव निर्वाण की शांति और माधुर्य के स्थान पर असाधारण शक्ति के भाव को प्रकट करते हैं। (12) इन मूर्तियों का प्रभामंडल बिलकुल सादा और अनलंकृत होता है अथवा किनारे पर बहुत कम गहराई में अर्धवृत्ताकार आकृतियों से अंकित आधी चूड़ियाँ होती हैं। गंधार में इसी समय बनायी जाने वाली बुद्ध की मूर्ति में ये विशेषताएँ बहुत ही कम मात्रा में मिलती हैं।

3.2.4.9 मथुरा कला पर विदेशी प्रभाव

मथुरा के कलाकारों ने यद्यपि पुरानी भारतीय परंपरा का अनुसरण करते हुए बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया, फिर भी उन्होंने गंधार प्रदेश से कई बातों को ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया। मथुरा में गंधार की कला के प्रभाव के कारण निम्नलिखित यूनानी अभिप्राय ग्रहण किये गये - अंगूर की बेल, मालाधारी देवों का अलंकरण जिसमें छोटे यक्ष मोटी माला को कंधों पर उठाये हुए हैं। नीमिया के सिंह से कुश्ती करता हुआ हिराक्लीज, मद्यपान के यूनानी देवता बैकस की मद्यपान गोष्ठियों के दृश्य, स्तंभों के ऊपर यूनान की कोरिंथ शैली का शीर्षक जिसमें पत्तियों का अलंकरण बना होता है, यूनानी ज्यूस या बृहस्पति के गरुड़ द्वारा गैनीमीडी के अपहरण का दृश्य यूनान की एक पौराणिक गाथा के अनुसार ट्राय का रहने वाला तरुण गैनीमीड इतना सुंदर था कि ज्यूस ने अपने गरुड़ द्वारा उसका अपहरण करके उसे स्वर्गलोक में मँगवा लिया और अपना प्याला उठाने वाला सेवक बनाया। मथुरा की कुछ बुद्ध मूर्तियों में गंधार शैली की मूर्तियों की कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं, जैसे कुछ मूर्तियों के चेहरे पर मूँछे हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार बुद्ध के चेहरे पर कभी मूँछे नहीं दिखाई जाती हैं। कुछ मूर्तियों के पांवों में यूनानी ढंग की चप्पलें और छाती पर यज्ञोपवीत की तरह रक्षा-सूत्र या तावीजी मालायें है। किंतु यूनानी दृश्यों को अंकित करने वाली मूर्तियाँ मथुरा में बहुत ही कम संख्या में पाई जाती हैं।

3.2.5 सारांश

आरंभिक शताब्दियों में जब मथुरा में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण हुआ, उसी समय गंधार प्रदेश में एक विभिन्न प्रकार की मूर्तिकला का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 1870 ई. में अपनी सभ्यता और संस्कृति का मूल स्त्रोत यूनान को समझने वाले पश्चिमी जगत् को इस कला का परिचय लिटनर के लेखों से मिला तो पश्चिमी विद्वानों ने इस कला को अत्यधिक महत्व दिया और भारतीय कला पर इसका गहरा प्रभाव माना और इसे यूनानी बौद्ध कला का नाम दिया। किंतु इस विषय में यह महत्वपूर्ण है कि इस कला का उत्कर्ष उस समय हुआ जब भारत में यूनानी शासन समाप्त हो चुका था। इस कला के प्रधान पोषक और संरक्षक यूनानी नहीं, अपितु मध्य एशिया से आने वाले शक और कुषाण थे, अतः इसे

यूनानी बौद्ध कला का नाम देना ठीक नहीं प्रतीत होता। इसके आविर्भाव और विकास के प्रधान क्षेत्र के आधार पर इसे गांधार कला का नाम देना समीचीन प्रतीत होता है।

प्रथम तीन शताब्दियों में मथुरा, कुषाण युग की मूर्तिकला का महान केंद्र था। कुषाण युग में मथुरा की कला की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रमुख विशेषता यह थी कि इस काल में हिंदू बौद्ध और जैन तीनों ही धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण था। मौर्ययुग के अंत में मथुरा के शिल्पी यक्ष जैसी महाकाय प्रतिमाओं के निर्माण में सिद्धहस्त हो चुके थे। अब इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों की मूर्तियाँ और स्तूप बनाए जाने लगे। विष्णु लक्ष्मी, दुर्गा सप्तमातृका, कार्तिकेय आदि की प्राचीनतम मूर्तियाँ मथुरा से ही उपलब्ध हुई हैं। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों और बौद्ध स्तूपों का निर्माण इस युग में हुआ। इससे मूर्तिकला एवं प्रतिमा विज्ञान के क्षेत्र में एक महान क्रांति हुई।

3.2.6 बोध प्रश्न

3.2.6.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मथुरा कला से आप क्या समझते हैं ?
2. गंधार कला का परिचय दीजिये।
3. मथुरा में कौन से दो स्तूप मिले हैं ?
4. मथुरा में स्थापित दोनों स्तूपों की विशेषतायें लिखिये।
5. मथुरा के वेदिका स्तंभों पर उत्कीर्ण नारी सौंदर्य पर एक नोट लिखिये।
6. मथुरा की जैन कला पर प्रकाश डालिये।
7. कुषाण युग में जिन ब्राह्मण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ उन देवा-देवताओं के नाम लिखिये।
8. मथुरा कला की यक्ष मूर्तियों का परिचय दीजिये।
9. मथुरा कला पर विदेशी प्रभाव दर्शाइये।
10. गंधार कला की दो शैलियों का परिचय दीजिये।
11. गंधार कला के प्रमुख केंद्रों के नाम लिखिये।
12. गंधार कला पर विदेशी प्रभाव की चर्चा कीजिये।

3.2.6.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. मथुरा कला की विस्तार से विवेचना कीजिये।
2. गंधार कला पर एक निबंध लिखिये।
3. मथुरा एवं गंधार कला का तुलनात्मक विवरण दीजिये।
4. गंधार कला के प्रमुख केंद्रों का वर्णन कीजिये।
5. मथुरा कला की हिंदु प्रतिमाओं की विवेचना कीजिये।
6. मथुरा कला में निर्मित बुद्ध प्रतिमा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
7. गंधार कला के विकास एवं तिथिक्रम पर प्रकाश डालिये।
8. गंधार कला में बुद्ध की प्रतिमा विकास किस प्रकार हुआ ? विस्तार से समझाइये।
9. कापिशी का वर्णन कीजिये।
10. मथुरा कला एवं गंधार कला पर विदेशी प्रभाव का मूल्याँकन कीजिये।

3.2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आनंदकुमार स्वामी: हिस्टरी आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, लंदन 1927
2. बेखोफर, एल.: अर्ली इंडियन स्कल्पचर, 2 खं., पेरिस 1929
3. ब्राउन, पर्सी: इंडियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्ट एंड हिंदू, तारापोरवाला, द्वितीय संस्करण, बंबई
4. फूशे, ए.: बिगनिंगस आफ बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड अदर ऐस्सेज, एल. ए. थामस तथा एफ. डब्ल्यू. थामस द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद, पेरिस 1917
5. गोपीनाथ राव, टी. ए.: हिंदू आइकोनोग्राफी, मद्रास 1914
6. मिश्र, इंदुमति: प्रतिमा विज्ञान, भोपाल, 1980
7. रे, नीहार रंजन: मौर्य एंड शुंग आर्ट, कलकत्ता 1945
8. हैलेडे, मैडेलीन: दी गंधार स्टाइल एंड दी इवोल्यूशन आफ बुद्धिस्ट आर्ट, लंदन, 1968
9. मार्शल, जॉन: दी बुद्धिस्ट आर्ट आफ गंधार, कैंब्रिज यू. के. 1960
10. अग्रवाल वासुदेवशरण: भारतीय कला, वाराणसी, 1979

खंड - 3 कला एवं स्थापत्य

इकाई - 3 गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य

इकाई की रूपरेखा

3.3.1 उद्देश्य
3.3.2 प्रस्तावना
3.3.3 गुप्तकालीन कला की विशेषतायें
3.3.4 गुप्तकालीन संगीत कला
3.3.5 गुप्तकालीन गायन कला
3.3.6 गुप्तकालीन वादन कला
3.3.7 गुप्तकालीन नृत्य कला
3.3.8 गुप्तकालीन चित्र कला
3.3.9 गुप्तकालीन मूर्ति कला
3.3.10 गुप्तकालीन वास्तु कला
3.3.11 गुप्तकालीन स्थापत्य कला
3.3.12 सारांश
3.3.13 बोध प्रश्न
3.3.13.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
3.3.13.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
3.3.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.3.1 उद्देश्य

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस काल में विभिन्न कलाओं का भी बहुत विकास हुआ। गुप्तकाल में वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में 66 कलाओं की एक सूची प्रस्तुत की है। वात्स्यायन की इस कला-सूची में न केवल वे ही नाम हैं जिन्हें आज हम ललित-कला या ललित-शिल्प के नाम से पुकारते हैं, वरन् उसमें गृह-सज्जा, सौंदर्य-प्रसाधन, खाना पकाना, खेलकूद आदि दैनिक, व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन से संबंधित सामान्य कार्य, शिक्षा और ज्ञान से संबंधी बातें और कुलागत अथवा पारिवारिक पेशे के रूप में ज्ञात सामान्य कौशल और शिल्प आदि का भी उल्लेख है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य की विस्तृत विवेचना करना है।

3.3.2 प्रस्तावना

गुप्त कालीन कला की विशेषताओं के कारण ही विद्वानों, कला आलोचकों और कला मर्मज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला कि गुप्त काल की कला प्राचीन भारत का सर्वोत्कृष्ट नमूना है, कला के चरम विकास और उत्कर्ष का प्रतीक है। गुप्त काल की कला ने भारतवर्ष में जो गौरवमय स्थान प्राप्त कर लिया था, उससे उसमें ऐसी शक्ति और सम्मान आ गया कि वह एशिया के अधिकांश भागों में कला की परंपराओं को रूप दे सकी। प्रस्तुत इकाई में गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य का वर्णन किया जाना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जाएगी।

3.3.3 गुप्तकालीन कला की विशेषताएँ

गुप्तकालीन कला पर विचार किया जाय तो यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-काल में लोग संभवत: छोटी-छोटी बातों में भी सौंदर्य-सृष्टि की ओर सजग थे और वे जीवन की सभी दिशाओं में अपनी भावनाओं कों कलात्मक रूप से सजीव, साकार और मौलिक अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करने को उत्सुक थे। वे अपने प्रत्येक कार्य को कला के रूप में ही देखने की चेष्टा करते थे। लोगों में प्रत्येक वस्तु को कलागत दृष्टि से देखने के भाव व्याप्त थे और जीवन की यह सुकुमारता (नजाकत) वात्स्यायन की कोरी कल्पना न थी यह पुरातात्विक अवशेषों और साहित्यिक वर्णनों से भली भाँति परिलक्षित होता है। गुप्तयुग की कलाओं की निम्नलिखित विशेषतायें हैं।

(1) रूढ़िवाद का अभाव

गुप्तयुग की कला में सौंदर्य और प्रतिबंध की विलक्षणता है। इस युग में कलाकार महत्व प्रदर्शन हेतु कलाकृति पर निर्भर नहीं था, परंतु उसने अपना ध्यान लालित्य पर केंद्रीभूत कर लिया था जो अलंकरण और सुशोभन की प्रचुरता में लुप्तप्राय नहीं होता था। उसकी कला का प्रमुख लक्ष्य न सिर्फ रूढ़िवाद के घोर घातक बोझ में छुटकारा पाना था बल्कि स्वच्छंदता और संतुलन था।

(2) सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौंदर्य

गुप्तकाल की कला में सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौंदर्य की एक विशिष्ट भावना थी। इस भावना का प्रस्फुरण करने के लिये कला का अभ्यास और उन्नति की जाती थी। ''सद्गुण का मार्ग सौंदर्य का मार्ग है'' - यह गुप्तकाल की कला की मार्गदर्शक अंत:प्रेरणा प्रतीत होती है। सुंदर कलापूर्ण आकृतियों का भारतीय संस्कृति के अनुरूप सृजन करना और उन्हें सर्वोच्च जीवन की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त करना-यही एक स्वर्णिम सामंजस्य और अनुरूपता थी, जिससे कि गुप्तकाल की कला निरंतर अक्षय आकर्षण की वस्तु बन गयी।

(3) गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श

गुप्तयुग की ललित कलाओं की मूल प्रेरणा गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों से प्राप्त हुई। भव्य धार्मिक भवनों, देवालयों, मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण करके तथा देवी-देवताओं, संतों, धर्म प्रवर्तकों एवं ऋषि-मुनियों के चित्र अंकित करके इस काल की ललित कलाओं ने धर्म की सेवा की। धर्म और आध्यात्म के महत्व को, उसके तत्वों को ललित कलाओं ने अपने विभिन्न अंगों द्वारा अभिव्यक्त और प्रदर्शित किया। धर्म ने इस युग की ललित कलाओं के सामाजिक और दैनिक जीवन को प्रदर्शित करने के लिये प्रयासों को अवरूद्ध नहीं किया। विशुद्ध प्राकृतिक सौंदर्य की और ललित कलाओं के स्वच्छंद विकास में धर्म अवरोध नहीं बना।

(4) कला ''तकनीक'' की सादगी और अभिव्यंजना

गुप्तकाल में कला की ''तकनीक'' या प्रणाली की सादगी और अभिव्यंजना का आनंद है जिससे महान विचार, स्वाभाविक और सरल रूप में अंकित हो जाते हैं। ललित कलाओं के विषय और ''तकनीक'' दोनों ही का विशिष्ट अनुरूपता में सामंजस्य हुआ है। बाह्य आकृति और आंतरिक अर्थ-शरीर और आत्मा के समान परस्पर जुड़ गये। जिस प्रकार शब्द और अर्थ लिखे रहते हैं, उसी प्रकार इस युग के जीवन और विचार के अनेक क्षेत्रों में एक अनुरूपता और संश्लेषण के आदर्श मिल गये। कला के क्षेत्र में इससे कम सुंदर समन्वय नहीं रहा।

(5) स्वाभाविकता और यथार्थवादिता

गुप्तयुग के प्रवीण कलाकारों के कुशल करों से जो कुछ भी निर्मित हुआ, वह पूर्णरूपेण स्वाभाविक ही प्रतीत होता था और उनकी रचनाओं और कृतियों में यथार्थवादिता थी। आकृतियाँ जीवन से चुनकर स्वाभाविक कर ली गयी थीं, वे प्रवाहित जन-जीवन से ली गयीं। अब आकृतियाँ न तो शुंगकाल-की सी पतली रहीं, न कुषाणकाल की सी गोल। गुप्तयुगीन कला स्वाभाविक और यथार्थ थी।

(6) लावण्य और लालित्य का संयमित प्रदर्शन

गुप्तकाल के कलाकार ने लालित्य और रूप का प्रदर्शन अपनी कृतियों में किया, परंतु उसकी विशेषता है संयम के साथ रूप, लावण्य और लालित्य का समन्वय। कलाकार की कृतियों में लावण्य की वह मादकता नहीं छलकती जो मथुरा के कुषाणकालीन स्तंभों पर स्त्री-पुरूषों की आकृतियों में दृष्टिगोचर होती है। इस युग की आकृतियों के मुख पर एक अपूर्व आनंद और अंगप्रत्यंग में अपूर्व सौष्ठव और लावण्य छलकता है। गुप्तकला लावण्य और लालित्य का संयमित प्रदर्शन करती हैं।

(7) कला का विशुद्ध भारतीय रूप

गुप्तयुग के पूर्व के काल में भारत की ललित कलाओं पर विदेशी प्रभाव था। स्थापत्य कला और मूर्ति कला में पाश्चात्य देशों के कला तत्व मिश्रित हो गये थे जिससे कला का एक नवीन रूप प्रस्फुटित हुआ था। इसे गांधार कला शैली कहा जाता था। परंतु गुप्तयुग में ये विदेशी तत्व लुप्तप्रायः हो गये, गांधार कला शैली का शरीर नष्ट हो गया और कला का विशुद्ध भारतीय रूप स्पष्ट हो गया और इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ।

गुप्तकाल की कला की उपर्युक्त वर्णित विशेषताओं के कारण ही विद्वानों, आलोचकों और कला मर्मज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला कि गुप्तकाल की ललित कलाएँ प्राचीन भारत की कलाओं के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। गुप्तकाल की ललित कलाओं ने भारतवर्ष में जो गौरवमय स्थान प्राप्त कर लिया था, उससे उसमें ऐसी शक्ति, दृढ़ता, मधुरता और आकर्षण आ गया कि वह एशिया के अधिकांश भागों में ललित कलाओं की परंपराओं को रूप दे सकी। भारत की सीमा के पार नवीन वातावरण में इस कला को ले जाने पर वृहत्तर भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का सृजन हुआ।

गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य की विस्तृत विवेचना निम्नानुसार है -

3.4 गुप्तकालीन संगीत कला

गायन, वादन और नृत्य, संगीत के तीन मुख्य अंग कहे गये हैं और उनका पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। गायन और वादन स्वतंत्र भी होते हैं। पर उन दोनों का संयोग ही विशेष महत्त्व रखता है। इसी प्रकार नृत्य के साथ भी गायन और वादन का घनिष्ठ संबंध है। गुप्त-कालीन साहित्य में हँसी-खुशी, आमोद-प्रमोद की जहाँ भी चर्चा हुई है वहाँ संगीत के इन सभी रूपों का उन्मुक्त रूप से उल्लेख हुआ है। तत्कालीन साहित्य के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन संगीत से आप्लावित था। संगीत चरम सुख का प्रतीक था और वह लोकरंजन का प्रमुख साधन था। स्त्री-पुरुष सभी संगीत के प्रेमी थे और उसमें समान रूप से रस लेते थे। राज-घरानों में दिन-रात निरंतर संगीत होता रहता था। नगर संगीत-ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होते रहते थे। नगरों में संगीत-शिक्षा के निमित्त संगीत-शालाएँ थीं, जहाँ संगीताचार्य लड़के-लड़कियों को संगीत-कला की शिक्षा दिया करते थे। राजमहलों में इसकी स्वतंत्र व्यवस्था होती थी।

3.3.5 गुप्तकालीन गायन कला

गुप्त-कालीन गायन के रूप-स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाला कोई सिद्धांत ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है, पर कालिदास के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक गायन ने एक व्यवस्थित सिद्धांत का रूप धारण कर लिया था। मालविकाग्निमित्र के आरंभिक दो अंकों के कथनोपकथनों में संगीत संबंधी प्रविधि की पर्याप्त चर्चा है। उनसे ज्ञात होता है कि संगीतशास्त्री कतिपय-सिद्धांतों का अनुसरण करते, उनको प्रमाण मानते तथा उनके अनुसार अपने गायन का प्रदर्शन करते थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में ताल, लय, स्वर, उपगान, मूच्छना आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। कई स्थलों पर राग की भी चर्चा है और संगीत के प्रसंग में उन्होंने सारंग, ललित आदि रागों के नाम भी दिये हैं। यही नहीं, उन्होंने बेसुरे राग को ताड़न के समान बताया है। राग से पूर्व, वर्ण-परिचय, स्वरालाप, तत्पश्चात् गायन की विधि की भी चर्चा की है। इनसे जहाँ तत्कालीन संगीत के प्राविधिक रूप का कुछ परिचय मिलता है, वहीं यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि कालिदास ने जहाँ भी गीतों का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने प्रायः सभी गीत प्राकृत में दिये हैं। इनसे ऐसा अनुमान होता है कि प्राविधिक संगीत के साथ-साथ लोक-संगीत का भी व्यापक प्रचार था अथवा कदाचित् दोनों में कोई विशेष अंतर न था।

3.3.6 गुप्तकालीन वादन कला

गायन के साथ-साथ वादन का उल्लेख प्रायः गुप्तकालीन साहित्य में मिलता है। कदाचित् उन दिनों तंत्रगत वाद्यों में वीणा का ही प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। कालिदास ने उसी का उल्लेख विशेष किया है। लोग प्रायः वीणा के साथ गायन करते थे। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम दोनों का ही अंकन उनके स्वयं के सोने के सिक्कों पर वीणावादक के रूप में हुआ है। वीणा के अतिरिक्त वल्लकी, परिवादिनी, तंत्री आदि तंत्रीगत वाद्यों का भी उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है। संभवत: वे वीणा के ही रूप थे। तत्कालीन साहित्य में सुषिर वाद्यों के रूप में वेणु (बाँसुरी), कीचक, शंख और तूर्य का उल्लेख हुआ है। शंख और तुर्य मांगलिक अवसरों तथा रण के समय काम आते थे। संगीत-साधन के रूप में कदाचित् उनका प्रयोग नहीं होता था। लोक-रंजन के रूप में वेणु का ही उपयोग होता था। चर्मवाद्यों में मुरज, पुष्कर, मृदंग, दुंदुभि , मर्दल आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर किस प्रकार का भेद था, यह किसी प्रकार ज्ञात नहीं है। भूमरा के शिव-मंदिर के फलकों पर शिव के गण अनेक प्रकार के वाद्य बजाते अंकित किये गये हैं। अजंता की 17वीं गुफा में भी अनेक वाद्य-यंत्रों का अंकन हुआ है जिनसे तत्कालीन वाद्य-रूपों का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है।

3.7 गुप्तकालीन नृत्य कला

प्राचीन काल से ही इस देश में नृत्य का प्रचार रहा है और साहित्य में स्त्री-पुरुष दोनों के नृत्य करने का उल्लेख मिलता है, पर यह कला नारी-प्रधान ही अधिक थी। गुप्त-काल में नृत्य की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि परिवार के भीतर तो लड़कियाँ नृत्य सीखतीं और नृत्य करती ही थीं परिवार के बाहर भी उसका व्यापक प्रचार था। मंदिरों में, समाज में, राजदरबार में नृत्य हुआ करते थे। नृत्य ने एक पेशे का रूप धारण कर लिया था और लोगों के बीच नर्तकियों का काफी सम्मान था। लोग पुत्र-जन्म, विवाह आदि के अवसरों पर घरों में उनका नृत्य कराते थे।

नृत्य के रूपों के संबंध में साहित्य से विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मालविकाग्निमित्र में छलिक नामक नृत्य का उल्लेख हुआ है, पर उसके रूप-स्वरूप की कोई चर्चा नहीं है। इसी प्रकार नर्तकियों द्वारा चामर नृत्य किये जाने का उल्लेख मिलता है। नृत्य के दृश्यों का कतिपय अंकन गुप्तकालीन चित्रों और तक्षण में हुआ है। उनसे उनके स्वरूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है। अजंता के 17वें लयण में

नृत्य का एक अंकन मिलता है। उसमें एक नर्तकी नृत्य कर रही है और उसके साथ चार स्त्रियाँ मँजीरा और एक पुरुष मृदंग बजा रहा है। इसी प्रकार बाघ के चैथे लयण में दों नृत्य-समूहों का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही नृत्य-समूहों में मृदंग, झाल और दंड बजाती स्त्रियों से घिरी एक स्त्री नृत्य कर रही है। सारनाथ से प्राप्त एक शिलाफलक पर क्षान्तिवादक जातक का दृश्य अंकित है। उसमें एक स्त्री वेणु, भेरी, झाल और मृदंग बजाती स्त्रियों के बीच नृत्य कर रही है। भूमरा के शिव-मंदिर के फलकों में भी कुछ नृत्य करते गणों का अंकन हुआ है।

3.8 गुप्तकालीन चित्रकला

चित्र आदिम काल से ही मानव की आंतरिक अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम रहा है। अतः लोगों ने संसार में सर्वत्र चित्रकला के विकास की खोज प्रागैतिहासिक गुहा-चित्रों में की है और चित्रकला के विकासक्रम को व्यवस्थित रूप दिया है। किंतु इस प्रकार की भारतीय चित्रकला की ऐतिहासिक कड़ियों को अभी व्यवस्थित रूप से जोड़ा जाना संभव नहीं हो पाया है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास की जो व्यवस्थित कड़ी आज हमें उपलब्ध है, वह अजंता के लयणों में प्राप्त होती है। वहाँ के कुछ लयणों में ऐसे भित्ति-चित्रों के अवशेष मिले हैं, जिनका समय ईसा-पूर्व की दूसरी शती के आस-पास अनुमान किया जाता है और वे चित्रकला के अत्यंत विकसित परंपरा के प्रतीक हैं। यह चित्रकला सहसा प्रादुर्भूत न हुई होगी, उस परंपरा तक पहुँचने के लिए निस्संदेह कलाकारों ने बहुत बड़ी साधना की होगी और उस साधना में अवश्य ही शताब्दियाँ लगी होंगी, पर उनकी आज कोई जानकारी नहीं है।

इन पुरानी बातों को छोड़ दिया जाय और केवल गुप्तकालीन चित्रों की ही चर्चा की जाय तो सहज रूप से यह कहा जा सकता है कि उसकी चित्रकला की परंपरा की कड़ी उससे लगभग छः सौ बरस पहले से मिलने लगी थी। गुप्त-काल में चित्रकला ने पूर्ण विकसित वैभव प्राप्त कर लिया था। तत्कालीन तकनीकी और ललित, दोनों प्रकार के साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों लोग चित्रकला को केवल शौकिया ही नहीं सीखते थे, वरन् नागरिक समाज के उच्च वर्ग और राजमहलों की स्त्रियों और राजकुमारियों के बीच चित्रकला का ज्ञान एक अनिवार्य सामाजिक गुण माना जाता था और सामान्य जन में भी उसका प्रचार-प्रसार काफी था। कामसूत्र में चित्रकला का उल्लेख न केवल नागरक कला के रूप में हुआ है, वरन् उसमें उसके उपकरण, यथारंग, ब्रश, फलक आदि की भी चर्चा है और उन्हें नागरक के निजी कक्ष में होना आवश्यक कहा है। राजमहलों और धनिक घरों में चित्रशाला अथवा चित्रसद्म होने का उल्लेख साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। वह लोगों के चित्रकला के प्रति रुचि का परिचायक है।

यही नहीं, गुप्तकालिक साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि चित्रकला का व्यवहारिक रूप का प्रचुर विकास तो हुआ ही था, उसके सिद्धांत और तकनीक पर भी गंभीरता से सोचा जा चुका था और चित्रकला संबंधी सिद्धांत निर्धारित हो चुके थे। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला संबंधी पूरा एक अध्याय है। उसमें उसके एक अध्याय में सिद्धांतों पर विचार किया गया है। उसमें चित्र के सत्य (यथावत छवि), वैनिक (छंदयुक्त), नागर (संस्कृत) और मिश्र चार भेद कहे गये हैं। साथ ही वर्णरेखा, वर्ण-पूजन, अवयवों के परिमाण, अंगों के गठन, तनुता-स्थूलता, भावना, चेतना आदि की भी विशद् रूप से चर्चा की गयी है। वात्स्यायन के कामसूत्र पर यशोधर ने जो टीका की है, उसमें संभवत: विष्णुधर्मोत्तर के कथन के आधार पर ही चित्रकला के छः अंगों-रूपभेद (विधा अथवा प्रकार), प्रमाण (उचित अनुपात), लावण्य-योजन (सौंदर्य निरूपण), सादृश्य (तद्रूपता) और वर्णिकभंग (रंग-व्यवस्था) का उल्लेख हुआ है।

3.9 गुप्तकालीन मूर्तिकला

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि गुप्त-साम्राज्य के विकास के आरंभिक दिनों में मथुरा मूर्ति-कला का प्रमुख केंद्र था। यह भी एक मान्य तथ्य है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासन काल में बनी बुद्ध की मूर्ति, जो मानकुवर (जिला इलाहाबाद) से प्राप्त हुई है, मथुरा से निर्यात की हुई है। उसका मूर्तन कर्रा के लाल चित्तीदार पत्थर में हुआ है। यह मथुरा से नियतित अंयतम ज्ञात मूर्ति है। इस मूर्ति को बुद्ध की मूर्ति केवल इसलिए कहा जाता है कि उस पर अंकित अभिलेख में उसे इसी नाम से अभिहित किया गया है, अंयथा उसमें वे दोनों ही विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो कुषाणकालीन कही जानेवाली मथुरा की जिन (तीर्थंकर) की मूर्तियों में पायी जाती हैं अर्थात् उसका सिर कपर्दिन के समान मुंडित है और हाथ अभय मुद्रा में है। यही नहीं, इस मूर्ति का अनुपात, वक्ष का गढ़न, मुंह के भाव, आदि भी मथुरा की कुषाण मूर्तियों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है, उसके आसन के नीचे के सिंह, चक्र आदि भी उसके किसी भिन्न पहचान में सहायक नहीं होते। निष्कर्ष यह कि मानकुवर से प्राप्त यह मूर्ति इस बात का उदाहरण अथवा प्रमाण है कि मथुरा के मूर्तिकार, कम से कम इस मूर्ति के निर्माणकाल (पाँचवीं शती ई. के मध्य) तक कुषाणकालीन मूर्तन परंपरा का पालन कर रहे थे और वे किसी अंय मूर्तन शैली से परिचित न थे।

इस प्रकार मथुरा की गुप्तकालीन मूर्तियों की स्पष्ट दो धाराएँ हैं। पूर्ववर्ती गुप्तकालीन मूर्तियाँ (कुमारगुप्त प्रथम के काल और उससे पूर्व की मूर्तियाँ) कुषाण शैली की अनुगामिनी हैं। इन्हें आभिलेखिक प्रमाण के अभाव में कुषाण काल की मूर्तियों से किसी प्रकार अलग नहीं किया जा सका है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती गुप्तकाल (कुमारगुप्त प्रथम और उनके बाद) की मूर्तियाँ काशिका शैली की अनुगामिनी हैं। काशिका शैली को प्रत्यारोपण मथुरा में कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में कब और किस प्रकार हुआ स्पष्ट रूप से नहीं जाना जा सकता। किंतु इस संबंध में यह बात द्रष्टव्य है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल का एक अभिलेख मथुरा क्षेत्र में स्थित एटा जिले के विलसड़ नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख जिन स्तंभों पर अंकित हुआ है, उन पर कनिंघम की सूचना के अनुसार कुछ उच्चित्रण हैं। ये उच्चित्रण कला-इतिहास के इस ऊहापोह में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पर इनकी ओर कला-मर्मज्ञों का ध्यान कदाचित् अभी तक नहीं गया है, इन उच्चित्रों की चर्चा कहीं भी प्राप्त नहीं है। कनिंघम ने उनकी जो प्रतिच्छाया उपस्थित की है, वे बहुत संतोषजनक नहीं कहे जा सकते, फिर भी उनसे उन स्तंभों में काशिका-शैली की मूर्तन कल्पना उभरती हुई दिखाई पड़ती है। किंतु उनमें उस सुघरता का अभाव है। जो गुप्तकालीन कही जानेवाली कला में दिखाई पड़ता है। उसका अंकन भी बहुत सुडौल नहीं है। इसके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के आरंभ में काशिका-शैली का प्रसार मथुरा क्षेत्र की ओर होने लगा था। इस प्रकार कदाचित् कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के आरंभ से ही मथुरा क्षेत्र में मथुरा-कुषाण शैली और काशिका-शैली दोनों समानांतर रूप से प्रचालित थीं। फिर भी आश्चर्य की बात है कि वे एक दूसरे को तनिक भी प्रभावित नहीं करतीं। कम-से-कम अभी तक ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है जिससे मथुरा में प्रचलित पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती इन दोनों कला-धाराओं के संगम को देखा जा सके।

मथुरा के बाद काशी (सारनाथ) गुप्तकला का केंद्र कहा जाता है और साथ ही यह भी कहा जाता है कि मथुरा कला की ही एक धारा नयी ताजगी लेकर यहाँ फूटी है। वस्तुतः मथुरा कला शैली के विकास से बहुत पूर्व से ही काशिका प्रदेश कला-केंद्र रहा है। यह तथ्य अशोक के स्तंभों तथा मौर्यकालीन अंय कला-कृतियों के चुनार के बालू-पत्थर में बने होने से स्वतः प्रमाणित है। मौर्योत्तरकाल में यह कला किस रूप में जीवित थी, इसका ऊहापोह अभी तक करने की चेष्टा नहीं की गयी है। इस प्रकार के ऊहापोह के

लिए न तो यह अवसर है और न स्थान। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि सारनाथ में कुषाणकाल में मथुरा से कुछ मूर्तियाँ निर्यात हुई थी, जो कदाचित् इस बात का संकेत देती हैं कि उस समय यहाँ की स्थानीय कला बहुत उद्बुद्ध न थी। किंतु साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि सारनाथ से ही कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ भी मिली है जो मथुरा-कुषाण-शैली में बनायी गयी हैं पर उसका पत्थर चुनार का है। इस प्रकार वे निस्संदेह स्थानीय कला के नमूने हैं। उसका निर्माण कुषाणकाल में ही हुआ था या मथुरा की तरह यहाँ भी वे मथुरा-कुषाण-शैली में पूर्व-गुप्तकाल में बनीं, यह निश्चयपूर्वक कहने के लिए कोई आधारभूत सामग्री नहीं है। इन मूर्तियों में से कुछ पर लाल रंग पुते होने के चिह्न प्राप्त हुए हैं, वे उनके रंगीन होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनके रंगने का उद्देश्य उन्हें मथुरा के मूर्तियों के रंग में उपस्थित करना था वह काशी की किसी अपनी परंपरा में था, यह भी स्पष्ट नहीं है। वस्तु-स्थिति जो भी हो, इस कला-शैली की मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं।

3.10 गुप्तकालीन वास्तुकला

एरण गुप्तकालीन नगर था, ऐसा वहाँ उपलब्ध अवशेषों से ज्ञात होता है। कनिंघम को वहाँ काफी दूर तक दुर्ग के अवशेष मिले थे। उनसे ज्ञात होता है कि आरंभ में नगर को वीणा नदी के तट पर इस प्रकार बसाया गया था कि नदियाँ ही दुर्ग के लिए खाई का काम दें। तीन ओर से वह वीणा नदी से घिरा हुआ था, चौथी ओर दो अंय छोटी नदियाँ थीं, जो नगर के पश्चिम भाग में बहती थीं और वीणा नदी में गिरती थीं। नदियों द्वारा बने इस प्राकृतिक खाई के भीतर दुर्ग का जो प्राचीर रहा होगा, उसका वह भाग जो वीणा नदी को छूता था, कदाचित् कालांतर में नदी में ढह कर नष्ट हो गया। उसके दक्षिणी-पश्चिमी भाग के ही अवशेष कनिंघम को देखने को मिले थे। उन्होंने इन अवशेषों को अपनी रिपोर्ट में संलग्न मानचित्र में जो अंकन क्या है, उससे ज्ञात होता है कि नदी के किनारे के दुर्ग के प्राचीर कदाचित् एकदम सीधी दीवारों के रूप में रहे होंगे। इसका अनुमान उत्तर-पश्चिमी भाग में उपलब्ध सीधी दीवार के अवशेषों से किया जा सकता है। दक्षिण-पश्चिम की ओर का जो अंश वीणा नदी की परिधि से बाहर था, वहाँ दीवारों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर घुमाव दिया गया है। इन घुमावदार भाग में कदाचित् ऊँची गोल बुर्जियाँ रही होंगी। इस विस्तृत प्राचीर के भीतर दक्षिणी कोने पर एक दूसरा छोटा प्राचीरों का घेरा था, कदाचित् यह घेरे के भीतर राजप्रासाद अथवा सैनिक छावनी का रहा होगा। इस दुर्ग से बाहर कुछ हटकर ही गुप्तकालीन मंदिरों के अवशेष मिले हैं; इससे ऐसा अनुमान होता है कि उस समय लोग दुर्ग के बाहर भी बसते थे।

धार्मिक वास्तु

गुप्तकालीन नागरिक वास्तुओं की अपेक्षा धार्मिक वास्तुओं के अवशेष अधिक मात्रा और ठोस रूप में उपलब्ध हैं। ये वास्तु दो परंपराओं में विभक्त हैं। एक तो पश्चिमी और दक्षिणी भारत में पहले से प्रचलित परंपरा के क्रम में है जिनमें पर्वतों को काट कर बनाये गये लयण वास्तु हैं, दूसरी परंपरा चुनाई द्वारा ईंट और पत्थर के वास्तु निर्माण की है।

लयण-वास्तु

पर्वतों को काट कर लयण (गुहा) बनाने की परंपरा का आरंभ भारत में मौर्य काल में हुआ था। इस प्रकार के जो लयण चैत्य और विहार गुप्तकाल में बने वे अधिकांशतः गुप्त साम्राज्य के बाहर, अजंता, एलोरा और औरंगाबाद में हैं। गुप्त साम्राज्य के भीतर इस परंपरा के लयण केवल मध्यप्रदेश में वाव नामक स्थान पर देखने में आते हैं। बौद्धों की इस वास्तु परंपरा का अनुकरण ब्राह्मण और जैन-धर्म के माननेवालों ने कदाचित् गुप्तकाल में करना आरंभ किया। उनके बनाये लयण एलोरा में काफी संख्या में देखने में आते हैं। पर गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत उन्होंने प्रारंभिक प्रयोग मात्र ही किया। इस प्रकार के लयण मध्यप्रदेश में

विदिशा के निकट उदयगिरि में ही अब तक जाने गये थे। उनमें प्रायः सभी ब्राह्मण हैं केवल एक जैन है। इस प्रकार का एक ब्राह्मण लयण गुप्तकाल में बिहार में भी बना था। यह लयण भागलपुर जिले में मंदारगिरि पर है।

अजंता के लयण

अजंता स्थित लयणों की संख्या 29 है। उनमें से पाँच तो ईसा पूर्व की शताब्दियों के हैं। शेष का निर्माण गुप्तकाल में हुआ है। इन गुप्तकालीन चैत्यों में दो (लयण 19 और 26) चैत्य और शेष सब विहार हैं। चैत्यों में लयण 19, लयण 26 से पहले का बना प्रतीत होता है। ये चैत्यगृह अपनी सामान्य रूपरेखा में गुप्त-पूर्व के चैत्यों के समान ही हैं। कुब्जपृष्ठ के नीचे दोनों ओर पंक्तिबद्ध स्तंभ टोड़ों के ऊपर छत को उठाये पूरी गहराई तक चले गये हैं और स्तूप के पीछे अर्ध-वृत्त बनाते हैं। स्तूप गर्भभूमि पर हर्मिका और छत्रावली के साथ खड़ा है। इन चैत्यों की उल्लेखनीय बात यह है कि पूर्ववर्ती चैत्यों के भीतर-बाहर कहीं भी बुद्ध मूर्ति का उच्चित्रण नहीं हुआ था। इन गुप्तकालीन चैत्यों के भीतर्बाहर अनेक स्थलों पर बुद्ध की मूर्ति का उच्चित्रण हुआ है; स्तूप में भी सामने की ओर उनकी मूर्ति उकेरी गयी है।

विहारों में गुप्तकालीन प्राचीनतम विहार 11, 12 और 13 कहे जाते हैं, उनका समय 400 ई. के आसपास अनुमान किया जाता है। 16वीं लयण का निर्माण वाकाटक नरेश हरिषेण के मंत्री ने और लयण 17 को उनके एक मांडलिक सामंत ने कराया था। इनका समय 500 ई. के आसपास है। लयण 1 और 2, 600 ई. के आसपास बने होंगे। 16वें और 17वें लयण की ख्याति मुख्य रूप से अपने चित्रों के कारण है किंतु वास्तु-कला की दृष्टि से भी वे उतने ही महत्त्व के हैं। लयण 16, 65 फुट वर्गाकार 20 स्तंभों का मंडप है, जिसके अगल-बगल भिक्षुओं के रहने की 6-6, बरामदे के दोनों सिरों पर दो-दो और पीछे दो कोठरियाँ हैं। पीछे की दो कोठरियों के बीच में एक चैकोर गर्भगृह है जिसमें बुद्ध की प्रलंबपाद (पैर नीचे किये) मूर्ति है। स्तंभों का सौंदर्य अवर्णनीय है। उनमें कोई भी एक-सा नहीं है। फिर भी उनमें ऐसी समन्वयता है कि उनकी विविधता किसी प्रकार खटकती नहीं। लयण 17 भी लयण 16 के समान ही है। इन दोनों लयों की दीवारों पर बुद्ध और जातक कथाओं के चित्र अंकित किये गये थे और छतें बहुविध चित्रों से अलंकृत थीं। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लयण 2 का मंडप समस्त लयणों के मंडपों से बड़ा है, वह 87 फुट वर्गाकार है और उसमें 28 स्तंभ हैं। अंय लयणों में केवल लयण 24 ही उल्लेखनीय है, इसका मंडप 75 फुट वर्ग में है और उसमें 20 स्तंभ हैं। कदाचित् पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन् द्वारा चालुक्य-नरेश पुलकेशी के पराजय के पश्चात् सातवीं शती के मध्य में लयणों का निर्माण अजंता में समाप्त हो गया।

एलोरा के लयण

अजंता से प्रायः 75 मील दूर सह्याद्रि की पर्वतश्रृंखला में एलोरा के लयण हैं। इस समूह में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन तीनों ही धर्मों से संबंधित लयण हैं। किंतु बौद्ध लयण अंय दो धर्मों के लयणों से पहले के हैं। ये बौद्ध-लयण शृंखला में दक्षिणी छोर पर स्थित हैं और संख्या में 12 है। उनका निर्माण काल 550 और 750 ई. के बीच आँका जाता है। इन 12 लयणों में से केवल 5, जो प्राचीनतम है, गुप्तकाल के हैं। पाँचवें लयण के अतिरिक्त अंय सब लयण अजंता के लयण-विहारों के समान ही वर्गाकार हैं। लयण 5 वर्गाकार न होकर आयताकार है। वह लंबाई में 117 फुट और चौडाई में 70 फुट है। मंडप के भीतर गर्भ-भूमि तक दोनों ओर स्तंभों की पाँत चली गयी है।

उदयगिरि के लयण

उदयगिरि विदिशा के निकट, बेसनगर से दो मील दक्षिण-पश्चिम और साँची से 5 मील पर स्थित लगभग डेढ़ मील लंबी पर्वत-शृंखला है। उसकी अधिकतम ऊँचाई उत्तर-पूर्वी भाग में 250 फुट है। इसके

बीच का भाग नीचा है जिसमें पहाड़ के आरपार एक संकरी गली कटी हुई है। इसे किसी समय फाटक लगाकर बंद किया जाता रहा होगा। उसके उत्तरी भाग में फाटक के चिह्न अब भी वर्तमान हैं। इस पहाड़ी का पत्थर नर्म और परतदार है और इसी परतदार पत्थर होने का लाभ उठा कर उसके उत्तर-पूर्वी भाग में दस-बारह लयण काटे गये थे। अधिकांशतः बहुत छोटे हैं, किंतु जो भी लयण है, उनके द्वार के सामने चुनाई कर बरामदे अथवा मंडप बनाये गये थे। इन लयणों में से दो में द्वितीय चंद्रगुप्त के काल के अभिलेख हैं, तीसरे में गुप्त संवत् 106 का लेख है, उसमें किसी शासक का नाम नहीं है किंतु उसे कुमारगुप्त प्रथम के काल का कहा जा सकता है।

पहला लयण पहाड़ी की आधी ऊँचाई पर स्थित है। उसे लयण कहना कुछ असंगत लगता है, क्योंकि उसका सामना और एक किनारा चुनाई कर खड़ा किया गया है। उसकी छत प्राकृतिक पर्वत के आगे निकले भाग से बनी है। यह 7 फुट लंबा और 6 फुट चौड़ा कमरा है। सामने चार खंभे हैं। बीच में खंभों में तीन फुट का अंतर है और इधर-उधर खंभे केवल एक फुट के अंतर पर हैं। पीछे की दीवार में पर्वत को कोर कर कोई प्रतिमा बनायी गयी थी, किंतु अब वह नष्ट हो गयी हैं केवल एक खड़ी आकृति की रेखा भर बच रही है। दूसरा लयण लगभग भूमितल के निकट है और बहुत कुछ नष्टप्राय है। यह लयण लगभग आठ फुट लंबा और 6 फुट चौडा था। सामने की दीवाल नष्ट हो गयी है किंतु पर्वत में दो अर्ध-स्तंभों के चिह्न बच रहे हैं।

तीसरा लयण दूसरे लयण से लगभग 41 फुट हट कर दायीं ओर है। इस लयण के द्वार पर वीणावादक के चित्रण के आधार पर कनिंघम ने इसका उल्लेख वीणा-यण के नाम से किया है। यह लयण लगभग 14 फुट लंबा और पौने बारह फुट चौडा है और उसमें 6 फुट ऊँचा और सवा दो फुट चौड़ा अलंकृत द्वार है। द्वार के सिरदल और बाजू में अलंकरणों की तीन पाँत हैं। सिरदल के निचली पाँत में पाँच कमल हैं जिनके बीच गोल फलक में आकृति अंकित है। बीचवाले कमल में सिंह, अगल-बगलवाले में मकर और शेष दो में वीणावादक और सितारवादक अंकित हैं। अलंकरण पातों के बाहर अर्ध-स्तंभों का अंकन हुआ है जिनके ऊपर घंटाकार शीर्ष है और उनके ऊपर मकरवाहिनी है। भीतर एकमुखी लिंग प्रतिष्ठित है। लयण के सामने चुना हुआ मंडप था जो अगल-बगल दो छोटे तथा बीच में दो बड़े स्तंभों के सहारे खड़ा था। यह मंडप एक अंय खुले लयण के आगे तक चला गया था। यह खुला लयण सवा दस फुट लंबा और पौने सात फुट चौडा है। उसमें अष्टमातृकाओं का उच्चित्रण हुआ है।

चौथा लयण भी खुला हुआ है और 22 फुट लंबा, पौने तेरह फुट ऊँचा और केवल तीन फुट चार इंच गहरा (चौडा) है। इसकी दीवार पर वराह का सुप्रसिद्ध उच्चित्रण हुआ है। वराह के दोनों ओर गंगा-यमुना के अवतरित हो और मिल कर समुद्र में जा मिलने का सुंदर उच्चित्रण हुआ है। गंगा और यमुना नदी धाराओं के बीच क्रमशः मकर और कच्छप पर खड़ी घट लिये नारी के रूप में अंकित की गयी हैं और समुद्र को वरुण के रूप में पुरुष रूप में घट लिये दिखाया गया है।

वराह लयण से थोड़ा हट कर पाँचवीं लयण हैं जिसमें चंद्रगुप्त द्वितीय के 82वें वर्ष का उनके सनकानिक सामंत का अभिलेख है। यह लयण 14 फुट लंबा और साढ़े बारह फुट चौडा है। प्रवेश द्वार के सामने पत्थर काट कर बनाया गया 23 फुट आठ इंच लंबा और 5 फुट 10 इंच चौडा बरामदा है। द्वार जो बरामदे के दक्षिणी छोर के निकट है, काफी अलंकृत है .पर दोनों ओर मकरवाहिनी वृक्षिकाएँ हैं जिसका लोगों ने सामान्यतः गंगा-यमुना के रूप में उल्लेख किया है। द्वार के दोनों ओर उच्चित्रण है और एक ओर के उच्चित्रण के ऊपर उपर्युक्त अभिलेख है।

इस लयण से कुछ हट कर दायीं ओर पर्वत को काट कर स्तूपनुमा वास्तु का निर्माण हुआ है, जिसका आधार चैकोर है और छत तवानुमा पत्थर का बना है। इस कारण लोग इसको तवा लयण कहते हैं। इसके उत्तरी भाग में एक द्वार है और उसके भीतर 13 फुट 10 इंच लंबा और 11 फुट 9 इंच चौडा कमरा है। कमरे के पिछली दीवार पर एक अभिलेख है जिससे ज्ञात होता है कि उसे चंद्रगुप्त द्वितीय के सचिव पाटलिपुत्र निवासी वीरसेन ने निर्मित कराया था। इसके सामने पहले मंडप था इसका अनुमान द्वार के ऊपर बने खड्डे से होता है जिसके सहारे छत का निर्माण किया गया रहा होगा। द्वार के दोनों ओर द्वारपालों का अंकन हुआ था जो अब बहुत ही विकृत अवस्था में हैं। कमरे के छत के ऊपर साढ़े चार फुट व्यास के कमल के फूल का अंकन हुआ है।

वीरसेन लयण (तवा लयण) के बगल से पर्वत के आरपार गली बनी हुई है। इस गली के बनाने के लिए गहराई में केवल 12 फुट पत्थर काटे गये थे और लंबाई में यह गली 100 फुट होगी। इस गली के बनाने से दोनों ओर जो दीवार निकली उसका उपयोग उच्चित्रण के लिए किया गया है। इस उच्चित्रण में अतंत-शैय्या का दृश्य अंकित है। भगवान् विष्णु शेषनाग पर लेटे हुए हैं और गरुड़ तथा सात अंय आकृतियाँ उनके निकट हैं। यह काफी बड़ा उच्चित्रण है किंतु अब बहुत कुछ नष्ट हो गया है।

इस गली से आगे आठवाँ लयण है जो 10 फुट 4 इंच लंबी और 10 फुट चौड़ी कोठरी मात्र है। द्वार पर अर्ध-स्तंभ बना है जिस पर घंटाकार कटावदार शीर्ष है। इसमें एक ओर गणेश और दूसरी ओर माहेश्वरी का उच्चित्रण है। इससे उत्तर-पूर्व कुछ हट कर उदयगिरि ग्राम के निकट नवा लयण है, जिसे कनिंघम ने अमृत-लयण का नाम दिया है। इसके भीतर शिवलिंग प्रतिष्ठित है किंतु संवत् 1093 (1036 ई.) के एक अभिलेख से, जिसे किसी यात्री ने एक स्तंभ पर अंकित किया है, ज्ञात होता है कि उन दिनों उसमें विष्णु की उपासना होती थी। यह उदयगिरि के समस्त लयणों में सबसे बड़ा है अर्थात् 22 फुट लंबा और 19 फुट चार इंच चौडा है। छत को सँभालने के लिए चार बड़े-बड़े, स्तंभ हैं जो 8 फुट ऊँचे और 7 इंच वर्गाकार हैं। इन स्तंभों के शीर्ष काफी अलंकृत हैं। उनमें चार कोनों पर चार पक्षधारी श्रृंगयुक्त पशु अपनी पिछली टाँगों पर खड़े हैं और अगले पंजों से अपना मुँह छू रहे हैं। इसकी छत भी अंय लयणों से भिन्न है। स्तंभ के ऊपर बने धरण से वह नौ वर्गों में बँटा है। बीच के वर्ग में चार वृत्तोंवाले कमल के फूल का अंकन है। उसकी खाली जगह भी रेखाओं से भरी हुई है। इस लयण का द्वार भी अंय लयणों की अपेक्षा अधिक अलंकृत है किंतु दोनों ओर मकरवाहिनी का अंकन है बीच में समुद्रमंथन का दृश्य उच्चित्रित है और इसके ऊपर नवग्रह का अधबना उच्चित्रण है। इस लयण के सामने एक तीन द्वारोंवाला बरामदा था जिसमें बाद में एक हाल जोड़ दिया गया जिससे उसका आकार 27 फुट वर्ग के मंडप-सा बन गया। इस मंडप के कुछ स्तंभ और दीवार ही अब बच रहे हैं। कदाचित् यह लयण समग्र लयण समूह में सबसे बाद का है, ऐसा कनिंघम का मत है।

दसवाँ लयण पर्वत के उत्तरी-पश्चिमी छोर पर है और उस तक पहुँचना सहज नहीं है। यह लयण 50 फुट लंबा और 16 फुट चौडा है और अनगढ़ पत्थर चुन कर बने दीवारों से पाँच कमरों के रूप में विभक्त है। आखिरी कमरे से लगा एक और लयण है जिसमें इसी प्रकार बने तीन कमरे हैं। पहले लयण में एक अभिलेख है जिससे ज्ञात होता है कि इस लयण का निर्माण गुप्त संवत् 106 में हुआ था और उसके द्वार पर पार्श्वनाथ की स्थापना की गयी थी। उदयगिरि के लयणों में अकेला यही लयण जैन-धर्म से संबद्ध है; अंय सब ब्राह्मण लयण हैं।

उदयगिरि के इन लयणों में न तो वह भव्यता है और न वह सुचारुता जो अंयत्र ज्ञात बौद्ध लयणों में देखने में आती है। इनके बाहर मंडप चुन कर बनाये गये थे, यह कुछ असाधारण-सी बात है, यह भी

अंयत्र अज्ञात है। वास्तुकला के दो विधाओं का यह समन्वय तितव्यीयता की दृष्टि से किया गया था अथवा पत्थर की अनुपयुक्तता के कारण, कहा नहीं जा सकता। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चुनाई के काम में भी वह सुघरता नहीं है जो अंय चुने हुए वास्तुओं में देखने में आता है।

स्तूप

स्तूपों का विकास मूलतः अस्थिसंचायक के रूप में हुआ था पर पीछे वे अस्थिसंचायक और स्मारक दोनों रूपों में बनने लगे। गुप्त काल में दोनों ही प्रकार के स्तूप बने। गंधार और मध्यप्रदेश में उनकी विस्तृत परंपरा थी, किंतु ईंटों के बने होने के कारण प्रायः वे सभी नष्ट हो गये। मथुरा में कुषाणकालीन जैन-स्तूप के चारों ओर की वेदिका की स्तंभ और बड़ेरियाँ मिली हैं जो उनसे तत्कालीन और परवर्ती स्तूपों की कुछ कल्पना की जा सकती है।

गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत अवशिष्ट स्तूपों में बस सारनाथ स्थित धमेख स्तूप ही ऐसा है जिसकी कुछ चर्चा की जा सकती है। यह संभवत: छठी शती ई. का है। यह ईंटों का बना 128 फुट ऊँचा और आकार में गोल नलाकार है। आज वह जिस रूप में उपलब्ध है, उसके तीन अंग हैं। नीचे का आधार, बीच का भाग और तूदा। आधार ठोस पत्थर का बना है और उसमें आठ दिशाओं में आगे को निकला हुआ शिखरयुक्त पतला उभार है जिसके बीच में मूर्तियों के लिए रथिकाएँ बनी हैं। उनकी मूर्तियाँ अब अनुपलब्ध हैं। शेष भाग पर सुंदर ज्यामितिक तथा लतापत्र की एक चौड़ी पट्टी है। ऊपर का तूदा ईटों का बना है।

इसी आकार का एक दूसरा स्तूप राजगृह में है जो जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है और संभवत: इसी काल का है। इसका आकार कुछ मीनार सरीखा है, कदाचित् इसीलिए युवान-च्वांग ने उसका उल्लेख मीनार के रूप में किया है।

3.3.11 गुप्तकालीन स्थापत्य कला

मंदिर

प्राचीन काल में भारत में मंदिर निर्माण की पृष्ठभूमि में जब हम गुप्तकाल पर दृष्टिपात करते हैं और तत्कालीन अभिलेखों में मंदिरों की चर्चा पाते हैं तो लगता है कि इस काल में मंदिर बहुत बड़ी संख्या में बने होंगे और वे अपने रूप में काफी विकसित होंगे। किंतु गुप्तकालीन कहे और समझे जानेवाले मंदिर-अवशेषों से जो रूप सामने आता है, वह वास्तुकला की दृष्टि से मंदिरों का अत्यंत शैशविक रूप ही प्रकट करता है। ईसा पूर्व और ईसा की आरंभिक शताब्दियों के उच्चित्रों और सिक्कों से ज्ञात देव-गृहों की तरह इनमें से कोई भी मंदिर छत के रूप में कुब्जपृष्ठ अथवा स्तूपिका स्वरूप नहीं है। वे कुषाण सिक्कों पर अंकित देव-मंडप की तरह सपाट ओरीयुक्त छतवाले भी नहीं हैं। उनकी छत एकदम सपाट है। इस प्रकार ये उनसे एकदम अलग-थलग हैं। उच्चित्र फलकों और सिक्कों पर देवगृहों की कोई भू-योजना नहीं झलकती, इस कारण कहा नहीं जा सकता कि भूयोजना की दृष्टि से गुप्तकालीन मंदिर उनके कितने निकट थे। खड़े रूप में उच्चित्रों में देवगृह स्तंभों पर बने मंडप और दीवारों से घिरे कमरे दोनों ही रूपों में दिखाई पड़ते हैं। गुप्तकालीन मंदिर अधिकांशतः दीवारों से घिरे कमरे ही हैं। इस दिशा में गुप्तकालीन वास्तुकारों के लिए पूर्ववर्ती वास्तुकारों से प्रेरणा ग्रहण करने जैसी कोई बात जान नहीं पड़ती।

सभी बातों को सम्यक रूप से सामने रख कर संतुलित रूप से देखने पर यही प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन मंदिरों की परंपरा उक्त उच्चित्रों और सिक्कों पर अंकित वास्तुपरंपरा से सर्वथा भिन्न थी। हो सकता है गुप्तकालीन वास्तुकारों ने सपाट छतोंवाले मंदिर निर्माण की प्रेरणा लयण-वास्तु से ग्रहण की हो।

इस काल के प्रमुख मंदिरों का निम्नानुसार प्रस्तुत है -

1. शंकरमढ का मंदिर

जबलपुर में तिगवा से तीन मील पूरब कुंडा नामक ग्राम में एक छोटा-सा लाल पत्थर का बना शिव-मंदिर है, जिसे स्थानीय लोग शंकरमढ़ कहते हैं। इसकी ओर अभी हाल में ही ध्यान आकृष्ट हुआ है। यह छोटी-सी कोठरी मात्र है, जो भीतर से लगभग वर्गाकार (5 फुट 7 इंच लंबा और 5 फुट 10 इंच चौडा) है, बाहर से वह 10 फुट 8 इंच लंबा और 10 फुट 10 इंच चौडा है। यह बिना चूने-गारे के पत्थर की लंबी पटियों को रख कर बनाया गया है। छत पत्थर के दो पटियों से बनी है जो लोहे के अंकुशों से जुड़े हुए हैं। मंडप की छत पर संभवत: कमल के फूल का उच्चित्रण हुआ था पर अब उसके कुछ अंश छत की एक पटिया पर ही बच रहे हैं। द्वार के बाजुओं पर दोनों ओर उभरती हुई तीन पट्टियाँ हैं और ऊपर के सिरदल के दोनों कोनों पर चैकोर सामान्य अलंकरण हैं। इस मूल वास्तु के निर्माण के पश्चात् किसी समय इसके आगे एक मंडप जोड़ दिया गया था जो अब नष्ट हो गया है। इसे गुप्तकाल के अंत्यारंभ का मंदिर अनुमान किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि मंडप भी गुप्तकाल के आरंभ में ही किसी समय बनाया गया होगा।

2. साँची स्थित मंदिर

साँची के महास्तूप से दक्षिण-पूर्व हट कर एक छोटा सा सपाट छतों वाला मंदिर है जो भीतर से वर्गाकार 8 फुट 2 इंच और बाहर से 20 फुट लंबा और पौने तेरह फुट चौडा है। इसके सामने छोटा-सा चार स्तंभों पर खड़ा मंडप अथवा बरामदा है। ऊपर छत पर पानी निकलने के लिए पनाली लगी है। स्तंभों को छोड़ कर इस भवन में किसी प्रकार का कोई अलंकरण ज्ञात नहीं होता। स्तंभ नीचे चैपहल और ऊपर अठपहल हो गये हैं, उसके बाद चैकोर पीठ के ऊपर शीर्ष है जिन पर पशुओं का उच्चित्रण हुआ है।

3. तिगवा का मंदिर

जबलपुर जिले में तिगवा, किसी समय मंदिरों का गाँव था, किंतु अब वहाँ के सभी मंदिर नष्ट हो गये हैं। केवल गुप्तकालीन एक मंदिर बच रहा है। पत्थर का बना यह मंदिर 12 फुट 9 इंच का वर्गाकार है, ऊपर सपाट छत है, जिस पर भीतर कमल के फूल का अंकन है। सामने चार स्तंभों पर खड़ा मंडप है - भीतर गर्भगृह वर्गाकार केवल 8 फुट है। उसके भीतर नृसिंह की मूर्ति प्रतिष्ठित है। मंडप के स्तंभ नीचे तो चैपहल है, कुछ दूर जाकर वे अठपहल और फिर सोल पहल हो जाते हैं और फिर वे लगभग गोल रूप धारण कर लेते हैं। उसके ऊपर कुंभ है और तदनंतर तीन भागों में विभक्त पीठिका और तब शीर्ष पीठिका के ऊपरी भाग पर गवाक्षों का उच्चित्रण है और शीर्ष पर चारों ओर दो बैठे हुए सिंह और उनके बीच वृक्ष अंकित है। इस प्रकार इस मंदिर के स्तंभ काफी अलंकृत हैं। स्तंभों की तरह ही द्वार भी अलंकृत है। उसके अगल-बगल अर्धस्तंभों का अंकन हुआ है और उनके ऊपर गंगा-यमुना का अंकन है। सिरदल के ऊपर तेरह चैकोर टोड़े निकले हुए हैं, जो लकड़ी के धरण के अनुकृति जान पड़ते हैं। काष्ठ के उपकरण का पत्थर में अनुकरण, वास्तु की शैशविकता की ओर संकेत करता है।

4. एरण के मंदिर

समुद्रगुप्त और बुधगुप्त के अभिलेख तथा तोरमाण के काल के वराह मूर्ति के कारण एरण पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों के लिए एक परिचित स्थान है जो मध्यभारत के सागर जिले में स्थित है। यहाँ गुप्तकालीन तीन मंदिर पाये गये हैं।

(क) नृसिंह-मंदिर

यह मंदिर प्रायः ध्वस्त हो गया है। जिन दिनों कनिंघम ने इसे देखा था, केवल सामने का हिस्सा यथास्थित था। उसके मलबे की सामग्री का अध्ययन कर उन्होंने उसका जो रूप निर्धारित किया है, उसके अनुसार यह साढ़े बारह फुट लंबा और पौने नौ फुट चौडा था। सामने चार स्तंभों पर स्थिर मंडप था। बीच के दो स्तंभों में साढ़े चार फुट का और किनारे के स्तंभ में सवा तीन फुट का अंतर था। इसके स्तंभ तो अपने स्थान पर नहीं हैं पर चबूतरे पर उसके जो चिह्न हैं। उससे ज्ञात होता है कि वे चैपहल थे। इस मंदिर के भीतर नृसिंह की जो मूर्ति प्रतिष्ठित थी वह 7 फुट ऊँची है। छत अंय मंदिरों की तरह ही सपाट थी और 13 फुट आठ इंच लंबे और साढ़े सात फुट चैड़े दो शिला-फलकों से बनी थी। इनका किनारा कुछ उठा था और दोनों फलकों के जोड़ पर एक तीसरा पतला फलक रख दिया गया था।

(ख) वराह मंदिर

कनिंघम ने जिन दिनों इस मंदिर को देखा था, उस समय तक उसका समूचा ऊपरी भाग गिर गया था, नीचे की दीवारें और मंडप के दो स्तंभ बच रहे थे। भीतर प्रतिष्ठित वराह मूर्ति यथास्थान थी। इस मूर्ति की ऊँचाई 11 फुट 2 इंच है और लंबाई में 13 फुट 10 इंच और चौडाई में 5 फुट डेढ इंच है। इन सूत्रों के आधार पर कनिंघम ने मंदिर का जो रूप उपस्थित किया है, उसके अनुसार इस मंदिर में 31 फुट लंबा और साढ़े पंद्रह फुट चौडा गर्भगृह तथा उसके सामने 9 फुट चौडा मंडप था, दीवार की मोटाई ढाई फुट थी। इस प्रकार समग्र मंदिर बाहर से साढ़े बयालीस फुट लंबा और साढ़े बीस फुट चौडा रहा होगा। छत का अवशेष उपलब्ध नहीं हो सका, किंतु गर्भगृह के दीवारों और मंडप के अवशेषों से स्पष्ट अनुमान होता है कि उसके ऊपर छत अवश्य रही होगी। मंडप के स्तंभ का शीर्ष उपलब्ध नहीं है। उसको छोड़ कर स्तंभ की ऊँचाई दस फुट है, उसका चैकोर तल वर्गाकार दो फुट चार इंच है। तल चार पट्टियों में विभक्त है। सबसे निचली पट्टी के ऊपर दो पतले कंठ हैं फिर एक गोल पट्टी है। तदनंतर फिर पतला दुहरा कंठ है और उसके ऊपर दो पट्टियाँ हैं। इन पट्टियों के पर एक कंठ है और इस तल के ऊपर स्तंभ का धड़ है जो वर्गाकार एक फुट साढ़े सात इंच है। स्तंभ का यह भाग 9 खण्डों में विभक्त है। नीचे दो फुट दो इंच का पूर्णघट है। जिससे लताएँ बाहर निकल रही हैं। घट के नीचे रज्जुका है, घट के ऊपर लता-पत्र की एक पतली पट्टी है और फिर उसके ऊपर पाँच फुट दस इंच भाग सोल पहल है। इसमें चार दिशाओं के चार पहलों में जंजीरयुक्त घंटे का अंकन है और ऊपरी भाग में प्रत्येक पहल में अर्धवृत्त बना है। इसके ऊपर उलटा कमल-घट है और फिर उसके ऊपर दो फुट दो इंच का वैसा ही पूर्ण घट है जैसा तल में है। इस पूर्णघट के ऊपर आमलिका रूपी कंठ है तदनंतर आठ इंच की चैकोर बैठकी है जिसके चार कोनों पर घुटनों के सहारे खड़ी चार मानवाकृतियाँ हैं और बीच में दो परस्पर गुंथे सर्प हैं, उनके ऊपर अर्धफूल है। इसकी बैठकी के ऊपर कटावदार कंठ है और इस कंठ के पर पुनः दो भागों में विभक्त बैठकी है जो दो भिन्न रूपों में अलंकृत है। इसके ऊपर शीर्ष रहा होगा। इस प्रकार इस स्तंभ का अलंकरण अत्यधिक और भारी है।

इस मंदिर का महत्त्व इस दृष्टि से है कि इसमें प्रतिष्ठित वराह मूर्ति पर हूण-नरेश तोरमाण के शासन काल के प्रथम वर्ष का अभिलेख है। इस अभिलेख के अनुसार मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने इसका निर्माण कराया था और इन दोनों भाइयों ने कुछ ही पहले बुधगुप्त के शासन काल में एरण में ही विष्णुध्वज स्थापित किया था। इस प्रकार इस मंदिर का निर्माण काल निश्चित है।

(ग) विष्णु-मंदिर

वराह मंदिर के उत्तर में एक अंय मंदिर था जिसमें तेरह फुट दो इंच विष्णु प्रतिष्ठित थे। यह मंदिर आकार में लंबोतरा था, उसके सामने मंडप बना था। बाहर से यह साढ़े बत्तीस फुट लंबा और साढ़े तेरह फुट चौडा था। भीतर से यह केवल 18 फुट लंबा और 6 फुट चौडा था। मंडप दो अत्यधिक अलंकृत स्तंभों पर बना था जिसकी टोड़ों के साथ ऊँचाई 13 फुट थी। ये स्तंभ यथास्थान खड़े हैं। किंतु गर्भगृह की दीवारें एकदम गिर गयी हैं। इस मंदिर का द्वार, जो उपलब्ध है, काफी अलंकृत है। द्वार के सिरदल के बीच में गरुड़ का उच्चित्रण है। द्वार के बाजू का अलंकरण तीन भागों में बँटा है। भीतरी भाग सर्प की कुंडलियों से मंडित है, बीच के भाग में पुष्पांकन है और किनारे पत्तियाँ अंकित हैं। बाजू के निचले भाग में गंगा और यमुना का अंकन है। इस मंदिर का छत भी सपाट था। किंतु अंय मंदिरों की तुलना में काफी भारी था और मंडप के स्तंभों से सवा तीन फुट ऊपर था। छत और मंडप के स्तंभों के बीच के भाग में अलंकरण की एक पट्टी थी। इस मंदिर की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसके अगल-बगल और पीछे के दीवारों के निचले भाग कुछ आगे को उभरे हुए हैं जो पूर्वोल्लिखित किसी मंदिर में देखने में नहीं आता और परवर्ती मंदिरों में विकसित रूप में देखने को मिलता है।

5. भूमरा का शिव-मंदिर

जबलपुर-इटारसी रेलमार्ग पर स्थित उँचहरा रेलवे स्टेशन से छः मील पर स्थित भूमरा नामक स्थान में एक शिव-मंदिर है, जो मूलतः वर्गाकार 35 फुट का था; उसके सामने 29 फुट 19 इंच लंबा और 13 फुट चौडा मंडप था। मंडप के सामने बीच में 11 फुट तीन इंच लंबी और 8 फुट 5 इंच चौड़ी सीढ़ियाँ थीं। सीढ़ियों के दोनों ओर 8 फुट 2 इंच लंबी और 5 फुट आठ इंच चौड़ी एक-एक कोठरी थी। मंडप के सामने मूल वास्तु के भीतर बीच में साढ़े पंद्रह फुट का वर्गाकार लाल पत्थर का सपाट छतवाला गर्भगृह था। गर्भगृह के चारों ओर ढंका प्रदक्षिणा पथ रहा होगा, किंतु उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं है, उसका अनुमान नचनाकुठारा के मंदिर के आधार पर किया जाता है। गर्भगृह के द्वार के बाजू अलंकरण के तीन पट्टियों से सजे हुए हैं। भीतरी और बाहरी पट्टी की ज्यामितिक और पुष्प का अलंकरण ऊपर सिरदल पर भी फैला हुआ है। सिरदल के बीच में शिव की भव्य मूर्ति है। बाजुओं के नीचे गंगा और यमुना का अंकन हुआ है। छत, पत्थर की बड़ी-बड़ी पटियों से बना था। दीवार बिना जुड़ाई के पत्थर के गढ़े हुए पत्थर रख कर बनायी गयी थी। मंडप के स्तंभ और द्वार के अवशेष सफाई करने पर मलबे में प्राप्त हुए थे। वे भी काफी अलंकृत हैं।

6. नचना-कुठारा का पार्वती-मंदिर

भूमरा से दस मील पर अजयगढ़ के निकट स्थित नचना-कुठारा में एक मंदिर है जिसे कनिंघम ने पार्वती मंदिर का नाम दिया है। राखालदास बनर्जी उसे शिव-मंदिर कहते हैं। यह मंदिर अपने मूल रूप में बहुत कुछ सुरक्षित है और भू-योजना में भूमरा के मंदिर के समान ही है। इस मंदिर का गर्भगृह भीतर से वर्गाकार 8 फुट और बाहर से 15 फुट है। इसी प्रकार प्रदक्षिणा-पथ भीतर से 26 फुट और बाहर से 33 फुट है। इसके सामने का मंडप 26 फुट लंबा और 12 फुट चौडा है। उसके सामने बीच में 18 फुट लंबी और 10 फुट चौड़ी सीढ़ी है। गर्भगृह की छत सपाट है और उसके ऊपर एक और कोठरी है जो बाहर-भीतर से एकदम साधारण है, किंतु उसमें जाने के लिए किसी सीढ़ी का पता नहीं चलता। इस कोठरी की भी छत सपाट है। गर्भगृह में प्रकाश जाने के लिए अगलबगल की दीवारों में एक-एक झरोखे हैं जिनमें चैपहल छेद हैं। इसी प्रकार का झरोखा बाहरी दीवारों में भी है। इसका द्वार अंय मंदिरों के द्वारों की अपेक्षा कुछ अधिक अलंकृत है। उसके बाजुओं पर मिथुनों का अंकन हुआ है और निचले भाग में एक ओर गंगा

और दूसरी ओर यमुना का अंकन है। प्रदक्षिणा-पथ की बाहरी दीवार तीन ओर बीच में कुछ आगे को निकली हुई है।

3.3.12 सारांश

गुप्तकालीन कला की विशेषताएँ - (1) रूढ़िवाद का अभाव (2) सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौंदर्य (3) गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श (4) कला ''तकनीक'' की सादगी और अभिव्यंजना (5) स्वाभाविकता और यथार्थवादिता (6) लावण्य और लालित्य का संयमित प्रदर्शन (7) कला का विशुद्ध भारतीय रूप

गुप्तकालीन संगीत कला - तत्कालीन साहित्य के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन संगीत से आप्लावित था। संगीत चरम सुख का प्रतीक था और वह लोकरंजन का प्रमुख साधन था।

गुप्तकालीन गायन कला - कालिदास के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक गायन ने एक व्यवस्थित सिद्धांत का रूप धारण कर लिया था।

गुप्तकालीन वादन कला - गायन के साथ-साथ वादन का उल्लेख प्रायः गुप्तकालीन साहित्य में मिलता है। कदाचित् उन दिनों तंत्रगत वाद्यों में वीणा का ही प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। कालिदास ने उसी का उल्लेख विशेष किया है। लोग प्रायः वीणा के साथ गायन करते थे।

गुप्तकालीन नृत्य कला - गुप्तकाल में नृत्य की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि परिवार के भीतर तो लड़कियाँ नृत्य सीखतीं और नृत्य करती ही थीं परिवार के बाहर भी उसका व्यापक प्रचार था। मंदिरों में, समाज में, राजदरबार में नृत्य हुआ करते थे।

गुप्तकालीन चित्रकला - गुप्तकालीन चित्रों की ही चर्चा की जाय तो सहज रूप से यह कहा जा सकता है कि उसकी चित्रकला की परंपरा की कड़ी उससे लगभग छः सौ बरस पहले से मिलने लगी थी। गुप्त-काल में चित्रकला ने पूर्ण विकसित वैभव प्राप्त कर लिया था।

गुप्तकालीन मूर्तिकला- यह एक निर्विवाद तथ्य है कि गुप्त-साम्राज्य के विकास के आरंभिक दिनों में मथुरा मूर्ति-कला का प्रमुख केंद्र था।

गुप्तकालीन स्थापत्य कला - जब हम गुप्तकालीन अभिलेखों में मंदिरों की चर्चा पाते हैं तो यह निश्चित हो जाता है कि इस काल में मंदिर बड़ी संख्या में बने होंगे। वर्तमान में गुप्तकालीन मंदिर सौ से अधिक संख्या में प्राप्त हो चुके हैं और कुछ मंदिर तो बहुत ही अच्छी अवस्था में विद्यमान हैं।

3.3.13 बोध प्रश्न

3.3.13.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन कला की कोई दो विशेषतायें लिखिये।
2. गुप्तकालीन संगीत कला पर प्रकाश डालिये।
3. गुप्तकालीन गायन कला पर प्रकाश डालिये।
4. गुप्तकालीन वादन कला पर लघु नोट लिखिये।
5. गुप्तकालीन नृत्य कला का परिचय दीजिये।
6. गुप्तकालीन चित्रकला पर टिप्पणी लिखिये।
7. अजंता की गुफाओं पर प्रकाश डालिये।

8. गुप्तकालीन वास्तु का परिचय दीजिये।
9. एलोरा की गुफाओं पर प्रकाश डालिये।
10. साँची स्थित गुप्तकालीन मंदिर पर लघु नोट लिखिये।

3.3.13.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. गुप्तकालीन कला की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
2. गुप्तकालीन संगीत, गायन एवं वादन कला का वर्णन कीजिये।
3. अजंता एवं एलोरा स्थित गुफाओं की विवेचना कीजिये।
4. उदयगिरि की गुफाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिये।
5. एरण के मंदिरों का वर्णन कीजिये।
6. गुप्तकालीन मंदिरों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
7. गुप्तकालीन चित्र कला एवं नृत्य कला का वर्णन कीजिये।
8. गुप्तकालीन मूर्तिकला पर प्रकाश डालिये।
9. गुप्तकालीन प्रमुख पाँच मंदिरों का वर्णन कीजिये
10. गुप्तकालीन स्थापत्य कला पर एक निबंध लिखिये।

3.3.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रमशेचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, 1942
3. ए. एस. अल्तेकर: वाकाटक-गुप्त एज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960
4. चंद्रभान पांडेय: आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
5. विमल चंद्र पांडेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद
6. श्रीनेत्र पांडेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद
7. वी. वी. मिराशी: वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, वाराणसी, 1964
8. राजबली पांडेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एंड संस, वाराणसी, 1962
9. रमाशंकर त्रिपाठी: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
10. मोतीचंद्र: प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भंडार, प्रयोग, सं. 2007
11. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
12. राजबली पांडेय: विक्रमादित्य, चैखंभा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
13. ए.एल. बाशम: अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1967
14. जयचंद्र विद्यालंकार भारतीय इतिहास की मीमांसा, हिंदी भवन, इलाहाबाद, 1960
15. नगेंद्रनाथ घोष: भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, 1951
16. एल.डी. बारनेट: एंटीक्विटीज ऑफ इंडिया, लंदन 1913
17. रैप्सन, ई.जे.: कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1
18. रैप्सन, ई.जे.: एंन्शियंट इंडिया, कैंब्रिज 1922
19. एच.सी. राय चैधरी: पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
20. के.ए. नीलकंठ शास्त्री: हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशियंट इंडिया, मद्रास, 1950

21. वी.ए. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
22. मजूमदार तथा पुसलकर: दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बंबई
23. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
24. मजूमदार तथा पुसलकर: दी क्लासिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
25. के. ए. नीलकंठ शास्त्री: ए कंप्रिहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-2, मुंबई, 1957
26. सुधाकर चट्टोपाध्याय: अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1938

खंड – 3 कला एवं स्थापत्य

इकाई – 4 पूर्व मध्यकालीन कला एवं स्थापत्य

इकाई की रूपरेखा

3.4.1 उद्देश्य
3.4.2 प्रस्तावना
3.4.3 पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य
3.4.4 मंदिर स्थापत्य का शैली वर्गीकरण
3.4.5 पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला
3.4.6 पूर्व मध्यकालीन चित्रकला
3.4.7 सारांश
3.4.8 बोध प्रश्न
3.4.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न
3.4.8.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
3.4.9 संदर्भ ग्रंथ

3.4.1 उद्देश्य

पूर्व मध्यकालीन शासक कला-प्रेमी थे। पूर्व मध्यकाल प्रधानतः युद्ध तथा संघर्ष का काल था अतएव विभिन्न राजवंशों के शासकों ने आत्म-रक्षा के लिये अनेक सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया। इस प्रकार इस युग में वास्तुकला की बड़ी उन्नति हुई।

पूर्व मध्यकाल में मंदिरों का खूब निर्माण हुआ। इस काल में उत्तरी भारत में जो मंदिर बने उसके शिखर बड़े ऊँचे तथा नुकीले हैं। इनमें अलंकार तथा सजावट की अधिकता है, परंतु सुदूर दक्षिण में रथ तथा विमान के आकार के मंदिर बने हैं। इस काल के बने हुए मंदिरों में खजुराहो के मंदिर, उड़ीसा में भुवनेश्वर का मंदिर, काश्मीर का मार्तण्ड-मंदिर, अजंता के गुहा-मंदिर, एलोरा का कैलाश-मंदिर, आबू पर्वत पर स्थित जैन-मंदिर, तंजौर, कांची, मथुरा आदि के मंदिर प्रसिद्ध हैं।

मंदिर के निर्माण के साथ-साथ इस काल में मूर्ति-निर्माण कला की भी उन्नति हुई। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों ने शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि की मूर्तियों का, बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों का और जैनियों ने तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण कराया। चित्रकारी का भी कार्य उन्नत दशा में था। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पूर्व मध्यकालीन कला एवं स्थापत्य की विस्तृत विवेचना करना है।

3.4.2 प्रस्तावना

पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक एकता का अभाव रहा और विघटन की प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा, किंतु पूर्वमध्यकालीन नरेशों ने ललितकलाओं की उन्नति और विकास में विभिन्न साधन और अवसर जुटा कर अपूर्व योगदान दिया। इससे भारतीय वास्तुकला की विविध शैलियों का सुंदर विकास हुआ। वस्तुतः भारतीय वास्तुकला और मूर्तिकला इस युग में अपने अति मनोहर रुप में अभिव्यक्त हुई। बौद्ध और जैन धर्म के साथ ब्राह्मण धर्म के शैव, शाक्त, वैष्णव और विविध संप्रदायों के लिए वास्तुकला व

मूर्तिकला का उपयोग होने लगा। इसके अतिरिक्त इस युग में प्रत्येक राजवंश ने क्ला में अपने क्षेत्र की प्रवृत्ति को आश्रय दिया। विभिन्न ललितकलाओं (स्थापत्य या वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि) का इस युग में अत्यधिक विकास हुआ। यह काल ललितकलाओं की परिपक्वता का काल कहा जा सकता है। प्रस्तुत इकाई में पूर्व मध्यकालीन कला एवं स्थापत्य का वर्णन किया जाना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथसूची भी दी जावेगी।

3.4.3 पूर्व मध्यकालीन स्थापत्य

647 ई. में हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में विकेंद्रीकरण का आरंभ हुआ। उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक शक्तियों ने अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। 9वीं शताब्दी के अंत तक उत्तर भारत में उल्लेखनीय राजवंश जैसे परवर्ती गुप्त वंश(530 से 820 ई. तक), कन्नौज का मौखरि वंश (475-749 ई.), तथा गुर्जर-प्रतीहार वंश (550-870 ई.) थे। इनमें से अंतिम राजवंश विशेष शक्तिशाली हुआ। गुर्जर-प्रतीहारों के बाद कन्नौज पर गहड़वाल वंश (1050-1200 ई.) का शासन रहा। अंय मुख्य राजवंशों में बंगाल में पाल(765-1175 ई.) और सेनवंश (1058-1230 ई.), दिल्ली-अजमेर में चाहमान वंश (550-1194 ई.), बुन्देलखंड में चंदेल (830-1308 ई.), ग्वालियर क्षेत्र में कच्छपघात (950-1150 ई), त्रिपुरि में कलचुरि (875-1195 ई.), मालवा में परमार (820-1395 ई.) तथा गुजरात में चालुक्य (960-1298 ई.) वंश का शासन रहा। इनके समकालीन दक्षिण के राजवंश भी इस दिशा में पीछे नहीं रहे। पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट, चोल, चालुक्य और पल्लव राजवंशों का शासन था जिनकी कला का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण योगदान है।

इन राजवंशों के शासन-काल में देश में वास्तु तथा स्थापत्य कला का व्यापक तथा बहुमुखी विकास एवं विस्तार हुआ। वास्तु पर अनेक ग्रंथों की रचना इस काल में हुई, जिन पर धार्मिक एवं धर्म निरपेक्ष कला के विभिन्न रूप आधारित थे।

3.4.4. मंदिर स्थापत्य का शैली वर्गीकरण

राजपूत-युग की स्थापत्य कला की अभिव्यक्ति विशाल भव्य मंदिरों के निर्माण में हुई। इस युग की शिल्पकला के प्रमुख स्मारक मंदिर हैं, जिनके निर्माण से राजपूत नरेश खुले हाथ से दान देते थे। यद्यपि विदेशी आक्रमणकारी विध्वंसकों द्वारा अनेकानेक मंदिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये, परंतु आज भी कला के अनुपम स्मारक के रुप में अनेक मंदिर बच गये हैं। पूर्व मध्यकाल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निर्मित मंदिरों में थोड़ी-थोड़ी भिन्नता आ गयी थी और इसी कारण वहाँ की क्षेत्रीय शैली की कुछ विशेषतायें निर्मित हो गईं पूर्व मध्यकाल में मंदिर स्थापत्य की विभिन्न शैलियाँ प्रकाश में आयीं जिनका वर्गीकरण, विभिन्न राजवंशों के अनुसार निम्नलिखित है -

क्र.	शैली	काल	राजवंश
1.	महाकोशल शैली	(6वीं से 8वीं सदी)	पाण्डुवंशी
2.	मगध-वंश शैली	(6वीं से 8वीं सदी)	परवर्ती-गुप्तवंश तथा पाल
3.	प्रारंभिक कलिंग शैली	(6वीं से 10वीं सदी)	शैलोद्भव तथा भौमकर
4.	अंतर्वेदी-शैली	(6वीं से 10वीं सदी)	पुष्यभूतिवंश तथा गुर्जर-प्रतीहार
5.	प्रारंभिक गोपाद्रि शैली	(9वीं - 10वीं सदी)	गुर्जर प्रतीहार
6.	जेजाकभुक्ति-त्रिपुरी शैली	(9वीं से 11वीं सदी)	चंदेल तथा कलचुरी

7.	हिमाँचल-शैली	(8वीं से 10वीं सदी)	राजपुरी, त्रिगर्त, एवं चंपा
8.	महामारू-शैली	(8वीं से 10वीं सदी)	प्रतीहार तथा चाहमान
9.	कर्णाट शैली (उत्तर भारतीय)	(6वीं से 8वीं सदी)	बादामी तथा वेंगी के चालुक्य
10.	सौराष्ट्र शैली	(6वीं से 10वीं सदी)	मैत्रक तथा सैंधव
11.	महागुर्जर शैली	(8वीं से 9वीं सदी)	चापवंश तथा कच्छ के शासक
12.	काश्मीर शैली	(8वीं - 9वीं सदी)	कर्कोट तथा उत्पल वंश
13.	परवर्ती कलिंग शैली	(900-1300 ई.)	सोमवंश तथा गंगवंश
14.	परवर्ती मगध-वंश शैली	(1000-1245 ई.)	पाल तथा सेन वंश
15.	परवर्ती अंतर्वेदीय शैली	(900 से 1250 ई.)	परवर्ती प्रतीहार तथा गहड़वाल वंश।
16.	परवर्ती गोपाद्रि शैली	(950 से 1150)	ग्वालियर के कच्छपघात।
17.	परवर्ती महामारु शैली	(900 से 1000 ई.)	शाकम्भरी तथा नाडोल के चाहमान
18.	परवर्ती महागुर्जर शैली तथा	(950 से 1000 ई.)	परमार, चाप, मकुआणा, गुहिल सोलंकी
19.	मारु-गुर्जर शैली	(11वीं से 12वीं सदी)	सोलंकी तथा गुहिल
20.	कलचुरि शैली	(900 से 1220 ई.)	त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरी
21.	परवर्ती जेजाकभुक्ति शैली	(950 से 1300 ई.)	कालिंजर तथा खजुराहो के चंदेल
22.	कामरूप शैली	(10वीं से 13वीं सदी)	असम के चंद्रवंशी
23.	मालवा शैली	(1000 से 1300 ई.)	धारा तथा भोजपुर के परमार
24.	सिंधु-सौवीर शैली	(10वीं से 11वीं सदी)	उत्तरी सिंध तथा पश्चिमी पंजाब

मंदिर-स्थापत्य की उक्त सूची को देखने से ज्ञात होता है कि पूर्व-मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में मंदिर-निर्माण की प्रवृत्तियों बहुत बढ़ी। वास्तु तथा मूर्तिकला की वृद्धि में न केवल विभिन्न राजवंशों ने योग दिया अपितु अनेक धार्मिक संप्रदायों ने अपने-अपने संप्रदायों के विकास में इन दोनों ललितकलाओं का प्रचुर रूप में उपयोग किया।

पूर्व मध्यकाल में भारतीय मंदिरों का महत्व बहुत बढ़ गया। वे धार्मिक सामाजिक तथा शैक्षिक विकास के केंद्र बने। इस विचार धारा को मंदिरों के माध्यम से व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया कि राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति हेतु देवालय सर्वाधिक उपयुक्त हैं। मंदिरों का महत्व बढ़ जाने से उनके रूपविन्यास में वृद्धि हुई। मंदिरों के आकार-प्रकार में वृद्धि हुई। उनके 'पंचायतन' तथा 'सांधार' रूप विकसित हुए। खजुराहो का लक्ष्मण मंदिर पंचायतन का सुंदर उदाहरण है मंदिरों में विद्यालय, संगीत तथा नाट्यशाला स्थापित हुई। उनके साथ उद्यान तथा छोटी-बड़ी पुष्करणियाँ बनने लगीं।

जो बात इस काल में उत्तर भारत के संबंधमें लागू होती है, वही दक्षिण के संबंधमें भी कही जा सकती है। विवेच्य काल में दक्षिण भारत में जिन मुख्य राजवंशोंका शासन था, वे इस प्रकार हैं -

काँची का पल्लव वंश 6वीं सदी के उत्तरार्ध से 9वीं शती के अंत तक शक्तिशाली रहा। दक्षिणापथ में वातापी के चालुक्य वंश की सत्ता छठीं शती के आरंभ से लेकर 8वीं शती के मध्य तक रही। चालुक्यों की दूसरी शाखा गुजरात की थी, जिसका शासन 10वीं सदी के अंत से 13वीं सदी के अंत तक रहा। मान्यखेट का राष्ट्रकूट वंश (650-982 ई.) चौथी बड़ी शक्ति के रूप में था। दक्षिण भारत की पाँचवीं शक्ति चोलवंश की थी, जिसने 9वीं सदी के मध्य से लेकर 13वीं सदी के मध्य तक दक्षिण भारत की प्रमुख सत्ता के रूप में शासन किया।

मुदरा में पाण्डुवंश का शासन 7वीं सदी के आरंभ से 10वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश तक कायम रहा। इनके अतिरिक्त उत्तरी कोंकण में कदम्ब (985-1300 ई.) द्वार-समुद्र में होयसल वंश (1010-1345 ई.) तथा दक्षिण कोंकण में शिलाहारों (775-1215 ई.) का प्रभुत्व रहा। देवगिरि में यादव, तलकाड तथा कोलार में गंग तथा केरल क्षेत्र में चेर प्रभावशाली थे। तेलंगाना क्षेत्र में काकतीय वंश (1043-1316 ई.) और वनवासी तथा गोवा में कदम्ब वंश का शासन था।

उक्त तथा अंय कई छोटे राजवंशों के समय में ललित कलाओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मंदिर-स्थापत्य की जिन मुख्य शैलियों का विकास इस काल में हुआ उनका विवरण इस प्रकार है -

(क) उत्तरी द्रविड़ देश शैलियाँ (550 से 10वीं सदी के मध्य भाग तक)

1. कर्णाट शैली (550 से 750 ई.) - बादामी के चालुक्य।
2. आरंभिक आंध्र-कर्णाट शैली (7वीं सदी के आरंभ से 10वीं सदी तक) - वेंगी के पूर्वी चालुक्य।
1. कुन्तल शैली (650 से 900 ई.) - मान्यखेट के राष्ट्रकूट।
2. गंगवाड़ी शैली (9वीं-10वीं सदी) तलकाड, कोलार तथा नंदी के गंगवंश।
3. नोलम्बवाड़ी शैली (ई. 9वीं सदी) - हेमावती के नोलम्ब।

(ख) दक्षिणी द्रविड़ देश शैलियाँ - (650 से 950 ई.)

1. पल्लव शैली (650 से 10वीं सदी) - कांची के प्रारंभिक तथा परवर्ती पल्लव वंश।
2. पाण्ड्य शैली (8वीं सदी के मध्य से 10 वीं सदी के आरंभ तक) - मदुरा के प्रारंभिक पाण्ड्य।
3. आरंभिक चोड़मण्डल शैली (8वीं के मध्य से 10वीं सदी के अंत तक) - तंजौर के प्रारंभिक चोड़, मुत्तरैयार तथा इर्रूकुवेल।
4. परवर्ती चोड़मण्डल शैली (अंतिम 10वीं से 13वीं सदी के अंत तक) - तंजौर का चोड़वंश।

(ग) उत्तरी द्रविड़ देश की परवर्ती शैलियाँ (10वीं सदी से 14वीं सदी तक)

1. रेनानाडु शैली (9वीं से 11वीं सदी) - तेलगू क्षेत्र के चोल तथा वैडुम्ब।
2. उत्तरी कर्णाट शैली (973 से 1189 ई.) - कल्याण के पश्चिमी चालुक्य।
3. दक्षिण कर्णाट शैली (1100 से 1291 ई.) - द्वार समुद्र के होयसल।
4. तैलंग शैली (1043 से 1326 ई.) - काकतीय।
5. पश्चिमी कर्णाट शैली (10वीं से 12वीं सदी) - वनवासी तथा गोवा के कदम्ब।
6. केरल शैली (10वीं से 13वीं सदी) - केरल के शासक।

उत्तर तथा दक्षिण भारत के मंदिर स्थापत्य की जिन विभिन्न शैलियों की तालिका ऊपर दी गयी है उनका विकास मुख्य रूप से अपने-अपने क्षेत्र में होता रहा। वास्तु की इन शैलियों में कतिपय स्थानीय विशेषताओं का जुड़ना स्वाभाविक था, किंतु इन विशेषताओं के होते हुए मंदिर स्थापत्य के मूल तत्व मध्यकालीन भारत में प्रायः समान मिलते हैं। यह वह युग था जब कि पौराणिक धर्म का व्यापक उन्मेष

हुआ। विष्णु, सूर्य, शिव, शक्ति तथा गणेश की पंचदेवोपासना इस काल में अत्यधिक विकसित हो चुकी थी। इन मुख्य देवों के अतिरिक्त अंय अनेक पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा का विकास इस काल में हुआ। ये पौराणिक धर्म प्राचीन वैदिक धर्म की विभिन्न शाखाओं के रूप में थे। पूर्व मध्यकालीन कला में तांत्रिक प्रभाव का उन्मेष मिलता है, जो इस युग की एक विशेषता है। जैन धर्म का इस काल में प्रायः समस्त भारत में प्रसार हुआ। दिगंबर तथा श्वेतांबर संप्रदाय के जो मंदिर मध्यकाल में निर्मित हुए उनकी संख्या बहुत बड़ी है। ये मंदिर विशेषतः गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश और कर्नाटक में बने, गुप्तकाल के कला-केंद्रों की अपेक्षा अब अधिक स्थानों पर कला के उक्त दोनों अंगों का विकास हुआ।

मंदिर-स्थापत्य की उक्त शैलियों में से केवल मुख्य शैलियों का ही संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। इन प्रमुख शैलियों के अनेक तत्व अंय शैलियों के मंदिरों में भी मिलते हैं। प्रायः उत्तर भारत की नागर शैली तथा दक्षिण की द्राविड़ शैली के मंदिरों का आधिक्य मिलता है। इन दोनों शैलियों की मिश्रित 'बेसर' शैली के भी उदाहरण अनेक मंदिरों में उपलब्ध हैं, विशेषतः कर्नाटक में।

पूर्व मध्यकाल में मंदिर-स्थापत्य के कतिपय लक्षणों का विकास हुआ, जो उत्तर तथा दक्षिण भारत में, थोड़े-बहुत विभेदों के साथ द्रष्टव्य हैं। मंदिर की उपमा भारतीय वास्तु-शास्त्र में मानव-शरीर से दी गयी। मध्यकाल में पंचायतन तथा सांधार प्रासादों का निर्माण बड़े रूप मेंसंपन्न हुआ। भूमितल से लेकर ऊपर के शिखर तक मंदिर के जिन मुख्य अंगों के वर्णन शास्त्रों में मिलते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं -

(1) अधिष्ठान या चैकी - इस पर सज्जापट्टी अलंकरण रूप में रहती थी। उसे 'वसंत पट्टिका' कहा जाता था।

(2) वेदिबंध - यह अधिष्ठान के ठीक ऊपर का गोल या चैकोर अंग है। यह प्राचीन यज्ञ-वेदियों से उद्भूत हुआ।

(3) अंतर पत्र - वेदिबंध के ऊपर की कल्पवल्ली या पत्रावली-पट्टिका।

(4) जंघा - मंदिर का मध्यवर्ती धारण-स्थल।

(5) वरंडिका - मंदिर का ऊपरी बरामदा।

(6) शुकनासिका - मंदिर के ऊपर का वहिर्निसृत भाग। उसका आकार तोते की नाक की तरह होने के कारण उसका यह नाम पड़ा।

(7) कंठ या ग्रीवा - शिखर के ठीक नीचे का भाग।

(8) शिखर - शीर्ष स्थल। शिखर पर खरबुजिया आमलक होता था। धीरे-धीरे गोल आमलक ने लंबोतरा रूप ग्रहण किया और अंत में उसी का शिखर रूप बना।

मंदिर-वस्तु के ये अष्टांग देशव्यापी बन गये। मंदिर के द्वारमुख या प्रवेश-द्वार को गंगा-यमुना, घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख आदि अलंकरणों से सजाया जाता था। संपूर्ण द्वार को कई शाखाओं में विभक्त करने की परंपरा मध्यकालीन स्थापत्य में रूढ़ हो गयी। तत्कालीन साहित्य में 'पंच' तथा 'सप्तशाखाद्वार' के उल्लेख मिलते हैं। ऐसे द्वार सात उत्तरंग वाले होते थे। उनके नाम नागशाखा, रूपशाखा, व्यालशाखा, मिथुनशाखा आदि मिलते हैं। इन विभिन्न शाखाओं पर कलाकारों ने मुख्य देवप्रतिमा के अतिरिक्त सप्तमातृका, नवग्रह, नर-नारी, यक्ष, गन्धर्व, सुपर्ण, किन्नर, नाग आदि के रोचक आलेखन किये। अलंकरणों के रूप में वृक्षों, लताओं तथा पशु-पक्षियों की सज्जापट्टियाँ विकसित हुईं। पूर्णघट, कीर्तिमुख, शतदल कमल आदि विविध अलंकरण मंदिरद्वारों पर मिलते हैं। मंदिरों के अंय भागों को भी विविध अलंकरणों से मंडित करने की परंपरा चल पड़ी। ये अलंकरण धार्मिक तथा लौकिक दोनों थे। नदी देवता गंगा-यमुना को पावनता के प्रतीक रूप में देवालयों आदि के द्वारों पर अंकित किया जाता था। प्रतीकों की

जो दीर्घ परंपरा भारतीय धर्मों में मिलती हैं उसको कलाकारों ने वास्तु-कला में मूर्तरूप देकर अमर बनाया। ऐहिक और पारलौकिक कितनी ही मनोरम कल्पनाएँ मंदिरों में साकार हुई।

4.5 पूर्व मध्यकालीन मूर्तिकला

राजपूत युग में मूर्तिकला का भी विकास हुआ। उत्तर-प्रदेश, पूर्वी भारत, राजस्थान, मालवा, मध्य-प्रदेश, गुजरात एवं दक्षिण भारत में विभिन्न प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ। इनमें कुछ क्षेत्रीय विशेषताएँ थी। यद्यपि इस की अधिकांश प्रतिमाएँ इस्लाम के अनुयायियों ने विध्वंस कर दीं, फिर भी जो अभी शेष हैं, वे कला की उत्कृष्टता प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

इस युग में पूर्वी भारत में पाल नरेशों में पाल नरेशों के राज्याश्रय में एक विशिष्ट प्रकार की मूर्तिकला विकसित हुई। पाल नरेशों की छत्रछाया में धीमान और वित्तपाल नामक दो श्रेष्ठ व दक्ष कलाकार समृद्ध हुए। वे अपनी कुशल मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध थे। मध्य प्रदेश में मन्दसौर जिले के क्षेत्र में सींगलाजगढ़ में और खजुराहो में भी विशिष्ट मूर्तिकला शैली विकसित हुई। इस युग की मूर्तिकला की विशेषताएँ अधोलिखित हैं -

(1) स्वतंत्र खड़ी प्रस्तर प्रतिमाएँ

अनेक मंदिरों की बाहरी दीवारों और सभामण्डलों में अलंकरण के लिए खड़ी प्रस्तर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की जाती थीं। कभी-कभी बौद्ध धर्म के चैत्यों और विहारों में बौद्ध मूर्तियों तथा हिंदू धर्म के मंदिरों में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ स्वतंत्र खड़े आकार में प्रतिष्ठित की जाती थीं और वहाँ उनकी पूजा और उपासना होती थी।

(2) धार्मिक मूर्तियाँ और सामान्य जीवन की मूर्तियाँ

इस युग में दो प्रकार की मूर्तियाँ होती थीं, प्रथम धार्मिक प्रतिमाएँ और द्वितीय मानव जीवन से संबंधरखने वाली प्रतिमाएँ। दोनों प्रकार की प्रतिमाओं में स्त्री और पुरुष की मानवाकृति होती थी। बौद्ध व जैन धर्म और हिंदू धर्म तथा उसके विभिन्न संप्रदाय-वैष्णव, शैव, शाक्त आदि का अधिकतम विकास होने के कारण इन धर्मों में बहुदेववाद प्रचलित हो गया और अनेकानेक देवी-देवताओं की कल्पना हो गयी। इन में उपासना, पूजन और अर्चना के लिए इनकी विविध मूर्तियाँ निर्मित की गयीं। इन मूर्तियों का रुप और आकार धार्मिक संप्रदायों द्वारा निर्धारित कर दिया गया था। इसलिए विभिन्न धार्मिक मूर्तियाँ सभी क्षेत्रों में लगभग एक सी उपलब्ध होती हैं। इन मूर्तियों में शिल्प की रचनात्मक प्रतिभा अभिव्यक्त न हो सकी। ऐसी मूर्तियों में विष्णु, लक्ष्मी, शिव, पार्वती, सूर्य, दिक्पाल, यक्ष, गन्धर्व, बुद्ध, जैन तीर्थंकर, गंगा यमुना आदि की प्रतिमाएँ हैं। इस युग की मूर्तियों में ऐलीफेण्टा द्वीप में भव्य और प्रभावोत्पादक शिव की भीमकाय मूर्ति और शिव-पार्वती का दृश्य प्रख्यात हैं। त्रिमूर्ति के मुखमण्डल पर अलौकिक प्रशान्त गंभीरता है। दूसरी मूर्ति में शिव की समाधि की अवस्था है और तीसरी मूर्ति में पार्वती के आत्मसमर्पण का भाव सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया गया है। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ जन-जीवन से संबंधितथीं। इनमें स्त्री और पुरुष दोनों की प्रतिमाएँ हैं। इन मूर्तियों में कलात्मक सौंदर्य और शिल्प की अभिरुचि व प्रवृति, उसकी कला-कुशलता एवं प्रतिभा अभिव्यक्त हुई। इन मूर्तियों में पारस्परिक और दैनिक जीवन के दृश्य, जैसे सोकर उठी हुई रमणी की अँगड़ाई, शिशु को दुलारती, खिलाती व दूध पिलाती स्त्री, सौंदर्य के भार से अँगड़ाई लेती हुई, ढोलक, मृदंग, मंजीरे व बंशी बजाती हुई नृत्य करती हुई, दर्पण में अपना सौंदर्य देखती हुई, वस्त्र परिधान करती हुई, मेंहदी और अंजन लगाती हुई, बाल सँवारती हुई, पैर से काँटा निकालती हुई, फलों को ले जाती हुई तथा विविध क्रीड़ाओं की भंगिमाओं में रत स्त्रियाँ, पूजा करती हुई स्त्री, प्रेम-पत्र

लिखती स्त्री, विभिन्न कामुक भावों और मैथुन मुद्राओं में रत दृश्य, योद्धाओं, पशुओं और शालभंजिका के दृश्य, पत्थर ले जाते हुए श्रमिक के दृश्य, भूख से पीड़ित अस्थि-पंजर वाले मनुष्य का दृश्य, आखेट में मग्न स्त्री-पुरुषों के दृश्य आदि हैं। इन मूर्तियों के सुंदर शरीर, हाव-भाव की मुद्राएँ और चेष्टाएँ, अवयवों के मोड़ और घुमाव, अंगो की लचक, उभार, बाँकापन और कोमलता आदि विलक्षण हैं। मंदिरों की बाहरी व भीतरी दीवारों पर अनेकानेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयीं। मूर्तियों के किनारों को सजाने के लिए पाषाण में सुंदर कलापूर्ण पुष्पावली भी उत्कीर्ण की गयी।

(3) घटनाओं के विशाल दृश्यों का सफल अंकन

गुप्त-युग में घटनाएँ संकुचित रुप में छोटे-छोटे पाषाण-फलकों पर उत्कीर्ण की गयी थीं, परंतु इस युग में दृश्यों के अंकन के हेतु लगभग 30 या 31 मीटर ऊँची विशाल चट्टानें तक चुनी गयीं। इनमें कथानकों के दृश्य, ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक दृश्य, पौराणिक दृश्य आदि उत्कीर्ण किये गये। दुर्गा-महिषासुर युद्ध, रावण द्वारा शिव का कैलाश उठाने का विशाल दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह दृश्य, नरसिंह अवतार का कथानक, गंगावतरण का दृश्य आदि पाषाण में अत्यंत कलाकुशलता और सजीवता से उत्कीर्ण किये गये।

(4) श्रृंगार की प्रधानता

इस युग की मूर्तिकला में श्रंगार की प्रधानता है। कोणार्क तथा जगन्नाथपुरी के मंदिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण प्रतिमाओं का संबंध राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा से है। इन्हीं मूर्तियों में नायिका भेद और नामकन्या की बड़ी सुभग मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। इनके भोले मुखमण्डल पर से आँख हटाये नहीं हटती। पत्र लिखती हुई स्त्री की एक मूर्ति अत्यंत भावभंगिमामय एवं आकर्षक है। अंय स्थानों के मंदिरों में दीवारों पर दर्पण से अपना मुख और लावण्य निहारती हुई युवती की, नेत्रों में अंजन लगाती हुई रमणी की, अपने वस्त्र पहनती हुई स्त्री की तथा सुंदर बाल सँवारती हुई महिला की मूर्तियाँ अत्यंत ही सुकोमल, हाव-भाव पूर्ण एवं लालित्यमय हैं। उनमें उभार और लचक की बाहुल्यता है। अनेक मूर्तियों में माता की ममता को अनूठे ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। माता अपने स्नेह से ओतप्रोत हृदय को निकाल कर रख रही है। भुवनेश्वर, पुरी और खजुराहो के मंदिरों की दीवारों पर अनेक मुद्राओं में मिथुन मूर्तियाँ भी अंकित की गयी हैं। इसलिए ये अश्लील मूर्तियाँ कही जाती हैं। संभव है यह शाक्त और वज्रयान तंत्रवाद का प्रभाव हो।

(5) सजीवता, नवीनता और मौलिकता का अभाव

इस युग की मूर्तियों में सजीवता, नवीनता और मौलिकता नहीं है। मूर्तियों के लक्षणों और लांछनों को नियमबद्ध कर दिया गया था। विभिन्न संप्रदायों और मतों के देवी-देवताओं की मूर्तियों के रुप, आकार आदि प्राचीन अनुभवों के आधार पर नियमबद्ध कर दिये गये थे। मूर्ति-विज्ञान का नया विषय ही निरुपित किया गया था। इसमें विभिन्न मूर्तियों के निर्माण के लिए उनके स्वरूप, भेद, मुखमण्डल, भुजाएँ, आयुध, वाहन आदि निर्दिष्ट कर दिये गये थे। निर्माण और उत्प्रेरण के लिए नियम, माप, नाप आदि निर्धारित कर दिये गये थे। नियमों का नियंत्रण होने से मूर्तिकार को अपनी अभिरुचि, शिल्प कला-कौशल और रचनात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं था। इसलिए इस युग की मूर्तियों में अनुमति की गहनता, शिल्पी की व्यक्तिगत रचनात्मक प्रतिभा, लचीलापन, स्वच्छंदता, सजीवता, नवीनता और मौलिकता नहीं है, किंतु फिर भी मूर्तिकार का कला-चातुर्य, मुख-मण्डल की सुंदर आकृति और शरीर के सौष्ठव को उत्कीर्ण करने में चमक उठा है।

3.4.6. पूर्व मध्यकालीन चित्रकला

6वीं और 7वीं शताब्दी में अजंता की चित्रकला अपनी चरम परिणति पर पहुँची हुई थी, किंतु इसके पश्चात् यह कला अचानक समाप्त हो गयी तथा इसका जीवित रहने का भी आगे कोई लक्षण नहीं मिलता।

सामान्य रूप से कोई कला कभी समाप्त नहीं होती। यह बात अजंता की कला के साथ सिद्ध होता है। इसका कारण यह हुआ कि बौद्ध भिक्षुओं में विलासिता आ जाने के कारण जनता को इस धर्म में अश्रद्धा हो गई तथा ब्राह्मण धर्म फिर से पनपने लगा। जब बौद्ध चित्रकारों के प्रश्रयदाता समाप्त हो गये तो ये लोग लंका, चीन, जापान, अफगानिस्तान, तिब्बत तथा मध्य एशिया में चले गये क्योंकि वहाँ बौद्ध धर्म के अनुयायियों की कमी नहीं थी। वहाँ जाकर इन कलाकारों ने वहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल चित्र रचनायें कीं। अजंता के कुछ कलाकार बौद्ध नहीं थे उन्होंने ब्राह्मण धर्म से प्रेरित होकर कला का भव्य सृजन किया जो एलोरा गुफाओं में देखने को मिलता है।

इसी समय मूर्ति, शिल्प तथा वास्तु कला की बहुत उन्नति हुई और बहुत से भव्य मंदिर तथा मूर्तियाँ आदि बने जो कि ब्राह्मण धर्म से संबंधित थे। यवन आक्रमणकारियों ने इनमें से अधिकांश को नष्ट कर डाला। इस बात का इतिहास साक्षी है। उन्होंने भित्ति-चित्र या चित्रपट जहाँ भी देखे नष्ट कर डाले। उससे बहुत-सी अमूल्य कला सामग्री नष्ट हो गई, कुछ अवशेष ही मिलते हैं।

सर्व विदित है कि पूर्व मध्य काल के प्रारंभ में ही एलोरा, एलीफेंटा, बाघ तथा बादामी गुफाओं का निर्माण हो चुका था। इस समय में कुछ चित्रकारी संबंधीमहत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई जिनमें ''विष्णु धर्मोत्तर पुराण'' मुख्य है। इस ग्रंथ के चित्र सूत्र में शारीरिक लक्षण, रंग अंकन विधान तथा तात्विक सिद्धांतों का कई अध्यायों में बड़ा विशद विवेचन हुआ है। इसी में लिखा है कि -

कलानां प्रवरं चित्रं धर्म कामार्थ मोक्षदम्।
मांगल्यं प्रथमंह्येतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।

जिसका अर्थ है कि सब कलाओं में चित्रकला उत्तम है तथा चित्रकला की साधना से धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा घरों में चित्र रचना मंगलकारी है।

भवभूति कृत 'उत्तम राम चरित' की रचना भी इसी समय हुई थी। इसमें भी चित्रकला प्रसंग बहुत सुंदर है। बाण भट्ट का 'हर्ष चरित', 'कादम्बरी' तथा दण्डी का 'दश कुमार चरित' भी इसी समय रचे गये जिनमें चित्रकला की महत्त्व वर्णित है।

चोल कला

दक्षिण में चोल साम्राज्य का उदय नवीं शताब्दी के अंत में हुआ। कला विशेषतया वास्तुकला, तक्षण कला एवं चित्रकला के क्षेत्र में चोल सम्राटों की 10वीं और 11वीं सदी में अनुपम देन है। तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर चोल सम्राट राज राज प्रथम ने 1000 ई. में बनवाया। विद्वानों ने वास्तु और लक्षण कला की दृष्टि से तंजौर के बृहदीश्वर मंदिर का विस्तृत विवरण दिया है, किंतु मंदिर में निहित कला का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चित्रकला के कुछ विशिष्ट उदाहरण भी प्राप्त हैं, जो अजंता व बाघ के पश्चात् दक्षिण में भारतीय संस्कृति में कला की एकरूपता को बनाये रखने के उद्देश्य से संभवत: चोल सम्राटों के प्रयत्न कहे जा सकते हैं। बृहदीश्वर का प्रांगण 500 ग 250 फीट है और इसके पहले 250 फीट का एक प्रांगण बाहर की ओर भी है। दोनों प्रांगणों में जाने के लिये दो गोपुरम(द्वार) बने हैं। इसका आकर्षण केंद्र 190 फीट ऊँचा विमान है। एक ओर मंदिर विजयालय चोलेश्वर का है। इनमें चित्रकला के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

बृहदीश्वर मंदिर में एक चित्र बड़ा आकर्षक है, जिसमें भगवान शंकर बैठे हुए दो अप्सराओं का नृत्य देख रहे हैं। विष्णु भगवान भी चित्र में हैं तथा अंय गन्धर्व गण संगीत के विभिन्न वाद्यों को बजा रहे हैं। नृत्य करती हुई आकृतियों की मुद्रा लयपूर्ण तथा गतिमान है। एक घुड़सवार का भी सुंदर चित्र इसमें है। एक नटराज की विशाल आकृति का भी चित्रण है। राज-राज भी अपनी पत्नियों तथा अंय सेवकों सहित चित्रित है। इस मंदिर के अधिकांश चित्र 17वीं शताब्दी में नायकों के राज्य में नष्ट कर दिये गये।

डॉ. शिवराममूर्ति के अनुसार चोल कला का सर्वोत्कृष्ट चित्र भगवान शंकर का असुरों को पराजित करने जाना है। असुरों के साथ उनकी भयभीत स्त्रियों के चेहरों पर करुणा और भय का भाव बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है। भगवान शंकर के आठ हाथ बनाये हैं, जिनमें शस्त्रास्त्र हैं। उनके रथ सारथी के रूप में ब्रह्मा बैठे हैं। साथ ही गणेश चूहे पर, कार्तिकेय मोर पर और काली शेर पर आरूढ़ हैं। इसमें कई भाव एक साथ व्यक्त किये गये हैं, इसी से वह सर्वश्रेष्ठ चित्र माना गया है। सारे चित्र शैव मत के हैं।

पाल शैली

तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने लिखा है कि 9वीं शताब्दी में पूर्वी भारत में एक नयी शैली ने जन्म लिया जिसका केंद्र बंगाल था। धर्मपाल तथा देवपाल नामक राजाओं के संरक्षण में चित्र बने तथा उस शैली का प्रमुख चित्रकार धीमान तथा उसका पुत्र वितपाल था। पश्चिम भारत की शैली का प्रभाव कम होने लगा और इस नव-निर्मित पाल शैली ने उसका स्थान ले लिया। नवीं शताब्दी में जो नई शैली सामने आई उसका संबंध पाल राजाओं से था। इसी कारण इस शैली का नाम पाल शैली पड़ा।

इस शैली में दृष्टान्त चित्र ही अधिकतर निर्मित हुये। इनका आधार महायान बौद्ध ग्रंथ प्रज्ञापारमिता आदि हैं। ये सब ताड़पत्र पर बने हैं। ये चित्र जातक कथाओं पर आधारित हैं। ये चित्र अधिकतर बंगाल, बिहार और नेपाल में बने। ये चित्र ताड़ पत्रों पर बनाये गये हैं। इन चित्रों की चौडाई तो 2.5‘‘ से 3‘‘ तक है, किंतु लंबाई 21‘‘ है और कहीं-कहीं 36‘‘ तक है। इन ताड़ पत्रों के बीच में चित्र बने हैं तथा दोनों ओर 5 और 6 रेखाओं में लिपि है। इन चित्रित पाण्डुलिपियों में किसी चित्रकार का नाम नहीं मिलता है। ताड़ पत्रों पर दोनों छोरों पर छेद करके उसी आकार की काष्ट दफ्तियाँ लेकर, धागे पिरोकर इन चित्रित ताड़ पत्रों को बाँधकर पुस्तक रूप दिया जाता था। काष्ठ दफ्तियों पर भी बाहर और अन्दर चित्र बनाये गये हैं। ऊपर के चित्र तो लगभग सभी मिट गये हैं जिसका कारण यह है कि धार्मिक ग्रंथ होने के कारण पूजा-अर्चना के लिये उन पर चन्दन तथा रोली लगाई गई थी जिससे ये चित्र ढँक गये हैं या खराब हो गये हैं।

कुछ चित्रित पाण्डुलिपियाँ नालंदा, महाविहार और विक्रम शिला देवविहार में रची गयीं। भगवान बुद्ध का ही जीवन चित्रण आदि इन पाण्डुलिपियों में मिलता है। कलाकार बड़ी श्रद्धा से इन चित्रों को बनाते थे तथा आर्थिक सहायता देने वाले श्रद्धालु अपने कल्याण की भावना से इन पाण्डुलिपियों को बनवाते थे।

पहले ताड़ पत्रों को लिपि बद्ध किया जाता था तथा चित्रों के लिए उनमें कुछ स्थान छोड़ दिया जाता था। बाद में चित्रकारों के पास ये पाण्डुलिपियाँ भेजी जाती थीं, जो कि इनमें बड़ी कुशलता से चित्र बनाते थे, किंतु कहीं भी चित्रकारों ने अपना नाम नहीं लिखा है, यह इस शैली की विशेषता है जो अजंता से मिलती है, क्योंकि वहाँ के महान चित्रकारों ने भी अपने नाम नहीं लिखे हैं।

दक्षिण शैली

दक्षिण शैली का समय 10वीं से 15वीं शताब्दी तक माना जाता है, यद्यपि 17वीं शताब्दी तक इस शैली के चित्र बने। उत्तर भारत में इसी समय में चित्रकला का पतन प्रारंभ होता है, किंतु दक्षिण में कला पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह शैली अपना अस्तित्व बनाये रही। यह भी हो सकता है कि उत्तर भारत के कलाकार इस युग में दक्षिण पहुँचे हों और उन्होंने वहाँ कला की रचना की हो। परंतु दक्षिण शैली का विकास स्वतंत्र रूप से ही हुआ। इस शैली में अजंता की 9वीं व 10वीं गुफा से लेकर राजपूत एवं मुगल कला तक में दक्षिण शैली का प्रभाव मालूम होता है।

दक्षिण शैली की तीन प्रमुख पद्धतियाँ देखने को मिलती हैं जिनको (1) द्रविड़ (2) बेसर व (3) नागर कहा जाता है। पहली पद्धति दक्षिण में जन्मी तथा वहीं विकास हुआ। नागर पद्धति जिसे 'आर्यावर्त्त शैली' भी कहा जाता है, उत्तर से निर्मित होकर दक्षिण में पहुँची। द्रविड़ पद्धति में मुख्यतया मूर्ति निर्माण ही अधिक हुआ। बेसर पद्धति के विषय में कुछ अधिक सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। कुछ हस्तलिखित ग्रंथों में यह ज्ञात होता है कि वहाँ लेखन और चित्रण दोनों को महत्व दिया जाता था।

दक्षिण शैली में निर्मित बृहदीश्वर मंदिर तंजौर के भिŸिा चित्र तथा जिनकांची तिरुपतिकुरम् के वर्धमान मंदिर के चित्रों में अजंता शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

दक्षिण शैली की बाह्य सज्जा तो स्थायी प्रभाव की है परंतु उसकी भावाभिव्यंजना भारतीय है। 16वीं सदी की दो हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें एक तो अहमदनगर में बनी तथा दूसरी अली आदिलशाह के काल में बनी जिसका नाम ''नुजूम अल उलूस'' है। इन दोनों पुस्तकों में भारतीय तथा ईरानी छाप है। आदिलशाह कला का प्रेमी था इसलिये उसने फारस तथा ईरान से कलाकार बुलाये थे।

गुफाओं के निर्माण में दक्षिण का विशेष योगदान मिलता है। बाघ, सित्तनवासल, तंजौर के मंदिर, पल्लव कालीन तिरुचिरापल्ली की गुफायें, विशाखापट्टनम की गुफायें, पूना-बम्बई के मध्य भाजा, कार्ले व नासिक की बौद्ध कालीन गुफायें आदि सभी में दक्षिण शैली का प्रभाव मिलता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण शैली को दो भागों में विभक्त किया जाता है -

(1) विजय नगर के नरेशों तथा बहमनी के सुल्तानों के समय की कला
(इस समय को दक्षिण शैली का उद्भव युग भी कहते हैं)।

(2) बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुंडा के राज्यों की कला (15वीं से 17वीं सदी तक कला की उन्नति हुई)।

दक्षिण शैली के चित्र स्फुट तथा दृष्टान्त दोनों प्रकार के हैं। 'रागमाला' चित्रावली का भी निर्माण यहीं हुआ था जो बड़ौदा में सुरक्षित है। इसी प्रकार के चित्र विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। जिनमें हैदराबाद संग्रहालय, गोलकुंडा, सालारजंग (हैदराबाद) आदि विशेष हैं।

4.7 सारांश

कला विशेषज्ञों ने पूर्व मध्यकालीन की कला को दो भागों में विभक्त किया है - पूर्व राजपूत युग (600 ई. से 900 ई. तक) और उत्तर राजपूत युग (900 ई. से 1200 ई. तक)। पूर्व राजपूत काल में कला के विकास की नियमित प्रगति हुई। इस युग में मामल्लपुरम के रथ और प्रतिमाएँ, एलौरा का कैलाश मंदिर और मूर्तियाँ तथा बम्बई के समीप ऐलीफेण्टा द्वीप में भव्य मूर्तियाँ निर्मित हुईं। उत्तर पूर्व मध्यकाल में वास्तुकला और मूर्तिकला की क्षत्रिय शैली का विकास किया गया। फलतः कला के पाँच विशिष्ट केंद्र बन गये - खजुराहो, उड़ीसा, राजस्थान, दक्षिण का चोल साम्राज्य और होयसल राज्य। पूर्व मध्यकाल में कला समुन्नत रही, किंतु उत्तर पूर्व मध्यकाल में मंदिर निर्माण की कला अत्यधिक विकसित हुई और

कला को अलंकृत करने पर अधिक महत्व दिया गया। इससे कला में अलंकारिकता की बाहुल्यता रही। कला में प्राचीनकाल की मौलिकता व सुंदरता जाती रही। शिल्पीगण प्राचीन परंपराओं का अनुकरण करते हुए अपनी कलाकृतियों को अत्यधिक भड़कीली बनाने में सतत् संलग्न रहे। शिल्पियों ने महानता को अभिव्यक्त करने के लिए मात्रा का सहारा लिया। इसीलिए कहा गया है कि पूर्व मध्यकाल कला के सौंदर्य का नहीं अपितु चमत्कार का युग है। इस युग की कलाकृतियों में कला नहीं अपितु कला का आभास है। कुछ क्षेत्रों में इस युग की कला पर तंत्रवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जिससे शिल्पियों की रुचि का पतित स्तर दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इस काल में अश्लील मूर्तियों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार पूर्व मध्यकालीन चित्रकला भी प्रगति और विकास की अपेक्षा निम्नाभिमुख हो गयी।

3.4.8 बोध प्रश्न

3.4.8.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पूर्व मध्यकाल में भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिये।
2. मंदिर स्थापत्य की उत्तरी द्रविड़ देश शैलियों के प्रकार बताइये।
3. मंदिर वास्तु की दक्षिणी द्रविड़ देश शैलियों के नाम लिखिये।
4. मंदिर स्थापत्य की उत्तरी द्रविड़ देश की परवर्ती शैलियों पर प्रकाश डालिये।
5. पूर्व मध्यकालीन चोल चित्र कला पर लघु नोट लिखिये।
6. पाल शैली की चित्र कला पर प्रकाश डालिये।
7. दक्षिण शैली की चित्र कला पर टिप्पणी लिखिये।

3.4.8.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. पूर्व मध्यकालीन मंदिर स्थापत्य की शैलियों के वर्गीकरण को विस्तार से समझाइये।
2. पूर्व मध्यकाल में मंदिर स्थापत्य के लक्षणों का वर्णन कीजिये।
3. पूर्व मध्यकालीन मूर्ति कला की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
4. पूर्व मध्यकालीन चित्र कला की विस्तृत विवेचना कीजिये।
5. चोल, पाल और दक्षिण चित्र कला शैलियों का तुलनात्मक विवरण दीजिये।
6. मंदिर वास्तु की दक्षिणी द्रविड़ देश शैली, उत्तरी द्रविड़ देश शैली एवं उत्तरी द्रविड़ देश की परवर्ती शैली के नामों एवं कालों का उल्लेख कीजिये।
7. पूर्व मध्यकालीन मंदिर स्थापत्य की विस्तृत विवेचना कीजिये।
8. पूर्व मध्यकालीन मूर्ति कला का वर्णन कीजिये।

4.9 संदर्भग्रंथ

1. रमशेचंद्र मजूमदार: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
2. जयचंद्र विद्यालंकार: भारतीय इतिहास की रूपरेखा, हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, 1942
3. चंद्रभान पांडेय: आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1963
4. विमल चंद्र पांडेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद
5. श्रीनेत्र पांडेय: प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद
6. राजबली पांडेय: प्राचीन भारत, नंदकिशोर एण्ड संस, वाराणसी, 1962

7. रमाशंकर त्रिपाठी: प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962
8. राधाकुमुद मुकर्जी: प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1962
9. ए.एल. बाशम: अद्भुत भारत: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी, आगरा, 1967
10. नगेन्द्रनाथ घोष: भारत का प्राचीन इतिहास: इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, 1951
11. एल.डी. बारनेट: एण्टीक्विटीज ऑफ इंडिया, लंदन 1913
12. रैप्सन, ई.जे.: कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1
13. रैप्सन, ई.जे.: एन्शियंट इंडिया, कैंब्रिज 1922
14. एच.सी. राय चैधरी: पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, 1938
15. के.ए. नीलकंठ शास्त्री: हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-1, एंशियंट इंडिया, मद्रास, 1950
16. वी.ए. स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संशोधित संस्करण, 1924
17. मजूमदार तथा पुसलकर: दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1953
18. मजूमदार तथा पुसलकर: दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1953
19. मजूमदार तथा पुसलकर: दी क्लासिकल एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1953
20. के. ए. नीलकंठ शास्त्री: ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खंड-2, बम्बई, 1957
21. सुधाकर चट्टोपाध्याय: अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया, एकेडेमिक पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1938
22. कृष्ण देव: उत्तर भारत के मंदिर, दिल्ली, 1980
23. कृष्ण देव: दक्षिण भारत के मंदिर, दिल्ली, 1980
24. के. सी. श्रीवास्तव: प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद, 1991
25. आर. के. शर्मा: मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के पुरातत्व का संदर्भ ग्रंथ, भोपाल, 1980

खंड - 4 संस्कृति का विकास

इकाई - 1 प्राचीन भारत में शिक्षा

इकाई की रूपरेखा

4.1.1 उद्देश्य
4.1.2 प्रस्तावना
4.1.3 प्राचीन भारतीय शिक्षा
4.1.3.1 अर्थ
4.1.3.2 महत्व
4.1.4 शिक्षा के उद्देश्य
4.1.4.1 धार्मिक भावना
4.1.4.2 चरित्र निर्माण
4.1.4.3 कल्याणकारी प्रवृत्ति
4.1.4.4 संस्कृति का प्रसार
4.1.5 शिक्षा के विषय
4.1.6 शिक्षा पद्धति
4.1.7 नारी शिक्षा
4.1.8 शिक्षा के गुरूकुल
4.1.8.1 विद्यार्थी का जीवन
4.1.8.2 विद्यार्थियों के कार्य
4.1.8.3 भिक्षावृत्ति का अभ्यास
4.1.8.4 गुरू - शिष्य संबंध
4.1.8.5 बौद्ध शिक्षा केंद्र
4.1.9 उच्च शिक्षा केंद्र
4.1.9.1 तक्षशिला विश्वविद्यालय
4.1.9.2 नालंदा विश्वविद्यालय
4.1.10 सारांश
4.1.11 बोध प्रश्न
4.1.11.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
4.1.11.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
4.1.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1.1 उद्देश्य

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अंग्रेजी गवर्नर जनरलों ने विभिन्न कारणों से समय-समय पर शिक्षा के उत्थान के लिए प्रयत्न प्रारंभ किए जिससे अंग्रेजी शिक्षा का क्रमिक एवं व्यवस्थित विकास संभव हो सका। किंतु इसके पूर्व मुगलकालीन एवं मराठा कालीन भारत में न कोई शिक्षा की क्रमिक एवं उचित व्यवस्था ही थी न तत्कालीन शासकों ने इसकी प्रगति के लिए कोई क्रियात्मक कदम ही उठाया। फिर भी मस्जिद और मंदिरों में मुल्ला, काजी और पंडित धार्मिक भावना से

प्रेरित होकर शिक्षा का संचालन करते थे। अतः जिज्ञासु भारतीयों के मन में तत्काल इस भावना का जागरण हुआ कि प्राचीन भारत में इसका स्वरूप क्या रहा होगा ? इसलिए प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का अध्ययन अत्यंत आवश्यक स्वीकार किया गया। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था या शिक्षा प्रणाली की विस्तृत विवेचना करना है।

4.1.2 प्रस्तावना

प्राचीन भारत में शिक्षा के अध्ययन के लिए साधनों का अभाव है। कालांतर में रचित सूत्र ग्रंथों तथा स्मृति ग्रंथों द्वारा इस विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। इनमें कतिपय स्थलों पर उच्च शिक्षा के संबंध में विवरणात्मक विवेचन किया गया है। किंतु इनसे शिक्षा का उद्देश्य, अवधारणा तथा सिद्धांतों का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त नाटय एवं कथा साहित्य में भी इसकी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। गुप्तकालीन तथा गुप्तोत्तर काल के अभिलेखों से अवश्य इस संबंध में जानकारी प्राप्त होती है। विदेशी यात्रियों के विवरण भी इस अध्ययन में सहायता प्रदान करते हैं। बौद्ध साहित्य भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। प्रस्तुत इकाई में प्राचीन भारत में शिक्षा के अंतर्गत शिक्षा का महत्व, उद्देश्य, गुरू और शिष्य की योग्यता, शिक्षा के विषय, एवं शिक्षा विधि इत्यादि की विस्तार से विवेचना की जाना प्रस्तावित है। साथ ही इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जाना प्रस्तावित है।

4.1.3 प्राचीन भारतीय शिक्षा

4.1.3.1 शिक्षा का अर्थ

डॉ. अनंत सदाशिव अल्तेकर ने प्राचीन काल में शिक्षा के दो अर्थ बताये हैं। (1) व्यापक एवं (2) संकुचित। व्यापक अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा में आत्म-संशोधन एवं आत्मविकास की प्रवृत्तियों से है तथा संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षण अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा उक्त दोनों ही कार्य करती थी। इसी से दो प्रकार के विद्यार्थियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है - नैष्ठिक और उपकुर्वाण। अर्थात् एक का लक्ष्य था - कि वह जीवन भर विद्यार्थी रहता था। दूसरा विद्या की अवधि समाप्त होने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाता था तथा अपनी जीविका के उपार्जन में लगता था। किंतु उसकी भी शिक्षा समाप्त नहीं होती थी। इसकी पक्रिया इसके बाद भी चलती रहती थी। किंतु स्पष्ट है कि शिक्षा द्वारा चरित्र का विकास, विवेक की उन्नति, स्वच्छता की भावना, समाजीकरण की प्रवृत्ति और आध्यामिक उपलब्धि को प्राप्त किया जा सकता था। यही शिक्षा का व्यापक रूप है।

4.1.3.2 शिक्षा का महत्व

प्राचीन काल में ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से शिक्षा का बहुत महत्व था। ज्ञान ही सर्वोत्तम है। मनुष्य को कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध ज्ञान से होता है और ज्ञान शिक्षा द्वारा प्राप्त होता है। गुरु की शरण में बिना गये ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अंततः मनुष्य ऐहलौकिक और पारलौकिक निःश्रेयस को प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करता है। यही उसके जीवन का ध्येय भी होता है और यह गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य लौकिक उपयोगिता के तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है। कर्तव्य और अकर्तव्य को समझकर वह सभी कालों और लोकों को जान लेता है। यह ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान से अधिक पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान को प्राप्त करने वाले मनुष्य देवता कहे गए हैं। विद्वान् मनुष्य ही संसार में आदर पाता है। विद्या प्राप्त करने वाला स्नातक इस पृथ्वी पर अतिशय शोभित होता है। तीन ऋणों से मुक्ति ज्ञान का अर्जन करके ही होती है। विद्या को प्राप्त करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में स्थान पाता है।

प्राचीन कालीन भारत में ब्रह्मचर्य का पालन और अध्ययन, धर्म के अंग माने जाते थे। यज्ञ, अध्ययन तथा दान, ये तीन धर्म के आधार थे। वेदों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था। वेदों का अध्ययन न करके अंयत्र श्रम करने वाले को शूद्र समझा जाता था। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में शिक्षा का बहुत महत्व था।

4.1.4 शिक्षा के उद्देश्य

4.1.4.1 धार्मिक भावना का जागरण

प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालकों में धार्मिक भावना का जागरण करना था। सर्वविदित है कि बालक का मस्तिष्क लचीला होता है। अतः जो विचार उसके मन में बाल्यकाल में बैठा दिया जाता है वह उसके मस्तिष्क में चिरस्थायी बन जाता है। भारत में समस्त गुणों के सार का संकलन कर धर्म में समाहित कर दिया गया है। इसीलिए धार्मिक भावना को ही भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना गया है। इसके लिए व्रत, प्रार्थना, त्योहार आदि पर बल दिया गया जिसके द्वारा बालक का आध्यात्मिक विकास संभव था। यह बालक के चरित्र और आचार-व्यवहार को भी संतुलित करता था। साथ ही विद्यार्थियों को गृहस्थ जीवन के भी समस्त कर्तव्य से परिचित कराया जाता था। अतः धर्म एवं दया की भावना द्वारा बालक को समाज के लिए एक उपयुक्त व्यक्ति बनाने का उपक्रम किया जाता था।

4.1.4.2 चरित्र निर्माण

प्राचीन भारत में शिक्षा का दूसरा उद्देश्य चरित्र निर्माण था। डॉ. ए. एस. अल्तेकर ने इस प्रवृत्तियाँ की तुलना लोक के विचार से की है जो इस मत का पोषक है कि बौद्धिक विकास से बढ़कर केवल चारित्रिक विकास होता है। संभवतः इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि वही शिक्षित है जो धार्मिक है। भारतीय विचारकों की दृष्टि में ज्ञान की अपेक्षा चरित्र की अधिक महत्त्व थी। इसीलिए मनु ने कहा है कि एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति उस वेदविद से अधिक प्रशंसनीय है जो जीवन, विचार और क्रियाओं में अपवित्र हो। उसके विकास के लिए ही गुरु के साथ बालक को समाज से दूर रखा जाता था।

41.4.3 समाज कल्याणकारी प्रवृत्ति

प्राचीन काल में समाज-कल्याणकारी प्रवृत्ति पर बल देना शिक्षा का तीसरा प्रमुख उद्देश्य था। बालक एक सामाजिक प्राणी है। चूँकि उसे समाज में ही रहना पड़ता था इसलिए उसमें जन-कल्याण की प्रवृत्ति जागृत करने पर बल दिया जाता था। उसे पुत्र प्रजनन करना होता था और समाज के लोगों के साथ रहना पड़ता था। इसके लिए उसे व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। प्राचीनकाल में शिक्षा में भिक्षाटन की व्यवस्था चलाई गई थी जिससे विद्यार्थी के मन में यह अनुभूति हो कि समाज का बहुत बड़ा ऋण उसके ऊपर अध्ययन काल से ही पड़ा है। जब वह किसी योग्य नहीं था तो समाज ने ही उसके लिए भोजन वस्त्र आदि जुटाया था। इससे उऋण होने के लिए विभिन्न विषयों के साथ-साथ समाज-कल्याण की शिक्षा भी दी जाती थी।

4.1.4.4 संस्कृति का प्रसार

प्राचीन काल में शिक्षा का चौथा उद्देश्य संस्कृति का प्रसार करना तथा अगली पीढ़ी को प्रेषित करना था। इस काल में छापेखाने नहीं थे, अतः शिक्षा कंठस्थ कराई जाती थी। जैसे वैदिक साहित्य के मूल तत्वों को स्मरण कर संरक्षित करना तथा आगे आने वाली पीढ़ी को प्रदान करना जिससे शिक्षा की निरंतरता बनी रहे। यही विद्यार्थी का कर्तव्य होता था। कालांतर में विकासमान ज्ञान को अधिक प्रौढ़ बनाने के लिए एक-एक अंग, छंद, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन एक-एक वर्ग ने ले लिया जिससे ज्ञान की मर्यादा बनी रहे। इसीलिए ऋणों का जहाँ विधान किया गया उसमें ऋषि ऋण को प्रमुख

ऋण माना गया और इससे उऋण होने के लिए ऋषि यज्ञ का विधान भी किया गया। इनके अतिरिक्त माता, पिता, वृद्धों का आदर, स्वाध्याय तथा ऋषि तर्पण भी आवश्यक थे।

4.1.5 शिक्षा के विषय

डॉ. आर. के. मुकर्जी ने अपनी पुस्तक एंन्शियंट इंडियन एजुकेशन में ¬प्राचीन काल में पढ़ाये जाने वाले शिक्षा-विषयों का निम्नानुसार वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार चार वेदों से अतिरिक्त शिक्षा के विषय निम्नलिखित थे -

(1) अनुशासन - इसके अंतर्गत छः वेदांगों - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का अध्ययन कराया जाता था।

(2) विद्या - इसमें न्याय, मीमांसा आदि दर्शन अथवा सर्पविद्या, विष-विद्या आदि सम्मिलित थे।

(3) वाकोवाक्य - तर्कशास्त्र।

(4) इतिहास-पुराण।

(5) आख्यान - कथायें।

(6) अन्वाख्यान - पूरक कथायें।

(7) अनुव्याख्यान - मंत्रों की व्याख्यायें।

(8) व्याख्यान - सूत्रों की व्याख्यायें।

(9) गाथा - छंदोबद्ध रचनायें।

(10) नाराशंसी - मनुष्यों से संबंधितगाथायें।

(11) ब्राह्मण ग्रंथ।

(12) क्षत्रविद्या - युद्धविद्या।

(13) राशि - गणित।

(14) नक्षत्रविद्या।

(15) भूतविद्या - वशीकरण, इंद्रजाल।

(16) सर्पविद्या।

(17) अथर्वांघिरसः - अथर्ववेद की विद्या। इसके अंतर्गत भेषज, यातु (जादूगिरी) तथा अभिचार हैं।

(18) दैव - उत्पात-ज्ञान।

(19) निधि - निधि-दर्शन के उपायों का ज्ञान।

(20) पित्र्य - श्राद्ध-कल्प।

(21) सूत्र - यज्ञ करने की शिक्षा।

(22) उपनिषद्।

(23) श्लोक।

(24) वेदानां वेद - प्राचीन संस्कृत व्याकरण।

(25) एकायन - नीतिशास्त्र।

(26) देवविद्या - देवताओं की उपासना की विद्या।

(27) ब्रह्मविद्या।

(28) देवयजनविद्या - इसके अंतर्गत विविध कलाओं - सुगंधिबनाना, रंगना, नृत्य, गान, बाद्य, क्रीड़ा, चिकित्सा आदि हैं।

'महाभारत' में शिक्षा के लिए प्रसिद्ध अनेक आश्रमों का वर्णन आता है। यहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे। आश्रमों में शिक्षा के अनेक विभाग होते थे। इनको स्थान कहा जाता था। इन स्थानों की गणना इस प्रकार है -

(1) अग्निस्थान - यहाँ यज्ञ किया जाता था और सामूहिक रूप से अग्नि की उपासना की जाती थी।

(2) ब्रह्मस्थान - यहाँ वेद-विद्या का अध्ययन कराया जाता था।

(3) विष्णुस्थान - यहाँ दंडनीति, अर्थनीति और वार्ता की शिक्षा दी जाती थी।

(4) महेंद्रस्थान - यहाँ सैनिक शिक्षा का प्रबंध होता था।

(5) विवस्वतस्थान - यहाँ ज्योतिष के अध्ययन का प्रबंध था।

(6) सोमस्थान - यहाँ वनस्पतिविज्ञान की पढ़ाई होती थी।

(7) गरुडस्थान - यहाँ वाहनों और परिवहन से संबंधितशिक्षा दी जाती थी।

(8) कार्तिकेयस्थान - यहाँ सैनिक संगठन की शिक्षा का प्रबंध था।

वैदिक युग के उपरांत संस्कृति के विकास के साथ-साथ अध्ययन के विषयों का भी विस्तार हुआ। धार्मिक शिक्षा के साथ ही कला, विज्ञान और शिल्प के तकनीकी ज्ञान में वृद्धि हुई। विद्यालयों में अनेक लौकिक विषयों के अध्यापन का प्रबंध होने लगा। चौसठ कलाओं के शिक्षण की व्यवस्था की गई। इनमें चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, गीत और वाद्य मुख्य थे। शिल्पों का शिक्षण होता था। 'नारदस्मृति' में शिल्पों के शिक्षण की पद्धति का विस्तृत वर्णन है। रामायण, भागवत पुराण, महाभाष्य, कामसूत्र एवं शुक्रनीति में 64 कलाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अतः संभवतः इन कलाओं का शिक्षण भी विद्यार्थियों को दिया जाता था।

4.1.6 शिक्षा पद्धति

मनुस्मृति के अनुसार उपनयन संस्कार के बाद वेदारंभ संस्कार करके गुरू, शिष्य को शिक्षा देना प्रारंभ करते थे। वे पहले नैतिक शिक्षा देते थे, जैसे - पवित्र रहना, हवन-संध्योपासना आदि। तदनंतर हवन करने वाला छात्र, हल्के वस्त्र पहनकर आचमन करके और हाथ जोड़कर गुरू के समक्ष बैठता था। अध्ययन आरंभ करने से पूर्व वह गुरू के चरणों में प्रणाम करता था। तदनंतर वह ''ओम्'' पद का उच्चारण करता था।

प्राचीन समय की शिक्षा-पद्धति में मौखिक शिक्षा का प्रचलन अधिक था। शिष्यों को गुरू उपदेश देते थे तथा शिष्य उसको स्मरण कर लेते थे। वेदों के अध्ययन में यह विधि विशेष रूप से प्रचलित थी। अतः वेदों को श्रुति भी कहा गया। वेदों का अशुद्ध पाठ करने को बहुत बड़ा दोष माना जाता था। अतः वेदों के विभिन्न पाठों-संहिता-पाठ, पद-पाठ आदि को सस्वर पढ़ने की व्यवस्था की गई थी।

प्राचीन शिक्षा-विधि में परिषदों के आयोजन, प्रश्न-उत्तर और वाद-विवाद का उपयोग महत्वपूर्ण था। किसी विषय का निर्णय करने के लिए विद्वत्परिषद् का आयोजन किया जाता था। अध्ययन की सामान्य प्रणाली प्रश्न-उत्तर थी। विद्यार्थी गुरू से प्रश्न करते थे और आचार्य उसका उत्तर देते थे। विषयों के स्पष्टीकरण के लिए वाद-विवाद और शास्त्रार्थ किये जाते थे। उपनिषदों में इन विधियों का अधिक उपयोग है।

उत्तरवर्ती काल में गुरुकुलों और विश्वविद्यालयों का विकास हुआ। यहाँ आचार्य शिष्यों को पढ़ाते थे और उसकी समुचित व्याख्या करते थे। विद्यार्थी इनके अर्थों को समुचित प्रकार से समझ लेते थे। जहाँ कोई शंका होती थी, उसको वे गुरू से समझ लेते थे। तदनंतर वे आवृत्ति करके पाठ को कंठस्थ करते थे। उसके बाद उस पर मनन और चिंतन करते थे।

जैन साहित्य के अनुसार शिक्षण के पाँच अंगों का विकास हुआ था। सबसे पहले पढ़ना, उसके बाद पाठ के विषय में किसी प्रकार की शंका होने पर प्रश्न पूछना, पुनः पढ़े विषय पर मनन करना, तदनंतर उस पाठ को स्मरण करना और अंत में उस पाठ पर व्याख्यान देना।

कौटिल्य ने शिक्षा-विधि को आठ पदों में विभक्त किया था -

(1) शुश्रूषा - विद्यार्थी में आचार्य से विद्या प्राप्त करने की इच्छा।

(2) श्रवणम् - आचार्य से पाठ को सुनना।

(3) ग्रहणम् - सुने हुए पाठ को ग्रहण करना।

(4) धारणम् - ग्रहण किए पाठ का स्मरण और चिंतन।

(5) ऊपोह - पाठ पर आचार्य से प्रश्नोत्तर

(6) ऊपोह - उस पाठ पर आचार्य से वाद-विवाद।

(7) विज्ञान - पाठ के अर्थों को समुचित रूप से जान लेना।

(8) तत्वाभिनिवेश - शिक्षा को प्रयोग में लाना।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार शिक्षणालयों में अनध्याय (अवकाश) भी होते थे। तीन प्रकार के अनध्यायों (अवकाशों) का वर्णन प्राप्त होता है -

(1) नियमित अवकाश

प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या को अवकाश रखने के निर्देश हैं। विशेष अवसरों और त्यौहारों पर भी अनध्याय होते थे।

(2) आकस्मिक घटनायें

उपद्रव, आक्रमण, लूटमार, दुर्घटना, दैवी आपत्ति आदि आकस्मिक घटनाओं के होने पर विद्यालयों में अनध्याय हो जाते थे। याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार के 37 अनध्याय गिनाये हैं।

(3) शिष्टानध्याय

विशिष्ट जनों के आने पर विद्यालयों में अवकाश कर दिया जाता था। इसको याज्ञवल्क्य ने कहा है।

प्राचीन कालीन भारत में परीक्षा प्रणाली का प्रचलन नहीं था। विद्यार्थियों को नित्य पाठ को दोहराना पड़ता था। यही दैनिक विधि थी। मिलिंदपंहोंसे ज्ञात होता है कि शिक्षण काल के अंतिम दिन अंतिम पाठ ही सुनाकर विद्यार्थी की शिक्षा का अंत होता था। तत्पश्चात शिक्षण सत्र के अंतिम दिन विद्यार्थी को एक विद्वत सभा के संमुखउपस्थित होना पड़ता था। इस सभा में कई विद्वान आमंत्रित किये जाते थे एवं वे विद्यार्थियों से विभिन्न प्रश्न पूछते थे और उनके सफल उत्तर देने के पश्चात ही विद्यार्थी को उत्तीर्ण माना जाता था। परीक्षा प्रणाली का प्रचलन पाल शासकों के काल में प्रारंभ हुआ जिसका वर्णन राजशेखर ने काव्य मीमाँसा में किया है।

4.1.7 नारी शिक्षा

प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों और पुरुषों को समान रूप से विद्याध्ययन के अवसर प्राप्त थे। 'ऋग्वेद' में अनेक सूक्तों की ऋषि स्त्रियाँ हैं। लोपामुद्रा, विश्वारा, आत्रेयी, अपाला, काक्षीवती, घोषा आदि स्त्रियाँ प्रसिद्ध ऋषि हैं। 'ऋग्वेद' के कई सूक्तों की ऋषि स्त्रियाँ हैं। 'अथर्ववेद' में कन्याओं द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करके युवा पति को पाने का निर्देश है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भौतिक संपत्ति की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान को पाना अधिक पसंद किया था। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी थी। उपनिषदों में पुत्री के विदुषी होने की इच्छा की गई है।

'महाभाष्य' में स्त्री शिक्षिकाओं का उल्लेख है। पद के अनुसार आचार्य और उपाध्याय स्त्री को आचार्या और उपाध्याया कहा जाता था, जबकि आचार्य और उपाध्याय की पत्नी आचार्याणी और उपाध्यायानी थी।

'संस्कारप्रकाश' में यम का उपदेश उद्धृत है कि प्राचीन समय में कन्याओं के लिए मौंजीबंधन, वेदों का अध्ययन और सावित्री-वाचन विहित थे, परंतु अब इनको अजिन, चीर तथा जटा नहीं रखने चाहिये। वे अपने घरों में ही भिक्षा माँगे।

हारीत ने कहा है कि स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं - ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयन, अग्नींधन और वेदाध्ययन होना चाहिये। ये अपने घरों में ही शिक्षा माँगें। सद्योवधू स्त्रियों का उपनयन विवाह के समय होना चाहिये। गोभिल का कथन है कि कन्याओं को उपनयन में यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिये।

संस्कृत काव्य-साहित्य में स्त्रियों द्वारा विविध विषयों के अध्ययन के प्रमाण मिलते हैं। कालिदास, भवभूति आदि कवियों की नायिकायें विदुषी और अध्ययनप्रिय हैं। बौद्धों के जातक साहित्य के अनुसार विदुषी स्त्रियाँ शास्त्रार्थ करती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती थीं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ सर्वोच्च शिक्षा की अधिकारिणी थीं। इस प्रसंग में सहशिक्षा विचारणीय है। प्राचीन साहित्य में स्त्री अध्यापिकाओं और छात्राओं के उल्लेख हैं। इससे संकेत मिलता है कि स्त्रियों की शिक्षा के अलग से विद्यालय होते होंगे। 'काशिकावृत्ति', में आचार्या और उपाध्याया पद स्त्री-अध्यापिकाओं का संकेत करते हैं। 'आपस्तंब धर्मसूत्र' में स्त्री आचार्यों का उल्लेख है।

4.1.8 शिक्षा के गुरुकुल

महाभारत, मनुस्मृति और मुद्रा राक्षस प्राचीन गुरूकुलों पर प्रकाश डालते हैंकि प्राचीन गुरुकुलों में छात्र सामान्यतः गुरुजनों की संरक्षकता में रहते थे। वे वहीं विद्याध्ययन करते थे। अतः इनको अंतेवास्मि् कहा गया था। न केवल सामान्य प्रजाजन, अपितु राजपुत्र भी गुरुकुलों में रहकर, गुरु-जनों की सेवा करते हुए विद्या प्राप्त करते थे।

4.1.8.1विद्यार्थी का जीवन

विद्यार्थी को शिष्टाचार और सदाचार का पालन करना पड़ता था। प्रातः समय से उठकर गुरू का अभिवादन करना, सर्वदा उनसे नीचे आसन पर बैठना तथा भड़कीले वस्त्र न पहनना विद्यार्थियों का परम कर्तव्य था। विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य था। अतः उसको ब्रह्मचारी कहा गया। ब्रह्मचारी का यह समय ब्रह्मचर्य आश्रम का था। सहपाठी एक दूसरे को ब्रह्मचारी कहते थे। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी है। इस प्रकार ब्रह्मचारी का अर्थ हुआ - ज्ञान की प्राप्ति के लिए जीवन-विधि का पालन करने वाला। इन गुरुकुलों में विभिन्न वर्णों के छात्र साथ-साथ रहकर विद्योपार्जन करते थे। भारद्वाज के गुरुकुल में ब्राह्मण-बालक द्रोण और क्षत्रिय राजकुमार द्रुपद ने तथा सांदीपनि के गुरुकुल में ब्राह्मण-बालक सुदामा ने क्षत्रिय-बालक कृष्ण के साथ-साथ विद्याध्ययन किया था।

गुरुकुल के विद्यार्थियों का जीवन तपोमय होता था। भोग-विलास और आरामपसंदी को विद्या की प्राप्ति के लिए बाधक माना गया था। ये वर्जित थे। 'महाभारत' के अनुसार विद्यार्थी का जीवन सुख-भोगों से रहित होना चाहिये। सुख चाहने वाले को विद्या का विचार छोड़ देना चाहिये तथा विद्या चाहने वाले को सुख का। विद्यार्थी के लिए दो नियम विशेष रूप से निर्धारित थे - स्वाध्याय और संयम। इनका पालन करता हुआ ही वह विद्याध्ययन की योग्यता प्राप्त करता था।

ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य था कि वह निषिद्ध वस्तुओं का प्रयोग न करे। भोग-विलास तथा ब्रह्मचर्य का विघात करने वाली वस्तुओं का प्रयोग उसके लिए वर्जित था। आचार्य के आदेशों का पालन करना और गुरुकुल-आश्रम के सारे कार्य करना ब्रह्मचारियों के कर्तव्य समझे जाते थे। ब्रह्मचारी को क्षमाशील, जितेंद्रिय, विनयी, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण और क्रोधरहित होना चाहिये।

4.1.8.2 विद्यार्थी के कार्य

मनुस्मृति तथा चरक संहिता के अनुसार राजा, माता-पिता और देवताओं की भांति गुरू का सम्मान और आदर करना विद्यार्थी का कर्तव्य माना जाता था। आश्रम के सारे कार्य तथा गुरु की सेवा विद्यार्थी के कर्तव्य थे। वह गुरु की सेवा पुत्रवत्, दासवत् और अर्थिवत् करता था। आचार्यकुल में निवास करता हुआ वह भूमि पर शयन करता था और सूर्योदय से पूर्व उठ जाता था। यदि उठने में देरी हो जाती थी, तो गायत्री का जप करके प्रायश्चित करता था। तदनंतर स्नान आदि नित्यकर्म करके संध्या-अग्निहोत्र करता था। आश्रमों में यज्ञशालायें होती थीं, जहाँ यज्ञ-कार्य संपन्न होते थे। संध्या-अग्निहोत्र के तीन सवनों-प्रातः माध्यंदिन और सायं के उल्लेख मिलते हैं। इसके बाद वह गुरु से विद्या पढ़ता था। मध्याह्न के समय भिक्षा माँगने जाता था। रात्रि में गुरु से आज्ञा पाकर सोने के लिए चला जाता था।

गुरुकुल आश्रम में प्रमुख कार्य थे - समिधाओं का लाना, पूजा के लिए पुष्प चुनना, कुशा एकत्रित करना, गौ चराना, गोबर एकत्रित करके उपले बनाना, आश्रम के लिए जल लाना आदि।

तपोवनों और गुरुकुलों में समिधायें लाने का कार्य बहुत महत्वपूर्ण था। 'पारस्कर गृह्यसूत्र' के अनुसार समिधायें लाना ब्रह्मचारियों का नित्य का कर्तव्य है। सांदीपनि के शिष्य कृष्ण और सुदामा की कथा बहुत प्रसिद्ध है, जबकि वे वनों में समिधायें लाने गए थे। अनेक बार आचार्य स्वयं भी समिधायें लेने चले जाते थे। 'महाभारत' के शकुंतलोपाख्यान के अनुसार दुष्यंत जब कण्व आश्रम गये, तो उस समय कण्व वनों में समिधायें लेने गये हुए थे।

कुशाओं का उपयोग बहुत था। तपोवनों के चारों ओर कुशाओं के उत्पन्न होने के प्रचुर वर्णन हैं। बैठने, लेटने और शयन के लिए आसन बनाने हेतु कुशाओं का उपयोग होता था। कुश घास काटने की दक्षता के कारण ही कुशल पद का प्रयोग रूढ़ हुआ। 'मुद्राराक्षस' नाटक के एक वर्णन के अनुसार चाणक्य की कुटीर के सामने कुशाओं का ढेर लगा हुआ था।

गुरुकुल-आश्रम की गौओं को चराने का कार्य छात्र ही करते थे। उपमन्यु द्वारा गौओं को चराने की कथा बहुत प्रसिद्ध है। आवश्यकता पड़नं पर विद्यार्थियों को गुरूओं के वस्त्र और बर्तन भी साफ करने पड़ते थे।

4.1.8.3 भिक्षावृत्ति का अभ्यास

प्राचीन युग में ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा के अन्न की व्यवस्था की गई थी। उपनयन संस्कार के पश्चात ब्रह्मचारी को भिक्षा माँगने का अधिकार प्राप्त होता था। आचार्य उसको जन-समुदाय से भिक्षा माँगने का आदेश देता था। तदनंतर आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी समीपस्थ ग्रामों से भिक्षा माँगकर लाते थे। इस भिक्षा को वे गुरु को अर्पित करते थे। गुरु विद्यार्थी को उसका अंश देते थे। भोजन करते समय भी ब्रह्मचारी नियमों का ध्यान रखता था। अधिक भोजन करना, बीच-बीच में खाना, जूठे मुख कहीं जाना, ये सब बातें अनुचित थीं।

अति प्राचीन समय में ब्रह्मचारी के लिए यद्यपि भिक्षा के अन्न की व्यवस्था की गई थी तथापि उत्तरवर्ती काल में इस व्यवस्था में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं ब्रह्मचारियों का बहुत सा समय, जो अध्ययन के लिए उपयोगी था, भिक्षाटन में निकल जाता था। अनेक बार उनको तिरस्कार का भी अनुभव

होता था। कालांतर में गुरुकुलों को प्रचुर धन प्राप्त होने की सुविधा के कारण भिक्षा-चर्या की आवश्यकता नहीं रही। शासन तथा समृद्ध जनों से गुरुकुलों को प्रचुर आर्थिक सहायता मिलने लगी। गुरु-दक्षिणा से भी प्रभूत धन और सामग्री मिलती थी। अतः भिक्षा पर निर्भरता समाप्त होने से ब्रह्मचारियों को गुरुकुल का कार्य करने और अध्ययन के लिए अधिक समय तथा सुविधायें मिलने लगीं। कालांतर में विशाल विद्या-केंद्रों और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जिनमें हजारों विद्यार्थी सुदूर देशों से अध्ययन के लिए आते थे।

गुरूकुल प्रायः तपोवन में स्थापित किये जाते थे। प्राचीन काल में वशिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व, गौतम, याज्ञवल्कय आदि ऋषियों के आश्रमों में शिक्षण का कार्य चलता था, परंतु सभी गुरूकुलों की स्थापना इन आश्रमों के समान वन में नहीं की जाती थी। कई गुरूकुल नगरों के सन्निकट स्थापित किये जाते थे। वाराणसी और तक्षशिला जैसे नगरों में जिन गुरूकुलों के उल्लेख मिलते हैं, वे वस्तुतः नगर से अविदूर ऐसे एकांत उपवनों में निर्मित थे, जहाँ एकाग्रचित हो अध्ययन करने के लिए उपयुक्त वातावरण उपलब्ध था। नगरों के कोलाहलपूर्ण वातावरण में अध्ययन का कार्य सुचारू-रूप से संपन्न होने में विघ्न होने के कारण जनरव से दूर एकांत स्थलों में विद्वान् वास करने लगते थे और उनके निवास-स्थान गुरूकुलों में परिवर्तित हो जाते थे। इसी तरह वाराणसी और तक्षशिला में प्रसिद्ध शिक्षण-केंद्रों की स्थापना हुई। जातकों से विदित होता है कि इन प्रसिद्ध विद्या-केंद्रों में विद्यार्थी 14-16 वर्ष की उम्र में गुरू के पास जाते थे।

4.1.8.4 गुरू - शिष्य संबंध

कठोपनिषद के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है। मुंडकोपनिषद के अनुसार शिष्य को पूर्ण समर्पित होकर गुरू की सेवा में उपस्थित होना चाहिये।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में गुरु और शिष्य का संबंध अति पवित्र माना गया है। गुरू शिष्यों के प्रति स्नेह रखते थे और उनको सब प्रकार से योग्य बनाने का प्रयत्न करते थे। गुरू की सेवा करना और उनके आदेशों का पालन करना शिष्य भी अपना कर्तव्य समझते थे। शिक्षण के क्षेत्र में गुरू उनके पिता तुल्य होते थे जो उत्तराधिकार में अपना समस्त ज्ञान शिष्यों को देते थे। अथर्ववेद के अनुसार संबंध की घनिष्ठता के कारण गुरू को माता भी माना गया है क्योंकि शिक्षण काल में शिष्य, गुरू के गर्भ में रहता है।

शिष्यों का गुरू के प्रति अति विनम्र एवं आदरपूर्ण व्यवहार होता था। वे आश्रम का सारा कार्य करते थे। गुरु के लिए आसन बिछाना, अभ्यागतों का स्वागत करना आदि शिष्यों के कार्य थे। गुरु का निरादर करना महान् पाप था। गुरु का अपमान यदि कोई करता है, तो शिष्य उसको सहन नहीं करता था। मुद्रा राक्षस के अनुसार गुरु की निंदा महान् पाप है। जो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं या उनको अपमानित करते हैं, उन्हें शर्म से डूब जाना चाहिये।

गुरूओं का भी शिष्यों के प्रति स्नेह का व्यवहार था। वे ¬प्रायः कठोरता का व्यवहार नहीं करते थे। 'आपस्तंब धर्मसूत्र' के अनुसार गुरू को चाहिये कि शिष्य के प्रति स्नेह का व्यवहार करे, उसे सारी विद्यायें पढ़ावें और कुछ भी न छिपावें, किंतु स्नेह के व्यवहार का यह अर्थ नहीं है कि शिष्य उद्दण्ड हो जावे। शिष्य को सुधारने के लिए गुरू उसको कठोर दंड दे सकता था। मनु ने गुरू के लिए कहा है कि वह शिष्य के प्रति मधुर व्यवहार करे।

4.1.8.5 बौद्ध शिक्षा केंद्र

बौद्ध-भिक्षु-संघ का संगठन आश्रमव्यवस्था के आदर्शों पर किया गया था अतः बौद्ध विहार शिक्षा के केंद्र बन गये। भिक्षु-जीवन में ब्रह्मचर्याश्रम, वान-प्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम का समन्वय होने के

कारण विहारों में शिक्षण-कार्य को प्रमुखता मिली। ब्राह्मणों के गुरूकुलों के साथ-साथ अब बौद्ध विहारों में भी अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध होने से शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ। इन विहारों के छात्रों के आदर्शों, गुरू-शिष्य संबंधों तथा अनुशासन के नियम आदि पर बौद्ध-संघ के प्रसंग में विचार किया गया। बुद्ध-काल में राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती तथा कपिलवस्तु आदि नगरों में कई प्रसिद्ध विहारों का निर्माण हुआ जो बौद्ध-शिक्षा के प्रमुख केंद्र बन गये। राजगृह में वेणुवन, यष्टिवन तथा सीतावन, वैशाली में कूटागारशाला तथा आम्रवन, कपिलवस्तु में निग्रोधाराम और श्रावस्ती में जेतवन तथा पूर्वाराम इस युग के प्रसिद्ध विहार थे। इनके अतिरिक्त अनेक विहारों का निर्माण हुआ। इन्हें संघाराम कहा जाता था। इन संघारामों में आध्यात्मिक चिंतन होता था। यहाँ के आचार्य अपने शिष्यों को अध्यात्म-ज्ञान के सागर में अवगाहन कराते थे। बुद्ध के समय के बौद्ध विहारों के भिक्षुओं को सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकच्चान, महाकोट्ठित, महाकप्पिन, महाचुंद, अनुरूद्ध रेवत, उपालि, आनंद तथा राहुल आदि प्रमुख थेरों के प्रवचनों को श्रवण करने तथा उनसे वार्तालाप कर अपने को कृतार्थ करने का मौका मिलता रहता था। ये लोग प्रायः भ्रमणशील रहा करते थे और जिस विहार में कुछ समय व्यतीत करने के लिए रूक जाते थे, वहाँ के भिक्षुओं को इनसे जटिल विषयों पर विचार-विमर्श कर शंका-समाधान का सुअवसर अनायास ही प्राप्त हो जाता था। इन बौद्ध विहारों में भिक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने को भी व्यवस्था की गयी थी। कालांतर में जब बौद्ध विहारों में उपासकों को शिक्षा दी जाने लगी तो लौकिक विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना अनिवार्य हो गया। यदि बौद्ध विहारों में सभी विषयों के अध्यापन की व्यवस्था नहीं की गयी होती, तो नालंदा तथा वलभी आदि महाविहारों को विद्या-केंद्रों के रूप में ख्याति प्राप्त नहीं हो सकती थी।

4.1.9 उच्च शिक्षा केंद्र

4.1.9.1 तक्षशिला

सातवीं सदी ई. पू. में तक्षशिला की ख्याति प्रमुख शिक्षा-केंद्र के रूप में दूर-दूर तक व्याप्त हो गयी, जिसका श्रेय वहाँ के आचार्यों को है। वहाँ के दिशाप्रमुख आचार्यों की बड़ी प्रसिद्धि थी और उनके नाम का ही यह प्रभाव हुआ कि सहस्त्रों मील दूर के प्रदेशों से जिज्ञासु जन तक्षशिला पहुँचने लगे। जातकों में उल्लेख मिलता है कि समग्र भारतवर्ष के क्षत्रिय एवं ब्राह्मण कुमार शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला आचार्यों के पास जाते थे। बौद्ध-पिटकों में जिस प्रकार तक्षशिला का उल्लेख उपलब्ध होता है उससे प्रतीत होता है कि वह अपने समय का सर्वाधिक ख्याति प्राप्त विद्या-केंद्र था।

वस्तुतः तक्षशिला में आधुनिक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय जैसी कोई शिक्षण-संस्था नहीं थी। वहाँ तो विद्वानों का आवास ही संस्था था, जहाँ आचार्य अपने वरिष्ठ शिष्यों के सहयोग से शिक्षण-कार्य संपन्न करते थे। वहाँ न तो किसी आचार्य के शिष्यों की निश्चित संख्या थी और न अध्ययन की कोई निश्चित अवधि ही। जितने विद्यार्थी मिल जाते, आचार्य उन्हें विद्यादान देते। जब तक उनकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो जाती, विद्यार्थी गुरू के पास रहते। जातकों में उदाहरण मिलते हैं कि तक्षशिला में दिशाप्रमुख आचार्य पाँच-पाँच सौ विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। एक आचार्य के पाँच सौ शिष्यों का उल्लेख परंपरागत शैली के कारण मिलता है, अतः इस संख्या को विशेष महत्व देना अनावश्यक है। एक जातक में उल्लेख मिलता है कि एक आचार्य 103 राजकुमारों को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान कर रहे थे। इस संख्या में सत्य का आभास मिलता है और इससे यह अनुमान लगाना सही होगा कि तक्षशिला के प्रमुख आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या लगभग एक-एक सौ की रही होगी। शिक्षण-कार्य के लिए संभवतः वरिष्ठ शिष्यों का भी उपयोग किया जाता था।

तक्षशिला में अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि सभी विद्यार्थी गुरूकुल में ही वास करते। अनेक राजकुमार अपने रहने की व्यवस्था स्वयं ही करते थे, परंतु यह राजकुल के विद्यार्थियों के लिए ही संभव था। सामान्यतया सभी विद्यार्थी गुरू के आवास में निवास करते, जहाँ उन्हें निवास, भोजन तथा अध्ययन की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होतीं। धनी विद्यार्थी शिक्षा-शुल्क के साथ ही भोजन तथा आवास-शुल्क भी दे दिया करते थे। जो विद्यार्थी निर्धन होते, वे शुल्क के बदले दिन में गुरूकुल का कोई काम किया करते। ऐसे विद्यार्थियों के लिए रात्रि में अध्यापन की व्यवस्था की गयी थी।

तक्षशिला मुख्यतः उच्च-शिक्षा का केंद्र था, अतः वहाँ अध्ययन के लिए जाने वाले विद्यार्थियों की उम्र प्रायः 16 वर्ष बतलायी गयी है। वहाँ पढ़ने के लिए समाज के विभिन्न जातियों एवं वर्गों के विद्यार्थी जाते थे, परंतु ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की संख्या अधिक प्रतीत होती है। एक जातक में पाँच सौ ब्राह्मण विद्यार्थियों को लकड़ी जमा करने में संलग्न दिखलाया गया है। पुनः दूसरे जातक में उल्लेख मिलता है कि 103 राजकुमार एक आचार्य से धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। तक्षशिला के आचार्य विद्यादान में बड़े उदार थे। उन्होंने राजकुमारों, ब्राह्मण कुमारों तथा श्रेष्ठिपुत्रों के साथ दर्जी और मछली मारने वालों को भी शिष्य बनाया। उनके गुरूकुलों में केवल चांडालों के प्रवेश पर प्रतिबंध था।

तक्षशिला में अध्ययन करना महँगा पड़ता था, क्योंकि वह उच्च-शिक्षा का केंद्र था और किसी विशेष विषय में विशिष्टता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही वहाँ कोई विद्यार्थी जाता था। जो जिज्ञासु छात्र बहुत दूर से वहाँ जाते, उनके लिए वहाँ की शिक्षा महँगी पड़ती ही थी, परंतु वहाँ की मुहर लग जाने के पश्चात् किसी की योग्यता में संदेह करने का साहस कौन कर सकता था? अंत: वहाँ के स्नातक होने के लोभ का संवरण भी नहीं किया जा सकता था। धनवानों के लिए तो तक्षशिला में अध्ययन करना कोई बड़ी समस्या न थी, पर निर्धनों के लिए कुछ दिक्कतें थीं। प्राचीन भारत में मेधावी निर्धन छात्रों के मार्ग में भी ऐसी कोई दुर्लध्य रूकावट नहीं आती थी कि वह विद्याध्ययन से वंचित रह जाता। तक्षशिला में पढ़ने वाले धनाढ्य छात्र एक सहस्र कार्षापण तक गुरूदक्षिणा दिया करते थे, परंतु निर्धन छात्र इतनी बड़ी धनराशि देने में असमर्थ होने के कारण श्रम के रूप में गुरूदक्षिणा चुकाते। गुरूदक्षिणा की राशि संग्रह करने के लिए कई विद्यार्थियों को भिक्षा का सहारा लेना पड़ता था।

प्राचीन भारत में सातवीं सदी ई. पू. से लेकर तीसरी सदी ई. पू. तक तक्षशिला, शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र रहा। यहाँ विभिन्न विद्याओं और शिल्प कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध जातक ग्रंथों में तक्षशिला के विद्यापीठों का विशद विवरण है। कौशल नरेश प्रसेनजित, बुद्ध के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक और चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्री तथा अर्थशास्त्र के विद्वान लेखक चाणक्य ने तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी। किंतु गुप्तकाल के प्रारंभ होते होते अर्थात चौथी सदी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा के प्रसिद्ध केंद्र तक्षशिला का महत्व बहुत कम हो गया था।

4.1.9.2 नालंदा

वर्तमान बिहार के पटना जिले में बड़गाँव नामक ग्राम के निकट प्राचीन गिरिव्रज नगर था। इससे बारह किलोमीटर उत्तर में नालंदा महाविहार था। गुप्त नरेश शक्रादित्य ने सर्वप्रथम नालंदा में एक बौद्ध विहार बनवाया था। यशोवर्मन के नालंदा अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहाँ ऊँचे मंदिर और कई मंजिल वाले भव्य विशाल विहार थे जो बादलों को छूते थे।

ह्वेनसांग के अनुसार यहाँ दस सहस्र विद्यार्थी थे किंतु इत्सिंग के अनुसार यहाँ साढ़े तीन सहस्र विद्यार्थी थे। बौद्धसंघ के द्वारा यहाँ निवास करने वाले भिक्षुओं और विद्यार्थियों के निवास, वस्त्र, भोजन और अंय आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था की जाती थी। अग्रहार दान के अभिलेखों के आधार पर यह

कहा जा सकता है कि यहाँ अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान की जाती थी जिससे कि वह बिना किसी व्यवधान के अपना अध्ययन विधिवत पूर्ण कर सकें। नालंदा के संघाराम में प्रत्येक कक्ष में एक या दो विद्यार्थियों के निवास की व्यवस्था थी। प्रत्येक कक्ष में शयनार्थ एक या दो पाषाण के आसन तथा दीपक एवं पुस्तकें रखने के लिये ताख होते थे। चीनी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि नालंदा महाविहार का खर्च राजाओं द्वारा दान में दिए हुए दो सौ ग्रामों की आय से चलता था।

नालंदा के आचार्यों के असीम ज्ञान की कीर्ति के कारण भारत के ही नहीं अपितु बाहर के देशों जैसे मध्यएशिया, चीन, कोरिया, जावा, लंका आदि देशों के विद्यार्थी भी विद्याध्ययन के लिए यहाँ आते थे। इत्सिंग ने विविध देशों से आकर यहाँ अध्ययन करने वाले साठ छात्रों का उल्लेख किया है। स्वयं इत्सिंग यहाँ बौद्ध धर्म और दर्शन के अध्ययन के लिये दस वर्ष तक रहा था। नालंदा की ऐसी प्रसिद्धि के कारण अध्ययन के लिये उसमें प्रवेश पाने के लिए होड़ लगी रहती थी। उसमें प्रवेश के नियम अत्यंत ही कठोर थे। नालंदा के प्रवेश द्वार पर पंडित नियुक्त किए गये थे जो प्रवेश परीक्षा लेते थे। यह प्रवेश परीक्षा ऊँचे ज्ञान स्तर की अत्यंत कठिन होती थी। प्रवेश परीक्षा में ऐसे कठिन और गूढ़ प्रश्न पूछे जाते थे कि उसमें दस में से दो तीन विद्यार्थी ही सफलता प्राप्त कर सकते थे और वे ही प्रविष्ट हो पाते थे।

नालंदा में प्रत्येक शिक्षक के पास नौ या दस विद्यार्थी अध्ययन के लिये रहते थे। इससे गुरू अपने शिष्यों पर विशेष रूप से ध्यान दे सकते थे। विद्यार्थी गण नियमों और उपनियमों का सुचारू रूप से पालन करते थे और विद्वान भिक्षु, गुरू के प्रति भक्ति और सम्मान के भाव रखते थे।

नालंदा प्रमुखतया बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय का महाविहार था इसलिये इसमें बौद्धों के धार्मिक साहित्य के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। किंतु इस महाविहार में बड़ी उदारता और सहिष्णुता थी। इसमें ब्राह्मण धर्म के वेदों और उनके धार्मिक साहित्य का भी अध्ययन किया जाता था। इसके अतिरिक्त व्याकरण, गणित, कर्मकांड, दर्शन, तंत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, हेतु विद्या, शब्द विद्या, अर्थ विद्या और कला की शिक्षा भी दी जाती थी। शिक्षा व्याख्यान, वाद-विवाद और प्रश्नोत्तर के माध्यम से दी जाती थी। वाद-विवाद के निमित्त वेदांत तथा सांख्य दर्शनों का पठन-पाठन होता था। गुरूओं, आचार्यों और विद्यार्थियों के लिये नालंदा में एक विशाल पुस्तकालय था। यह रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजन नामक तीन विशाल भवनों में फैला हुआ था। रत्नोदधि नौ मंजिलों वाला भव्य भवन था। इसमें प्रज्ञा पारमिता वर्ग के धार्मिक ग्रंथ और तंत्र तथा साहित्यिक ग्रंथ रखे गये थे।

नालंदा की आंतरिक व्यवस्था के लिये विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये गये थे। प्रत्येक संघाराम के लिये ''द्वार पंडित'' नियुक्त किया गया था। यह संघाराम के प्रदेश द्वार के समीप बने निवास गृह में रहता था और संघाराम में भिक्षु और विद्यार्थी के प्रवेश का भार इस पर था। कर्मदान नामक निरीक्षण करने वाला उच्च अधिकारी था। वह महाविहार में लगने वाली विभिन्न प्रकार की सामग्री संग्रहीत करता था और उसके उपयोग के लिये उसका वितरण भी। स्थविर नामक अधिकारी धार्मिक कार्य करता था। महाविहार में शिक्षा का भार कुलपति पर था। नालंदा महाविहार का सर्वप्रथम कुलपति धर्मपाल था। कालांतर में नालंदा एक ऐसा विशाल एवं प्रसिद्धअंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बन गया था कि उसके यश और गौरव से प्रभावित होकर जावा द्वीप के नरेश बालपुत्रदेव ने नालंदा में एक विहार निर्मित करवाया था।

4.1.10 सारांश

शिक्षा का अर्थ - डॉ. अनंत सदाशिव अल्तेकर ने प्राचीन काल में शिक्षा के दो अर्थ बताये हैं।
(1) व्यापक एवं (2) संकुचित। व्यापक अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा में आत्म-संशोधन एवं आत्मविकास की प्रवृत्तियों से है तथा संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षण अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है। शिक्षा का महत्व - प्राचीन काल में ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से शिक्षा का बहुत महत्व था। ज्ञान ही सर्वोत्तम है। मनुष्य को कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध ज्ञान से होता है और ज्ञान शिक्षा द्वारा प्राप्त होता है। शिक्षा के उद्देश्य - (1) धार्मिक भावना का जागरण (2) चरित्र निर्माण (3) समाज कल्याणकारी प्रवृत्ति (4) संस्कृति का प्रसार। शिक्षा के विषय - (1) अनुशासन (2) विद्या (3) वाकोवाक्य (4) इतिहास (5) आख्यान (6) अन्वाख्यान (7) अनुव्याख्यान (8) व्याख्यान (9) गाथा (10) नाराशंसी (11) ब्राह्मण ग्रंथ। (12) क्षत्रविद्या (13) राशि (14) नक्षत्रविद्या (15) भूतविद्या (16) सर्पविद्या (17) अथर्वांघिरस (18) दैव (19) निधि (20) पित्र्य (21) सूत्र (22) उपनिषद् (23) श्लोक (24) वेदानां वेद (25) एकायन (26) देवविद्या (27) ब्रह्मविद्या (28) देवयजनविद्या। शिक्षा विधि - (1) शुश्रूषा - विद्यार्थी में आचार्य से विद्या प्राप्त करने की इच्छा। (2) श्रवणम् - आचार्य से पाठ को सुनना। (3) ग्रहणम् - सुने हुए पाठ को ग्रहण करना। (4) धारणम् - ग्रहण किए पाठ का स्मरण और चिंतन। (5) ऊपोह - पाठ पर आचार्य से प्रश्नोत्तर (6) ऊपोह - उस पाठ पर आचार्य से वाद-विवाद। (7) विज्ञान - पाठ के अर्थों को समुचित रूप से जान लेना। (8) तत्वाभिनिवेश - शिक्षा को प्रयोग में लाना। शिक्षा के गुरुकुल - (1) विद्यार्थी का जीवन (2) विद्यार्थी के कार्य (3) भिक्षावृत्ति का अभ्यास (4) गुरू - शिष्य संबंध(5) बौद्ध शिक्षा केंद्र।
उच्च शिक्षा केन्द - तक्षशिला एवं नालंदा

4.1.11 बोध प्रश्न

4.1.11.1 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शिक्षा का अर्थ स्पष्ट कीजिये।
2. शिक्षा के महत्व को रेखांकित कीजिये।
3. प्राचीन भारत में गुरू-शिष्य संबंधोंको समझाइये।
4. प्राचीन भारतीय शिक्षा के कोई पाँच विषयों पर प्रकाश डालिये।
5. कौटिल्य ने शिक्षा विधि को कितने पदों में विभक्त किया है? उन पर प्रकाश डालिये।
6. प्राचीन भारत में नारी शिक्षा पर एक लघु नोट लिखिये।
7. प्राचीन भारत में स्थापित बौद्ध शिक्षा केंद्रों का महत्व का उल्लेख कीजिये।

4.1.11.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना कीजिये।
2. प्राचीन भारतीय विषयों का वर्णन कीजिये।
3. प्राचीन भारतीय गुरूकुल की कार्य प्रणाली का वर्णन कीजिये।
4. प्राचीन भारतीय शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके उद्देश्यों एवं महत्व का मूल्याँकन कीजिये।
5. प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का वर्णन कीजिये।
6. तक्षशिला विश्वविद्यालय पर एक नोट लिखिये।
7. नालंदा विश्वविद्यालय का मूल्याँकन कीजिये।

4.1.12 संदर्भग्रंथसूची

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास् लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल.पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी.एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. शर्मा, घनश्याम दत्त : मध्यकालीन भारतीय सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, जयपुर 1994
11. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
12. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
13. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
14. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
15. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का साँस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
16. लूनिया, बी.एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
17. लूनिया, बी.एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989
18. अल्तेकर, ए. एस. : एजुकेशन इन ऐन्शियन्ट इंडिया, दिल्ली, 1944
19. मुकर्जी, आर. के. : ऐन्शियन्ट इंडियन एजुकेशन, दिल्ली, 1947
20. सहाय, एस. एस. : हिंदुसामाजिक संस्थायें एवं आर्थिक जीवन् दिल्ली, 1992
21. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, 1984
22. सहाय, एस. एस. : प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, दिल्ली, 1992

खंड – 4 संस्कृति का विकास
इकाई – 2 प्राचीन भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

इकाई की रूपरेखा

- **4.2.1 उद्देश्य**
- **4.2.2 प्रस्तावना**
- **4.2.3 प्राचीन भारत में विज्ञान**
  - **4.2.3.1 गणित**
  - **4.2.3.2 ज्योतिष विज्ञान**
  - **4.2.3.3 चिकित्सा विज्ञान**
  - **4.2.3.4 रसायन और खनिज**
  - **4.2.3.5 शिल्प-विज्ञान**
- **4.2.4 प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी**
  - **4.2.4.1 पाषाण काल**
  - **4.2.4.2 धातु काल**
  - **4.2.4.3 मौर्य काल**
  - **4.2.4.4 मौर्योत्तर काल**
  - **4.2.4.5 गुप्त काल**
  - **4.2.4.6 गुप्तोत्तर काल**
  - **4.2.4.7 दक्षिण भारत**
- **4.2.5 सारांश**
  - **4.2.5.1 प्राचीन भारत में विज्ञान**
  - **4.2.5.2 प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी**
  - **4.2.5.3 दक्षिण भारत में विज्ञान**
- **4.2.6 बोध प्रश्न**
  - **4.2.6.1 लघुउत्तरीय प्रश्न**
  - **4.2.6.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न**
- **4.2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची**

4.2.1 उद्देश्य

भारतीयों की वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय हमें प्रागैतिहासिक काल से ही मिलने लगता है। वस्तुतः पाषाणकालीन मानव ही विज्ञान की कुछ शाखाओं-वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, ऋतु शास्त्र आदि का जन्मदाता है। पशुओं का चित्र तैयार करने के निमित्त उसने उनकी शरीर संरचना की अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। खाद्य-अखाद्य पदार्थों का भी उसे ज्ञान था। खाद्य पदार्थ कहाँ और किस ऋतु में पाये जाते हैं, कौन पशु कहाँ तथा कब पाया जाता है - ये सब बातें उसे ज्ञात थीं। मनुष्य ने अग्नि पर नियंत्रण स्थापित किया तथा सुंदर एवं सुडौल औजार-हथियार, उपकरण आदि बनाना प्रारंभ कर दिया। इसी ज्ञान ने कालांतर में

भौतिकी तथा रसायन को जन्म दिया। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की विस्तृत विवेचना करना है।

4.2.2 प्रस्तावना

वैज्ञानिक प्रगति का स्पष्ट ज्ञान हमें सैंधव सभ्यता में दिखाई देता है। सैंधव नगरों का निर्माण एक सुनिश्चित योजना के आधार पर किया गया है। यहाँ के निवासियों के भार-माप के पैमाने भी सुनिश्चित हैं। इनका मानकीकरण दृष्टव्य है। संभवतः फुट तथा क्यूबिट का ज्ञान उन्हें रहा होगा। वे दशमलव पद्धति से भी परिचित लगते हैं। मोहेनजोदड़ो की खुदाई में एक स्केल मिली है जिसमें नौ समानांतर रेखायें हैं तथा एक रेखा टूटी हुई है। इस आधार पर इसका निर्माण दशमिक पद्धति पर माना गया है। पात्रों के ऊपर ज्यामितीय अलंकरणों से यह स्पष्ट आभास होता है कि रेखागणित के सिद्धांतों से उनका अवश्यमेव परिचय रहा होगा। तौल की इकाई 16 की संख्या तथा उसके आवर्त्तक थे। यह महत्वपूर्ण बात है कि सोलह के अनुपात की यह परंपरा आधुनिक काल तक भारत में चलती रही क्योंकि पुराना रुपया सोलह आने का ही होता था। सैंधव लोगों का प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ज्ञान भी काफी उन्नत था। पाषाण एवं धातु उद्योग दोनों अत्यंत विकसित अवस्था में थे। विशाल पाषाण फलकों, मनकों, सेलखड़ी की आयताकार मुहरों, सोने, चाँदी, ताँबा, सीसा, काँसा आदि के आभूषण, मूर्तियाँ, उपकरण आदि का उत्पादन एवं निर्माण विकसित तकनीकी ज्ञान के परिचायक हैं। प्रस्तुत इकाई में प्राचीन भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अंतर्गत गणित, ज्योतिष, विज्ञान, आयुर्वेद, रसायन और खनिज, शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिल्पशास्त्र आदि विज्ञानों की विस्तार से विवेचना की जाना प्रस्तावित है। साथ ही इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दिया जाना प्रस्तावित है।

4.2.3 प्राचीन भारत में विज्ञान

आज जिन विषयों की गणना विज्ञान के अंतर्गत की जाती है, उनसे संबंधित प्राचीन साहित्य आज इतना कम उपलब्ध है कि भारत में उनका विकास और प्रसार किस रूप में हुआ, यह सहज भाव से नहीं कहा जा सकता। इस विषय की जो कुछ थोड़ी बहुत जानकारी आज उपलब्ध है, वह मुख्यतः गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद तक ही सीमित है। रसायन और खनिज विज्ञान का कुछ अनुमान आयुर्वेद संबंधी ग्रंथों के सहारे ही किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त प्राचीन काल में शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र और राजनीति विषयक साहित्य भी प्रस्तुत हुए थे। गार्डन चाइल्ड का कथन है – 'वन परंपरा में वनस्पति विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान तथा जलवायु विज्ञान का मूल अंतर्निहित है। अग्नि पर नियंत्रण तथा उपकरणों का आविष्कार उन परंपराओं का प्रारंभ करते हैं जिनसे कालांतर में भौतिकी एवं रसायन शास्त्र का उदय हुआ।'

4.2.3.1 गणित

आज की अंक लेखन पद्धति में केवल नौ अंकों और शून्य के सहारे बड़ीसे-बड़ी और छोटी-से-छोटी संख्या का बोध सहज रूप से किया और कराया जा सकता है। एक ही अंक को विभिन्न स्थानों पर रख कर, उससे एक, दस, सौ, हजार, लाख, करोड़ आदि का बोध किया जा सकता है, किंतु पुराकाल में यह सहज पद्धति अज्ञात थी। उन दिनों प्रथम नौ संख्याओं के अतिरिक्त दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे, सौ, हजार आदि के लिए भी अलग-अलग चिह्न थे जिनके कारण आलेखन और अभिव्यक्ति दोनों में दुरूहता थी। यह दुरूह पद्धति बारहवीं शती तक यूरोप में प्रचलित रही। तदनंतर यूरोपवासियों को अरब के माध्यम से आज वाली लोकप्रचलित नौ अंकों और शून्यवाली दशम पद्धति

का ज्ञान हुआ, चूँकि इसका ज्ञान उन्हें अरब द्वारा हुआ, इस कारण उन लोगों ने इस पद्धति को अरबी संख्या-पद्धति का नाम दिया है। वस्तुतः यह आविष्कार अरब का अपना नहीं है। उसे इस पद्धति का ज्ञान भारत से हुआ था। इसी कारण अकों को अरबी में हिंदसा कहते हैं। यह पद्धति भारतीय है और इसका आविष्कार भारत में हुआ, यह अरब लेखकों, यथा इब्न बतूता (नवी शती ई.), अल्-मसूदी (दसवीं शती ई.), अल्-बरूनी (ग्यारवीं शती ई.) ने स्पष्ट रूप से लिखा और स्वीकार किया है।

अंकों की इस दशम पद्धति का आविष्कार भारत में कब हुआ और किसने किया, इसका कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं है। 1881 ई. में पेशावर के निकट बकशाली नामक ग्राम में उत्खनन करते समय एक किसान को एक प्राचीन ग्रंथ प्राप्त हुआ था। जो अत्यंत जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था और उसका रूप खंडित था। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि वह गणित-ग्रंथ है और उसकी रचना संभवत: तीसरी शती ई. में हुई थी। इस ग्रंथ में सर्वप्रथम उक्त दशम अंक पद्धति का प्रयोग हुआ है। इससे धारणा बनती है कि इस पद्धति का आविष्कार इससे पूर्व किसी समय हुआ होगा, किंतु कुछ विद्वान् इस पद्धति की इतनी प्राचीनता स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि इस ग्रंथ में इस पद्धति का समावेश इस प्रति के प्रस्तोता ने पीछे से किया होगा। लिपि के आधार पर यह प्रति नवीं शती में तैयार की गयी जान पड़ती है। अतः इस धारणा के अनुसार इसका आविष्कार नवीं शती से पूर्व हुआ होगा। आर्यभट्ट (499 ई.) और वराहमिहिर (550 ई.) ने इस पद्धति का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है, अतः इनके साक्ष्य से यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इसका आविष्कार ही नहीं, वरन् प्रचार भी पाँचवीं शती तक इस देश में हो गया था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि गणित की यह पद्धति आरंभिक गुप्त-काल की देन है।

बकशाली से प्राप्त गणित ग्रंथ, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, अब तक ज्ञात भारतीय गणित का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इसमें भाग, वर्गमूल आदि गणित के सामान्य सिद्धांतों के अतिरिक्त गणित के अनेक उच्चस्तरीय प्रश्नों की भी चर्चा और समाधान है, जिससे तत्कालीन गणित के विकसित ज्ञान का परिचय मिलता है। तदनंतर गणित संबंधी उल्लेख आर्यभट्ट रचित आर्यभट्टीय में मिलता है। यह ग्रंथ मूलतः ज्योतिष ग्रंथ है तथापि इसमें गणित, बीजगणित और ज्यामिति की पर्याप्त चर्चा हुई है जो तत्कालीन गणित-शास्त्र के विस्तार की जानकारी प्रस्तुत करती है। इसमें संख्या, वर्ग, धन आदि गणित की बातों, बीजगणित के समीकरणों तथा ज्यामिति संबंधी वृत्त और त्रिभुज संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण गुणों और प्रमेयों की चर्चा है। आर्यभट्ट ने पाई () का जो मूल्य (3.1416) प्रस्तुत किया है वह तत्कालीन ज्ञात मूल्यों में सर्वाधिक शुद्ध है। बीजगणित के प्रसंग में चार अज्ञात तत्वों को लेकर समीकरण के प्रश्नों को हल किया गया है।

4.2.3.2 ज्योतिष विज्ञान

तीसरी शती से पूर्व इस देश में पैतामह-सिद्धांत का प्रचलन था और वह बहुत कुछ वेदांग ज्योतिष का ही रूप था। उसके अनुसार 366 दिन का वर्ष था और 5 वर्ष के युग में दो अधिक मास हुआ करते थे। उसकी गणना राशि से न होकर नक्षत्रों से हुआ करती थी। 300 ई. के लगभग वशिष्ठ सिद्धांत का विकास हुआ। इसमें नक्षत्रों का स्थान राशि ने लिया और लग्न की कल्पना भी गयी। इस सिद्धांत के अनुसार वर्ष 365.2591 दिन का होता है जो पैतामह सिद्धांत की अपेक्षा अधिक शुद्ध है, पर ग्रहण के संबंध में कोई जानकारी इस सिद्धांत में नहीं है। 380 ई. के लगभग पौलिश-सिद्धांत का विकास हुआ जिसमें सूर्य और चंद्रग्रहण की गणना की मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। तदनंतर 400 ई. के आस-पास रोमक-सिद्धांत प्रस्तुत किया गया। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है यह रोम के माध्यम से भारत तक पहुँचने वाले पाश्चात्य ज्योतिष सिद्धांतों पर आधारित है। इसमें 2850 वर्षों को युग कहा गया है। तदनंतर

सूर्य-सिद्धांत का विकास हुआ। इसमें ग्रहण की गणना के कुछ नियम और कतिपय खगोल संबंधी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है, किंतु इस ग्रंथ का मूलस्वरूप क्या था, यह अनुमान करना आज संभव नहीं है। इसमें परवर्ती काल में अत्यधिक परिवर्तन-परिवर्धन किये गये।

इन सभी ज्योतिष सिद्धांत ग्रंथों के रचयिताओं के संबंध में किसी प्रकार की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में इन सिद्धांतों का सार प्रस्तुत किया है, उसी से इनके संबंधमें कुछ जाना जा सका है। वराहमिहिर ने इनके प्रस्तोता के रूप में देवताओं और ऋषियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार ज्योतिष पर लिखने वाले अब तक ज्ञात सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति आर्यभट्ट हैं जो कदाचित् पाटलिपुत्र के निवासी थे। इनका जन्म शकसंवत् 398 (476 ई.) में हुआ था और उन्होंने 24 वर्ष की अवस्था में अपनी सुविख्यात पुस्तक आर्यभट्टीय प्रस्तुत की थी। इसग्रंथ के दो खंड हैं - (1) दशगणिकासूत्र और (2) आर्याष्टशत। कुछ लोग इनको आर्यभट्टीय से भिन्न स्वतंत्र ग्रंथ मानते हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती भारतीय ज्योतिर्विदों के सिद्धांतों और पद्धतियों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन तो किया ही था, साथ ही अलेक्जेंड्रिया के यवन ज्योतिषियों के सिद्धांतों और निष्कर्षों की भी उन्हें पूर्णरूपेण जानकारी थी। उन्होंने दोनों का ही मनन किया, किंतु उनमें से किसी का अन्धानुकरण उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। वे स्वयं अध्ययन, मनन और शोध से जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, उसका उन्होंने अपने ग्रंथ में प्रतिपादन किया। श्रुति, स्मृति और पुराणों के प्रति आदर-भाव रखते हुए भी ग्रहण के संबंधमें राहु-केतु के ग्रसने वाली अनुश्रुति में उनका तनिक भी विश्वास न था। उन्होंने उसे पृथ्वी की छाया के बीच अथवा पृथ्वी और सूर्य के बीच चंद्रमा के आने का परिणाम बताया। इसी प्रकार उन्होंने अलेक्जेंड्रिया के यवन ज्योतिष के परिणामों को भी आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया वरन् अपने निरीक्षण और गणनाओं के आधार पर उनमें संशोधन-परिवर्तन उपस्थित किये।

4.2.3.2.1आर्यभट्ट

गुप्त काल में संस्कृति के अंय पक्षों के साथ-साथ ज्योतिष एवं खगोल विद्या का भी सर्वांगीण विकास हुआ। इस समय तक खगोल विद्या का अध्ययन इतना अधिक लोकप्रिय हो गया था कि कालिदास जैसे कवियों ने भी इसका अनेकशः उल्लेख किया।

आर्यभट्ट, प्रथम भारतीय खगोलशास्त्री हैं जिन्होंने पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने की बात कही। उन्होंने दिनों के घटने और बढने की गणना करने का शुद्ध नियम भी प्रस्तुत किया। उन्होंने ग्रहण के संबंध में अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया। इस प्रकार उन्होंने ज्योतिष-शास्त्र की दिशा में अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान प्रस्तुत किये, किंतु उनके इन अनुसंधानों के साधन क्या थे, इनके संबंधमें कहीं कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। जो भी हो, आर्यभट्ट भारत के महान् वैज्ञानिकों में एक थे।

आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे जिनमें निश्शंक, पांडुरंगस्वामिन्, विजयनंदी, प्रद्युम्न, श्रीसेन, लाटदेव, लल्ल आदि के नाम मिलते हैं। लाटदेव के संबंधमें कहा जाता है कि वे सर्वसिद्धांतगुरु थे और उन्होंने पौलिश और रोमक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। लल्ल के संबंधमें कहा जाता है कि उन्होंने शिष्यधीवृद्धि नाम से अपने गुरु के ग्रंथ आर्यभट्टीय पर टीका उपस्थित की थी।

4.2.3.2.2 वराहमिहिर

गुप्तकालीन अंय प्रख्यात ज्योतिर्विद के रूप में वराहमिहिर का नाम ज्ञात है। उनका जन्म कांपिल्य (जिला फरुखाबाद, उ. प्र.) में हुआ था और उनके पिता का नाम आदित्यदास था। उन्होंने अपनी गणना के लिए 506 ई. को आधार बनाया, इसलिए कुछ लोगों का अनुमान है कि यह उनके जन्म का समय होगा। एक उल्लेख के आधार पर, जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं है, कहा जाता है कि उनकी

मृत्यु 587 ई. में हुई। वे अपने पिता से शिक्षा प्राप्त कर उज्जयिनी नरेश के यहाँ चले गये थे, ऐसा अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है। उनका उल्लेख विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी पाया जाता है, पर तत्संबंध में कुछ प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता।

वराहमिहिर के कथनानुसार ज्योतिषशास्त्र के तीन अंग हैं - (1) तंत्र (खगोल और गणित), (2) होरा अथवा जातक (कुंडली) और (3) संहिता (फलित ज्योतिष)। इन तीनों ही विषयों पर उन्होंने छः ग्रंथ प्रस्तुत किये थे, किंतु उनमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे विज्ञान को उनकी मौलिक देन कहा जा सके, किंतु ज्ञात सामग्री को व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर प्रस्तुत करने के कारण वे अपने क्षेत्र में सदैव स्मरण किये जाते हैं। अपनी पचसिद्धांतिका में उन्होंने पैतमिह, रोमक, पौलिश, वशिष्ठ और सूर्य सिद्धांतों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया है। इसी से इनके संबंधकी जानकारी प्राप्त होती है। इस कारण इतिहास की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्व है। बृहत्संहिता के रूप में उन्होंने एक विश्वकोष प्रस्तुत किया है। उसमें सूर्य, चंद्र तथा अंय नक्षत्रों की गति और उनका मानव-जीवन पर प्रभाव की चर्चा तो है ही, साथ ही भूगोल, वास्तुकला, मूर्ति निर्माण, तड़ाग-उत्खनन, उपवन-निर्माण, विभिन्न वर्ग की स्त्रियों और पशुओं के गुण दोष आदि अनेक विषयों के संबंध में बहुत-सी उपयोगी बातें भी हैं। इसे उन्होंने काव्यमयी भाषा में छंदोबद्ध प्रस्तुत किया है। विवाह संबंधीशुभ-मुहूर्त से संबंधितउनके दो ग्रंथ-बृहद् और लघु विवाहपटल हैं। योगमाया नामक ग्रंथ में उन्होंने युद्ध संबंधीशकुनों की चर्चा की है। लघु और बृहज्जातक में उन्होंने कुंडली पर विचार किया है। इस विषय पर शतपंचाशिका नाम से एक ग्रंथ उनके पुत्र पृथुयशस का बताया जाता है।

वराहमिहिर पर यवन-ज्योतिष-शास्त्र का बहुत प्रभाव है। उन्होंने यवन ज्योतिर्विदों की भूरि-भूरि सराहना की है। उनका कहना है कि यद्यपि वे म्लेच्छ हैं तथापि वे खगोल-शास्त्र के अच्छे जानकार हैं, अतः पुराकालीन ऋषियों के समान ही वे भी आदरणीय हैं। फलित ज्योतिष पर सारावली नामक एक ग्रंथ कल्याणवर्मन नामक किसी राजा ने प्रस्तुत की थी। उसे भी लोग छठी शताब्दी के अंत की रचना अनुमान करते हैं।

4.2.3.2.3 पृथुयशस

वराहमिहिर का पुत्र पृथुयशस भी ज्योतिष शास्त्र में बड़ा विद्वान था। उसने फलित ज्योतिष पर अधिक कार्य किया। उसने प्रश्न और जातक अथवा होरा (कुंडली) पर ''होराषट्पन्चाशिका'' नामक ग्रंथ लिखा।

4.2.3.2.4 कल्याण वर्मा

गुप्तयुग के उत्तरार्द्ध में कल्याणवर्मा नामक एक अंय विद्वान ज्योतिषी हुआ। उसका जन्म सन् 578 ईस्वी में हुआ था। वह गुप्त सम्राटों के अधीन देव ग्राम का एक छोटा राजा बतलाया जाता है। उसने यवन-ज्योतिषियों के होरा शास्त्र के सार पर ''सारावली'' नामक एक गंरथ लिखा।

4.2.3.2.5 ब्रह्मगुप्त

गुप्तयुग के अंतिम चरण का प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त था। उसका जन्म सन् 598 में हुआ था। उसने सन 628 में ''ब्रह्म सिद्धांत'' नामक ग्रंथ की रचना की। उसके दो अंय ग्रंथ ''खंड खाद्य'' और ''ध्यानग्रह'' हैं। उसने न्यूटन के सिद्धांत को पहले ही घोषित कर निरूपण कर दिया था कि, ''प्रकृति के नियम के अनुसार ही समस्त वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि पृथ्वी का स्वभाव सभी वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित करना और रखना है।'' ब्रह्मगुप्त के विशेष विषय थे वर्गमूल और घनमूल, त्रैराशिक, ब्याज, श्रेढ़ी, भूमिति, परिमेय समकोणीय त्रिभुज, वृत्त के अवयव, ऋण और धन मात्राएँ, शून्य

धन, सरल, बीजीय सर्व समिकाएँ, प्रथम द्वितीय अंशों के अंतर्वर्ती समीकरण, साधारण समीकरण, चक्रीय चतुर्भुज आदि।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तयुग में हिंदू ज्योतिषियों ने विशिष्ट उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। उन्होंने इस बात की खोज कर ली थी कि नभमंडल में ग्रह प्रतिबिंबित प्रकाश से चमकते हैं। उन्होंने दिन, नक्षत्र और ग्रहण की निश्चित गणना कर ली थी। वे पृथ्वी की अपनी धुरी पर दैनिक चाल से अवगत थे और उन्होंने उसके व्यास की भी गणना की थी। इन बातों से स्पष्ट है कि भारत में गुप्तकाल की ज्योतिष विद्या पश्चिम में अलेक्जेंड्रिया के यूनानी ज्योतिष की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थी।

4.2.3.3 चिकित्सा विज्ञान

चिकित्सा-विज्ञान या आयुर्वेद का ज्ञान वैदिक युग में था। वेदों में आयुर्वेद का प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में आयुर्वेद की अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। दूसरी सदी तक तो चिकित्सा-विज्ञान में ''चरक संहिता'' और ''सुश्रुत-संहिता'' नामक ग्रंथ उपलब्ध हो गये। आत्रेय पुनर्वसु के द्वारा उपदिष्ट, उसके शिष्य अग्निवेश के द्वारा रचित तथा चरक और दृढ़बल के द्वारा प्रतिसंस्कृत ग्रंथ चरक संहिता है। चरक और सुश्रुत का चिकित्सा शास्त्र गुप्तकाल में उन्नत रहा, परंतु गुप्तयुग में चिकित्सा-विज्ञान की उपलब्धि है रस-चिकित्सा का आविष्कार। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में विभिन्न रोगों के निवारण की शक्ति है - इस महत्वपूर्ण सिद्धांत ने चिकित्साविज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। पारे की भस्म का भी उपचार में प्रयोग किया जाने लगा। काष्ठ और औषधियों के साथ-साथ रस और भस्म का भी प्रयोग किया जाने लगा। छठी सदी में बागभट्ट चिकित्सा विज्ञान की महान विभूति था। उसका पिता सिंहगुप्त था और गुरू बौद्ध अवलोकित था। इसने ''अष्टांग संग्रह'' नामक ग्रंथ आयुर्वेद पर लिखा। इसमें आयुर्वेद के पूर्व ज्ञान का सारांश प्रस्तुत किया गया है। गुप्तयुग में संभव है आयुर्वेद पर 'नव नीतिकम्'' नामक एक अंय ग्रंथ की रचना हुई, जो सन 1890 में पूर्वी तुर्किस्तान में कूचा में प्राप्त हुआ था। बाबर नामक एक सैनिक को यह मिला था, इसलिये इसे कभी-कभी ''बाबर मेन्युस्क्रिप्ट'' भी कहा जाता है। इसके अक्षरों और लिपि के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ गुप्तकाल में चौथी सदी में रचा गया। यह ग्रंथ अंय ग्रंथों के समान चिकित्सा-विज्ञान या आयुर्वेद पर मौलिक विवेचनात्मक ग्रंथ नहीं है, अपितु किसी चिकित्सक के रोग निवारण के विभिन्न नुस्खों का संग्रह है। इसमें चारक, आत्रेय, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि और पाराशर आचार्यों की संहिताओं के उपयोगी और लाभप्रद नुस्खों और योगों का संग्रह है। इन नुस्खों में 29 चरक संहिता और 6 सुश्रुत संहिता से संग्रहीत किये गये हैं। इस ग्रंथ के सात भाग हैं, जिनमें प्रथम तीन आयुर्वेद से संबंधित हैं। इनमें कई सूत्र या गुरू और उपचारविधियों का वर्णन है। इस ग्रंथ में विभिन्न प्रकार के रसों, चूर्णों, तेलों, ''लोशनों'' जीवनदायिनी संजीवनियों का वर्णन है और उनके बनाने की विधियाँ भी हैं। बाल रोगों के निदान और उनकी चिकित्सा का भी विवरण है।

गुप्तयुग में शल्य शास्त्र का भी ज्ञान चिकित्सकों को था। चीर-फाड़ का सूक्ष्म परीक्षण करना प्रचलित था। शल्य चिकित्सा के विद्यार्थियों को नश्तर या चीर-फाड़ की छुरी के पकड़ने उससे काटने, चिन्हित करने और छेदने, घावों को स्वच्छ कर उन्हें भरने, मल्हमों को घावों और चोटों पर लगाने और वमन कराने तथा जुलाब लगाने की औषधियों को काम में लाने की शिक्षा दी जाती थी। गुप्तकाल में मानव चिकित्सा के साथ पशु-चिकित्सा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया था। उत्तर गुप्त काल में कालकाप्य नामक एक पशु चिकित्सक ने ''हस्त्यायुर्वेद'' नामक एक ग्रंथ लिखा। इसके 160 अध्यायों में हाथियों के विभिन्न रोगों, उनके निदान, चिकित्सा तथा शल्य का व्यापक वर्णन है। यह ग्रंथ अंग-नरेश रोमपाद और ऋषि पालकाप्य के बीच वार्ता के रूप में लिखा गया है। शालिहोत्र द्वारा रचित ''अश्व-

शास्त्र'' भी संभवतः गुप्तकाल की रचना है। गुप्तयुग में सेना में और राजकीय वैभव में हाथियों और अश्वों का बड़ा महत्व था। अतः उनकी चिकित्सा पद्धति का भी खूब विकास हुआ।

4.2.3.4 रसायन और खनिज

भौतिकी, रसायन और खनिज विज्ञान के संबंध में प्राचीन काल में क्या स्थिति थी, इसकी जानकारी सामान्य रूप में उपलब्ध नहीं है। भारतीय परंपरा में बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन को रसायन का नियामक माना गया है जो कनिष्क के समकालीन थे। ह्वेनसांग के अनुसार नागार्जुन दक्षिण कोशल में निवास करते थे। वे रसायन शास्त्र में सिद्ध थे तथा उन्होंने अत्यंत लंबी आयु देने वाली एक सिद्धवटी का अविष्कार किया था। सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे आदि के भस्मों द्वारा उन्होंने विविध रोगों की चिकित्सा का विधान भी प्रस्तुत किया था। पारा की खोज उनका सबसे महत्वपूर्ण अविष्कार था जो रसायन के इतिहास में युगांतकारीघटना है। किंतु इससे संबंधित कोईग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

युवान-च्वांग और तारानाथ के कथनानुसार सुविख्यात बौद्ध महायान दार्शनिक नागार्जुन रासायनिक और खनिज-शास्त्री भी थे। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी रोग निवारण की शक्ति है, यह तथ्य उद्घाटित कर उन्होंने रस-चिकित्सा का आविष्कार किया था। चिकित्सा के निमित्त पारद और लौह के उपयोग का उल्लेख वराहमिहिर ने भी किया है। इन सबसे यह अनुमान होता है कि चिकित्सा और रसायन का यह सहयोग, जिसने आगे चल कर विशेष महत्व प्राप्त किया, गुप्तकाल में आरंभ हो गया था।

खनिज-विज्ञान के संबंधमें यद्यपि कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है तथापि मेहरौली स्थित लौह-स्तंभ इस बात का सबल प्रमाण है कि गुप्तकाल में खनिज-विज्ञान अत्यंत विकसित अवस्था में था और लोगों को धातु-शोधन और ढलाई की कला में अद्भुत दक्षता प्राप्त थी। छः टन वजन के इस 23 फुट 8 इंच लंबे स्तंभ की समूची ढलाई एक साथ की गयी है। इतनी लंबी और वजनी धातु की ढलाई न केवल उन दिनों अंयत्र अज्ञात थी वरन् आज भी वह सहज नहीं समझी जाती। यह स्तंभ डेढ़ हजार वर्षों से सर्दी, गर्मी, बरसात सहता हुआ खुले में खड़ा है, पर उसमें तनिक भी न तो जंग लगा है और न किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हुई है। इस स्तंभ का धातु-शोधन आज तक लोगों के लिए रहस्य बना हुआ है।

4.2.3.5 शिल्प-विज्ञान

प्राचीन कालीन भारत में स्तूप, भवन, प्रासाद, सिक्के, मूर्तियाँ, खिलौने और मंदिर निर्मित हुए। इससे विदित होता है कि पाषाणकला, धातुकला, काष्ठकला, वास्तुकला, मूर्तिकला और मंदिर निर्माण कला ने विज्ञान का रूप ले लिया था और उनके विषय में निश्चित ही कोई विधान विकसित हो गया था। वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ वृहत्संहिता में वास्तुविद्या और मूर्तिकला पर विभिन्न अध्याय लिखे हैं। इसी प्रकार ''विष्णुधर्मोत्तर'' पुराण में भी इन विषयों पर चर्चा की गई है। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का मत है कि किसी अज्ञात शिल्पविद ने तक्षणकला और वास्तुकला पर ''मानसार'' नामक ग्रंथ की रचना की। यह शिल्पशास्त्र पर अत्यंत उपयोगी और विस्तृत ग्रंथ है। परमार काल में राजा भोज द्वारा रचित ग्रंथ ''समरांगण सूत्रधार'' स्थापत्य कला के क्षेत्र में अति महत्वपूर्ण माना जाता है।

4.2.4 प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी

4.2.4.1 पाषाण काल

प्राचीन भारतीयों ने विज्ञान के साथ-साथ प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण प्रगति की थी जिसके प्रमाण प्रागैतिहासिक काल से ही दिखाई देते हैं। प्रागैतिहासिक काल के प्रथम भाग अर्थात पाषाण काल में प्रौद्योगिकी का विकास प्रारंभ हुआ। इस काल में पाषाण से विविध प्रकार के उपकरणों

का निर्माण किया गया। पाषाण काल के प्रमुख उपकरणों में कोर, फ्लेक तथा ब्लेड हैं। पाषाण उपकरण बनाने के लिये एक उपयुक्त पत्थर चुना जाता था, फिर उस पर किसी गोल पत्थर से हथौड़े के समान चोट की जाती थी जिससे उसका एक छोटा खंड निकल जाता था। इस विधि से कई छोटे-छोटे टुकड़े निकल जाते थे तथा बचे हुए आंतरिक भाग को बार-बार चोट करके अभीष्ट आकार का तैयार कर लिया जाता था। इसे ही कोर कहते थे जबकि अलग हुए टुकड़ों को फ्लेक कहा जाता था। इनके किनारों पर बारीक घिसाई करके उन्हें धारदार बना दिया जाता था जो ब्लेड कहलाते थे। इनमें से कुछ अत्यंत उन्नत प्राप्त होते हैं। पाषाण निर्मित प्रमुख उपकरण हैं - गड़ासा तथा खंडक उपकरण, हैंड एक्स तथा क्लीवर, खुरचनी, बेधनी, तक्षणी, बेधक आदि। अतः स्पष्ट है कि पाषाणकालीन मानव ने पत्थरों की कटाई, घिसाई आदि के द्वारा अभीष्ट उपकरण बनाने में दक्षता प्राप्त कर ली थी। निष्कर्षतः पाषाण प्रौद्योगिकी का प्रारंभ पाषाणकाल में हो चुका था जो पूर्वमध्यकाल तक अत्यंत विकसित में आ गया था।

4.2.4.2 धातु काल

पाषाण काल के बाद धातु काल का आरंभ हुआ और इसी के साथ धातु प्रौद्योगिकी का भी विकास प्रारंभ हुआ। धातुओं में सर्वप्रथम ताँबे का प्रयोग प्रारंभ हुआ। तत्पश्चात् काँसा तथा अंततः लोहे का उपयोग आरंभ हुआ। दीर्घकाल तक मानव ने ताँबे तथा पत्थर को साथ-साथ उपयोग किया। इसी कारण इस काल को ताम्रपाषाण काल कहा जाता है। यह ताम्रपाषाण संस्कृति दीर्घकाल तक रही। इस संस्कृति के लोग ताँबे के उपकरणों में कुल्हाड़ियों, चाकू, चूड़ियों, मुद्रिकायें, कंकण आदि का प्रयोग करते थे। इनका निर्माण अत्यंत सूक्ष्मता एवं सफाई के साथ किया जाता था। ये लोग ताँबे को पिघलाने की कला जानते थे। हड़प्पा संस्कृति में धातुकर्म की अत्यंत उन्नत तकनीक दृष्टिगोचर होती है। यहाँ के विभिन्न स्थलों से ताँबे तथा काँसे की बनी हुई वस्तुयें प्राप्त होती हैं। प्रतीत होता है कि समाज में काँस्य शिल्पियों का संगठन कार्यरत था जो प्रतिमाओं और बर्तनों के अतिरिक्त कई प्रकार के औजार और हथियार भी बनाता था। मोहन जोदड़ो से प्राप्त काँस्य नर्तकी की मूर्ति धातु शिल्प का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके अतिरिक्त इस सभ्यता में बड़े पैमाने पर पाषाण फलकों का उत्पादन, मनका उद्योग, खेलखड़ी की आयताकार मुहरें बनाने का उद्योग, इष्टिका उद्योग आदि के भी विकसित होने के प्रमाण मिलते हैं। हड़प्पा सभ्यता के बाद भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों के अवशेष प्राप्त होते हैं। इस काल में ताँबे का अत्यधिक प्रयोग हुआ। ताँबे को घरों में पिघलाकर वस्तुयें बनाने के प्रमाण मिलते हैं। राजस्थान ताम्र धातु उद्योग का प्रमुख केंद्र था। यहाँ के एक पुरास्थल अहाड़ का नाम तांबवती अर्थात् ताँबे वाली जगह भी मिलता है। इसी के समीप गणेश्वर नामक स्थल से बड़ी मात्रा में ताँबे के उपकरण मिलते हैं। इनमें अँगूठियाँ, चूड़ियाँ, कुल्हाड़ियाँ, सुरमा लगाने की सलाइयाँ, चाकू के फल, कंगन आदि हैं। इसके अतिरिक्त भारत के अंय भूभागों से चालीस से भी अधिक ताम्र निधियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें अँगूठी, सब्बर या खंती, टेकदार कुल्हाड़ी, मूठवाली तलवार, हार्पून, बसूली, शृंगिका तलवारें, मानव आकृतियाँ आदि हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि भारत के विभिन्न भागों में धातु प्रौद्योगिकी लोकप्रिय एवं विकसित हो गयी थी। लगभग 1200 ई. पू. में भारत से ताम्रपाषाणिक संस्कृति का पतन हो गया। इसके बाद लोहे का प्रचलन हुआ। छठीं शताब्दी ई. पू. में गंगा-घाटी में नगरों का तेजी से उत्थान हुआ। इसे नगरीकरण की द्वितीय अवस्था माना जाता है। इस नगरीकरण के पीछे लौह तकनीक का विशेष योगदान था। मगध के उत्कर्ष में भी लोहे का योगदान प्रमुख था। मगध क्षेत्र में लोहे और कोयले की अत्यधिक खानें थीं इसीलिए यहाँ के लुहार लोहे के उत्कृष्ट हथियार बना लेते थे जो मगध के शासकों को सहजता से सस्ते दामों पर उपलब्ध हो जाते थे। अतः मगध साम्राज्य के उत्कर्ष, विकास एवं सुदृढीकरण में लौह तकनीक का सर्वाधिक

योगदान था। कालांतर में मगध साम्राज्य में युद्ध के उपकरणों के साथ लोहे द्वारा निर्मित कृषि के उपकरण भी बनने लगे। इनकी सहायता से बहुत भूमि कृषि योग्य बनाई गयी तथा जिससे उत्पादन बढ़ने लगा। अत्यधिक उत्पादन ने नगरीकरण को मजबूत किया। 6वीं सदी ई. पू. के बाद भारत के विभिन्न भागों में लौह तकनीक का तेजी से विकास हुआ। तकनीकी ज्ञान नगरीय एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था की उन्नति का भी मुख्य आधार सिद्ध हुआ। लुहारों ने कड़े से कड़े औजार बनाना प्रारंभ कर दिया। देश के विभिन्न भागों में समृद्ध लोहे की खानें थीं। इस्पात का निर्माण भी होने लगा। इस्पात बनाने की कला सर्वप्रथम भारत में ही विकसित हुई। इस्पात निर्मित तलवारें पूरे विश्व में बेजोड़ थीं। 4थी सदी ई. पू. तक भारत इनका निर्यात अंय देशों को करने लगा।

4.2.4.3 मौर्य काल

मौर्य काल में पाषाण एवं लौह प्रौद्योगिकी का अत्यधिक विकास हुआ। अशोक के एकाश्मक स्तंभ पाषाण तराशने की कला की उत्कृष्टता के साक्षी हैं। लगभग पचास टन वजन तथा तीस फीट से अधिक की ऊँचाई वाले स्तंभों को पाँच-छह सौ मील की दूरी तक ले जाकर स्थापित करना तत्कालीन अभियांत्रिकी कुशलता को सूचित करता है। ऐसा ही एक अंय उदाहरण सुदर्शन झील का निर्माण भी है। पुरातात्विक उत्खनन में इस काल के लोहे के औजार और हथियार बड़ी संख्या में मिलते हैं।

4.2.4.4 मौर्योत्तर काल

मौर्योत्तर काल में हुई प्रौद्योगिक प्रगति अत्यंत महत्वपूर्ण है। महावस्तु में राजगृह नगर में निवास करने वाले 36 प्रकार के शिल्पियों अथवा कामगारों का उल्लेख मिलता है तथा मिलिंदपन्हो में 75 व्यवसायों का उल्लेख है जिनमें लगभग 60 विभिन्न प्रकार के शिल्पों से संबद्ध थे। आठ शिल्प सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबा, पीतल, लोहा तथा हीरे-जवाहरात जैसे उत्पादों से संबंधित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में धातुकर्म के क्षेत्र में पर्याप्त निपुणता हासिल कर ली गयी थी। लोहा तकनीक का ज्ञान भी बहुत बढ़ गया था। विदेशी स्रोतों से अबीसीनिया के बंदरगाहों में भारत से आयात की जाने वाली वस्तुओं की जो सूची दी है जिनमें लोहे तथा इस्पात का प्रमुखता से उल्लेख किया गया है। प्रौद्योगिक प्रगति के परिणामस्वरूप तीसरी शताब्दी तक भारत में नगरीकरण अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया।

4.2.4.5 गुप्त काल

गुप्तकाल में भी प्रौद्योगिक उन्नति के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। अमरकोष में लोहे के लिये सात नाम दिये गये हैं। पाँच नाम हल के फाल से संबंधित हैं। मेहरौली लौह स्तंभ से सूचित होता है कि गुप्तकाल में लौह तकनीक का ज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था, किंतु इसके बाद तकनीकी विकास को समझने हेतु कोई स्रोत उपलब्ध नहीं है। इस काल में बहुसंख्यक काँस्य कृतियों का भी निर्माण हुआ। सुल्तानगंज (बिहार) से प्राप्त महात्मा बुद्ध की लगभग साढ़े सात फुट ऊँची एक टन भार वाली काँस्य प्रतिमा उल्लेखनीय है। धातु प्रौद्योगिकी के सुविकसित होने का प्रमाण सिक्कों तथा मुहरों की बहुलता में देखा जा सकता है। धातु विद्या को चैंसठ कलाओं में सम्मिलित कर लिया गया। बहुमूल्य धातुओं एवं पत्थरों से आभूषण तैयार करने का उद्योग भी प्रगति पर था।

4.2.4.6 गुप्तोत्तर काल

गुप्तोत्तर काल में भी प्रौद्योगिकी का विकास हुआ यद्यपि इस काल में इस दिशा में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। कृषि की उन्नति तथा व्यापक आधार प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप सिंचाई तकनीक उन्नत हो गयी थी। राजतरंगिणी में खूया नामक इंजीनियर का उल्लेख है जिसने झेलम तट पर बाँध बनवाया तथा नहरें निकलवायी थीं। चंदेल तथा परमार शासकों के काल में बड़ी-बड़ी झीलों तथा

तालाबों का निर्माण हुआ। अधिकतर सिंचाई रहट से की जाती थी। राजपूत काल में कई प्रकार के उद्योग-धंदे विकसित अवस्था में थे। शिल्पकारों तथा व्यापारियों की अनेक श्रेणियाँ थीं। खानों से धातुयें निकाली जाती थीं तथा उनसे उपकरण एवं बर्तन, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र आदि तैयार किये जाते थे। साहित्यिक तथा पुरातात्विक, दोनों ही प्रमाण ताम्र, काँस्य तथा लौह तकनीक के सुविकसित होने के प्रमाण देते हैं। तेरहवीं शती के संग्रह रसरत्न समुच्चय में लोहे की कई किस्मों का उल्लेख किया गया है- मुंड, तीक्षा, कांत आदि। प्रत्येक के कई उपभेद भी मिलते हैं। इनसे सूचित होता है कि लौह तकनीक के क्षेत्र में उच्च कोटि की निपुणता प्राप्त कर ली गयी थी। इस काल में बने चंदेल, परमार, प्रतीहार तथा कलचुरि मंदिर उच्च-कोटि कला तथा तकनीक कर प्रदर्शन करते हैं। अस्त्र-शस्त्र भी निर्मित किये जाते थे। अंय धातुओं में सोना, काँसा, ताँबा आदि से आभूषण, उपकरण एवं बर्तन बनाने का उद्योग भी विकसित था। काँसे की ढलाई कर मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं। मूर्ति बनाने वाले को 'रूपकार' तथा पीतल पर काम करने वाले कर्मकार को 'पीतलहार' कहा जाता था। चर्म-उद्योग भी प्रगति पर था। मार्को पोलो नामक यात्री गुजरात के अद्भुत एवं सुविकसित चर्म उद्योग का उल्लेख करता है। वहाँ के शिल्पी लाल तथा नीले चमड़े से सुंदर-सुंदर चटाइयाँ बनाते थे जिनपर पशु-पक्षियों के चित्र बने होते थे। पाषाण एवं काष्ठ प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी उन्नति हुई।

4.2.4.7 दक्षिण भारत

दक्षिण भारत भी प्रौद्योगिकी के विकास की दृष्टि से अत्याधिक समृद्ध रहा। सिंचाई के लिये जो बहुसंख्यक तालाबों एवं बाँधों का निर्माण करवाया गया था जिनमें उच्चकोटि की तकनीकी कुशलता दिखाई देती है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण कावेरी नदी तट पर चोल राजाओं द्वारा श्रीरंगम् टापू के नीचे बनवाया गया बाँध है जो 1240 मीटर लंबा और 12 से 18 मीटर चौडा था। दक्षिण भारत में विविध प्रकार के शिल्प एवं उद्योग धंदे प्रचलित थे। वस्त्र उद्योग, नमक उद्योग, मोती, सीप आदि के व्यवसाय सभी प्रगति पर थे। दक्षिण भारत से बहुसंख्यक पाषाण मंदिर तथा मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की नक्काशी की गयी है। इससे पाषाण तकनीक के उन्नत होने का प्रमाण मिलता है। सातवाहन, राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव तथा चोलकालीन मूर्तियाँ एवं मंदिर उच्च तकनीक के उदाहरण हैं।

धातु मूर्तिकला की दृष्टि से चोल काल अपनी कलात्मकता और सौंदर्यबोध के लिए विश्वविख्यात है। इन्हें प्रायः 'लास्टवैक्स' विधि से बनाया गया है। इन काँस्यमूर्तियों की रचना में ताँबे की मात्रा और अनुपात अधिक रहता है। विषय की दृष्टि से इनमें देवताओं, संतों और भक्त के रूप में राजाओं की मूर्तियाँ ढाली गयी हैं। देवमूर्तियों के निर्माण में शास्त्रीय मान्यताओं का पूरी तरह से पालन किया गया है। अधिकांश मूर्तियाँ नवताल में बनी हैं। शैली की दृष्टि से प्रायः धातुमूर्तियों में कोई भेद नहीं है। मुख्यतया आरंभिक चोल मूर्तियाँ तो अपने काल की प्रस्तर मूर्तियों की शैली का पालन करती हैं।

4.2.5 सारांश

4.2.5.1 प्राचीन भारत में विज्ञान

भारतीयों की वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय हमें प्रागैतिहासिक काल से ही मिलने लगता है। वस्तुतः पाषाणकालीन मानव ही विज्ञान की कुछ शाखाओं-वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, ऋतु शास्त्र आदि का जन्मदाता है। पशुओं का चित्र तैयार करने के निमित्त उसने उनकी शरीर संरचना की अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। खाद्य-अखाद्य पदार्थों का भी उसे ज्ञान था। खाद्य पदार्थ कहाँ और किस ऋतु में पाये जाते हैं, कौन पशु कहाँ तथा कब पाया जाता है-ये सब बातें उसे ज्ञात थीं। मनुष्य ने अग्नि पर नियंत्रण स्थापित किया

तथा सुंदर एवं सुडौल औजार-हथियार, उपकरण आदि बनाना प्रारंभ कर दिया। इसी ज्ञान ने कालांतर में भौतिकी तथा रसायन को जन्म दिया।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक - (1) आर्यभट्ट (2) वराहमिहिर (3) पृथुयशस (4) कल्याण वर्मा (5) ब्रह्मगुप्त

4.2.5.2 प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी

प्राचीन भारतीयों ने विज्ञान के साथ-साथ प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की। इसका प्रारंभ हमें प्रागैतिहासिक काल से ही दिखाई देता है। इससे तात्पर्य पाषाणकाल से है जिसका विभाजन पूर्व, मध्य तथा उत्तर अथवा नव पाषाणकाल में किया जाता है। इस काल से पाषाण प्रौद्योगिकी का खूब विकास हुआ। आदि मानव ने पाषाण से विविध प्रकार के उपकरणों का निर्माण किया। पाषाण काल के प्रमुख उपकरण कोर, फ्लेक तथा ब्लेड हैं। इस प्रकार पाषाण प्रौद्योगिकी का विकास पाषाणकाल में हो चुका था। पत्थर से वस्तुयें बनाने का उद्योग कालांतर में अत्यंत विकसित हो गया। पाषाण प्रौद्योगिकी के पश्चात् हम धातु प्रौद्योगिकी का विकास पाते हैं। धातुओं में मनुष्य ने सर्वप्रथम ताँबे का प्रयोग किया। तत्पश्चात् काँसा तथा अंततः लोहे का प्रयोग किया। बहुत समय तक मनुष्य ने ताँबे तथा पत्थर के उपकरणों का साथ-साथ प्रयोग किया।

4.2.5.3 दक्षिण भारत में विज्ञान

दक्षिण भारत भी प्रौद्योगिकी के विकास की दृष्टि से अत्याधिक समृद्ध रहा। सिंचाई के लिये जो बहुसंख्यक तालाबों एवं बाँधों का निर्माण करवाया गया था जिनमें उच्चकोटि की तकनीकी कुशलता दिखाई देती है। धातु मूर्तिकला की दृष्टि से चोल काल अपनी कलात्मकता और सौंदर्यबोध के लिए विश्वविख्यात है।

4.2.6 बोध प्रश्न

4.2.6.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. हिंदसा किसे कहते हैं ?
2. पैतामह सिद्धांत क्या था ?
3. आर्यभट्ट के विषय में आप क्या जानते हैं ?
4. वराहमिहिर का परिचय लिखिये।
5. पृथुयशस पर प्रकाश डालिये।
6. कल्याण वर्मा पर लघु नोट लिखिये।
7. ब्रह्मगुप्त के विषय में आप क्या जानते हैं ?
8. नव नीतिकम पर प्रकाश डालिये।
9. प्राचीन भारत में शिल्प विज्ञान पर टिप्पणी लिखिये
10. हस्त्यायुर्वेद के विषय में जानकारी प्रस्तुत कीजिये।
11. प्राचीन काल में दक्षिण भारत में विज्ञान की स्थिति को समझाइये।

4.2.6.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन भारत में गणित का वर्णन कीजिये।
2. प्राचीन भारत में ज्योतिष विज्ञान की विवेचना कीजिये।
3. ज्योतिष विज्ञान के विद्वानों के विषय में विस्तार से लिखिये।
4. प्राचीन भारत में चिकित्सा विज्ञान का वर्णन कीजिये।
5. पाषाण काल और धातु काल में प्रौद्योगिकी की समीक्षा कीजिये।

6. प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक काल में प्रौद्योगिकी के विकास पर प्रकाश डालियें
7. मौर्यकाल से लेकर गुप्तोत्तर काल तक प्रौद्योगिकी का क्या स्वरूप रहा ? विस्तार से समझाइये।
8. प्राचीन भारत में विज्ञान का क्या स्त्रूप था ? विस्तार से विवेचना कीजिये।
9. प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी के विकास का वर्णन कीजिये।

4.2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
2. शर्मा, एल. पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी. एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1975
11. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
12. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
13. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
14. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
15. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
16. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
17. लूनिया, बी. एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989
18. सहाय, एस. एस. : हिंदु सामाजिक संस्थायें एवं आर्थिक जीवन, दिल्ली, 1992
19. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, 1984

खंड - 4 संस्कृति का विकास

इकाई – 3 प्राचीन भारत में नारी

इकाई की रूपरेखा

4.3.1 उद्देश्य
4.3.2 प्रस्तावना
4.3.3 वैदिक काल में नारी
4.3.3.1 नारी शिक्षा
4.3.3.2 संपत्ति में नारी का अधिकार
4.3.4 मौर्य काल में नारी
4.3.5 गुप्त काल में नारी
4.3.5.1 नारी शिक्षा
4.3.5.2 पत्नी रूप में नारी
4.3.5.3 स्त्री-संग्रहण
4.3.5.4 विधवा जीवन
4.3.5.5 संपत्तिक अधिकार
4.3.6 हर्ष कालीन नारी
4.3.7 राजपूत काल में नारी
4.3.8 सारांश
4.3.8.1 वैदिक काल
4.3.8.2 गुप्त काल
4.3.8.3 राजपूत काल
4.3.8.4 निष्कर्ष
4.3.9 बोध प्रश्न
4.3.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
4.3.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
4.3.10 संदर्भग्रंथ सूची

4.3.1 उद्देश्य

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिंदू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। वे अपना मनोनुकूल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थीं। उन्हें विवाह, शिक्षा, संपत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में तथा माँ के रूप में वे हिंदू परिवार और समाज मे आदृत थीं, किंतु स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उसकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्व मध्ययुग तक अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में तदनुरूप परिवर्द्धन भी होते रहे है। यह सही है कि वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यंत उन्नत और परिष्कृत थी, किंतु परवर्ती काल से उनकी स्थिति में परिवर्तन प्रारंभ हो गया जो अवनति के रूप में बाद में समयों तक चलता रहा। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में नारी की स्थिति की विस्तृत विवेचना करना है।

4.3.2 प्रस्तावना

सामाजिक जीवन का मूल परिवार है, जो दाम्पत्य जीवन से विकसित होता है। युवा नर-नारी के पारस्परिक स्नेह के वशीभूत होकर साथ रहने तक संतानोत्पत्ति होकर पुरुष को पितृत्व एवं नारी को मातृत्व का गौरव प्राप्त होकर उनकी वात्सल्यपूर्ण निर्भय छाया में संतानें सबल होकर सांसारिक संघर्ष के योग्य बनती हैं। भारतीय जीवन में नारी की सार्थकता उसके मातृत्व में है। माता सबसे महान् गुरु, शिक्षक है। माता को आदर देने पर भी उसका अधिकार हीन रहा था। ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जबकि पुत्रों ने माता के आदेश को न मानकर पिता के वचनों का पालन किया। माता कौशल्या के आदेश को न मानकर, राम ने पिता का आदेश माना और वनों को चले गये। आर्य परिवारों में पति-पत्नी का संबंध भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक भी समझा गया था। प्रस्तुत इकाई में प्राचीन भारत में नारी के अंतर्गत समाज में नारी का स्थान, नारी शिक्षा, संपत्ति में नारी का अधिकार, नारी की स्थिति में गिरावट, नारी पर विभिन्न प्रतिबंध आदि की विस्तार से विवेचना की जाना प्रस्तावित है। साथ ही इकाई के अंत में विषय का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दिया जाना प्रस्तावित है।

4.3.3 वैदिक काल में नारी

आर्यों के प्रारंभिक समाज में स्त्रियाँ स्वच्छ थीं। वे बिना किसी प्रतिबंध के सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थीं। वस्तुतः वैदिक युग में स्त्री जितनी स्वतंत्र और मुक्त थी, उतनी परवर्ती काल के किसी भी युग में नहीं थी। सभी दृष्टियों से वह पुरूषों के समान थी। उसके अधिकार किसी भी प्रकार पुरूषों से कम नहीं थे। शिक्षा, ज्ञान, यज्ञ आदि विभिन्न क्षेत्रों में वह निर्विरोध स्वच्छंदतापूर्वक सम्मिलित होती तथा सम्मानपूर्वक आदर प्राप्त करती थी। उस युग में ऐसी अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने ऋग्वेद और अंय वेदों की अनेक ऋचाओं का प्रणयन किया था। लोपामुद्रा, विश्ववारा, सिक्ता, घोषा आदि ऐसी ही पंडिता स्त्रियाँ थीं। शिक्षा, ज्ञान और विद्वत्ता के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि याज्ञिक कार्यों में भी वे अग्रणी थीं। 'ब्रह्मयज्ञ' में जिन ऋषियों की गणना की जाती है उनमें सुलभा, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषियों के भी नाम लिये जाते हैं। जिनकी प्रतिष्ठा वैदिक ऋषियों के समान थी। विदेह शासक जनक ने यज्ञ के अवसर पर जो धार्मिक शास्त्रार्थ आयोजित किया था, उसमें गार्गी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण तर्क शक्ति, विलक्षण मेधा और सूक्ष्म विचार-तंतुओं से दुरूह प्रश्नों की पृच्छाएँ करके याज्ञवल्क्य ऋषि के दाँत खट्टे कर दिये। इन साक्ष्यों से यह विदित होता है कि उस युग में स्त्रियाँ बिना पर्दे के स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषों के साथ विद्वद्गोष्ठियों और दार्शनिक वाद-विवादों में सम्मिलित होती थीं। उनके मान और सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। समाज में वे पुरुषों की तरह ही आदृत थीं। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, समारोहों में वे अलंकृत होकर बिना किसी प्रतिबंध के उन्मुक्त होकर हिस्सा लेती थीं। पुरुषों के साथ वे यज्ञ में सम्मिलित होकर कार्यविधि संचालित करती थीं। बिना उनके सहयोग के यज्ञ पूरा नहीं माना जाता था। वे यज्ञ की अधिकारिणी थी। अकेला पुरुष यज्ञ के लिए अयोग्य था। पुरुषों के लिए उनका याज्ञिक और धार्मिक सहयोग कालांतर में अनिवार्य हो गया। अतः यज्ञ और धार्मिक आयोजनाओं में पत्नी का होना आवश्यक था। अन्यायन्य याज्ञिक क्रियाओं में वह पति का सहयोग करती थी।

उत्तरवैदिक काल में परवर्ती युग से ही नारी की दशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी। उसके सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो अवश्य बने रहे, किंतु उसके वैयक्तिक गुणों के प्रति संदेह व्यक्त किया गया। उसके लिए निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा। उसे असत्यभाषी और अभद्र कहा गया। उसके लिए भविष्यवाणी की गई कि अगर वह पति द्वारा धन देकर क्रय की जाती है, तो वह पर-पुरुष के

साथ घूमती है। लगता है, इस तरह का विवाह यदा-कदा हुआ करता था, जो समाज में इस युग में निन्दनीय माना गया है। उसे पुरूषों के साथ यज्ञ में सोम का भाग लेने से वंचित कर उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया। इस प्रकार उस पर सामाजिक और धार्मिक अनेक प्रकार के नियंत्रण लगाये जाने लगे जो आगे चलकर और विस्तृत हो गए। महाकाव्यों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता और स्वच्छंदता में कोई विशेष प्रतिबंध नहीं लगा था। सामाजिक उत्सवों और धार्मिक पर्वों पर स्त्रियाँ उन्मुक्त होकर सम्मिलित हुआ करती थीं। रामायण में सीता का विचरण तथा महाभारत में द्रोपद्री का भ्रमण उनकी उन्मुक्तता और स्वच्छंदता व्यक्त करता है। सामाजिक और धार्मिक गतिविधिओं में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। उनके प्रति समाज की उदात्त भावना थी। महाभारत में भीष्म पितामह का कथन है कि स्त्री को सर्वदा पूज्य मानकर उससे स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और उसकी अनुपस्थिति में सभी पूर्ण कार्य अपवित्र हो जाते हैं। रामायण में भी सीता के लिए आदर और सम्मान की बातें कही गई हैं। स्त्रियों के दो प्रकार हैं, साध्वी और असाध्वी। साध्वी स्त्रियाँ पृथ्वी की माता और उसकी संरक्षिका हैं तथा असाध्वी स्त्रियाँ अपनी पापी गतिविधियों से विख्यात। धर्मसूत्रों और स्मृतियों के युग में स्त्री की दशा पूर्णतः पतनोन्मुख हो गई। स्त्री के साथ भोजन करनेवाले पुरुष को गर्हित आचरण करनेवाला व्यक्ति घोषित किया गया तथा उस स्त्री की प्रशंसा की गई जो 'अप्रतिवादिनी' थी। उसका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया तथा उसके शरीर पर उसके पति का स्वत्व माना गया। पितृसत्तात्मक समाज होने के कारण उसकी स्थिति निरंतर ह्रासोन्मुख होती गई। उसकी स्वतंत्रता और उन्मुक्तता पर अनेक प्रकार के अंकुश लगाये जाने लगे। मनु जैसे स्मृतिकारों ने यह विचार प्रकट किया कि स्त्री कभी भी स्वतंत्र रहने योग्य नहीं। जब तक वह कन्या रहे उस पर पिता का संरक्षण रहे, जब विवाह हो जाये तब उस पर पति का संरक्षण रहे और जब वह वृद्धावस्था में हो तब उस पर पुत्र का संरक्षण रहे।

4.3.3.1नारी शिक्षा

वैदिक युग में स्त्री की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। वह पुरूषों के समकक्ष बिना भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। वह बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। इस युग में पुत्र की तरह पुत्री का भी विद्यारम्भ से पूर्व उपनयन संस्कार संपन्न किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। उसे यज्ञ-संपादन और वेदाध्ययन करने का पूर्ण अधिकार था। दर्शन और तर्कशास्त्र में भी स्त्रियाँ निपुण थीं। सभी सभागोष्ठियों में वे ऋग्वेद की ऋचाओं का गान किया करती थी। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि कतिपय विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के प्रणयन में योगदान प्रदान किया था। उस युग में बौद्धिक योगदान करने वाली ऐसी बीस कवयित्रियाँ थीं। रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निबावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि पंडिता स्त्रियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। पति के साथ समान रूप से वे यज्ञ में सहयोग करती थीं। सूत्र-काल तक भी स्त्रियाँ यज्ञ संपादित किया करती थीं। राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय तक कौशल्या ने यज्ञ किया था। उत्तरवैदिक युग में भी स्त्री ब्रह्मचर्य में रहकर शिक्षा ग्रहण करती थी। वैदिक गान के अतिरिक्त वह ललित कलाओं में भी पारंगत होती थी। महाभारत से ज्ञात होता है कि पांडवों की माँ कुन्ती अथर्ववेद में पारंगत थी। इससे स्पष्ट है कि उस युग की स्त्रियाँ मंत्रवित् और पंडिता होती थीं तथा ब्रह्मचर्य का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थीं।

4.3.3.2 संपत्ति में नारी का अधिकार

वैदिक काल में नारियों को आर्थिक स्थिति में रखकर समाज में उनका संपत्ति-विषयक अधिकार स्वीकार किया गया है तथा उन विशेष परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया गया है, जिनके कारण संपत्ति में वे अपना हिस्सा प्राप्त करती थीं। वैदिक कालीन कुछ ऐसे विवरण हैं, जो उसके उत्तराधिकार पर आक्षेप करते हैं, किंतु ये अपवाद ही हैं। संपत्ति में प्रायः उसका हिस्सा रहता रहा है। परिवार में वह पुत्र से किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती रही। दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री समझी जाती थी। अपने भाई के न रहने पर वह अपने पिता की संपत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती थी। अतः वैदिक युग में स्त्री का संपत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था। चौथी सदी ई. पू. तक यह व्यवस्था समाज में प्रचलित थी, किंतु दूसरी सदी ई. पू. में आकर स्त्री-शिक्षा पर अनेक प्रतिबंध लग गए, जिनके कारण स्त्री का संपत्ति विषयक अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकारों के एक वर्ग का आगमन हुआ जिसने भाई के न रहने पर भी बहन के उत्तराधिकार को नहीं स्वीकार किया। आपस्तंब ने यह व्यवस्था दी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब गुरू या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है, यद्यपि उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी संपत्ति धर्म कार्य में लगा देने के लिए निर्देश दिया है। वशिष्ठ, गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री का कहीं नाम नहीं लिया है। इन व्यवस्थाकारों ने संपत्ति में पुत्री के अधिकार और उसके उत्तराधिकारी के अधिकार को नहीं स्वीकार किया है, परंतु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यंत उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने के मत का प्रतिपादन किया है। महाभारत में उसके इस स्वत्व को पुत्र के समकक्ष स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि अगर अभ्रातृका को पूरी संपत्ति नहीं मिलती तो आधी अवश्य मिलनी चाहिए।

4.3.4 मौर्य काल में नारी

नारियों की स्थिति में पिछले युगों की अपेक्षा कुछ परिवर्तन आने लगा था। वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी, उन्हें पति के साथ समानता की स्थिति प्राप्त थी। इस समय पति- पत्नी एक दूसरे के साथी या मित्र थे। उनके स्वत्वों और सामान्य कार्यों में कोई बड़ी विषमता या भेद नहीं था। उनका सामूहिक नाम दंपती अर्थात् घर का स्वामी था। इससे सूचित होता है किदोनों का घर पर समान रूप से स्वत्व था। मैकडानल और कीथ ने लिखा है - ''दंपती शब्द ऋग्वेद के समय में स्त्रियों की उच्च स्थिति का बोधक है।'' यह स्थिति 600 ई. पू. तक बनी रही। इसके बाद वैदिक युग के अंत में स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित किया गया। इसके प्रधान कारण संभवत: कर्मकांड की जटिलता एवं पवित्रता में वृद्धि, स्त्रियों का मासिक धर्म, अंतर्जातीय विवाह तथा उपनयन संस्कार के अभाव में स्त्रियों का शूद्र समझा जाना था। वैदिक युग में पत्नी पति के साथ बैठकर यज्ञ करती थी, उसके बिना पति का यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था, किंतु 200 ई. पू. में उसका इतना अधःपतन हुआ कि वह शूद्र बना दी गई। इसका एक बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि छठी श. ई. पू. से हिंदू समाज में बाल विवाह का प्रचार होने से स्त्रियों के उपनयन की प्रथा अप्रचलित होने लगी थी। नियत अवधि तक उपनयन संस्कार न होने से गृह्य सूत्रों के समय से व्यक्ति को शूद्र समझा जाता था। स्त्रियों के उपनयन की प्रथा न रहने के कारण उनसे यज्ञ और मंत्रोच्चारण का अधिकार छिनना स्वाभाविक था। मनु इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि यज्ञ करने वाला वेद का पारंगत विद्वान् तथा यज्ञक्रिया में निष्णात होना चाहिये। उपनयन न होने से स्त्रियाँ वेद की विदुषी नहीं होती थीं, अतः उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया। मनु ने यह कहा कि पत्नी को

मंत्रों के बिना ही यज्ञ में आहुति देनी चाहिये। उसका कथन है कि स्त्रियों के सब संस्कार मंत्रों के बिना किये जाने चाहिये।

स्त्रियों की स्थिति हीन होने पर इनके आजीवन संरक्षण का विचार विकसित हुआ। धर्मसूत्रों के समय से प्रायः प्रत्येक शास्त्राकार ने इस बात की घोषणा की है कि स्त्री को कहीं भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। मनु के कथनानुसार स्त्री की रक्षा बचपन में पिता, यौवन में पति और बुढ़ापे में पुत्र करते हैं, अतः स्त्री स्वतंत्र नहीं हैं, एक आधुनिक लेखिका रमाबाई ने इस पर कटु व्यंग्य करते हुए लिखा है कि हिंदू स्त्री केवल एक ही स्थान-नरक में स्वाधीन रह सकती है, किंतु स्त्रियों की परतंत्रता का सिद्धांत सर्वमान्य होते हुए भी इस युग में नारियों को कुछ क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त थी। यद्यपि मनु के अनुसार स्त्रियों को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं समझा जाता था, फिर भी मनु ने स्वयमेव स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार दिया है, वह इस बात की व्यवस्था करता है कि राजा को चाहिए कि वह पत्नियों की, साध्वी विधवाओं की, बाँझ और रोगग्रस्त स्त्रियों की संपत्ति की विशेष रूप से रक्षा करे। यदि संबंधी इस संपत्ति को हथियाने का प्रयत्न करें तो वह उन्हें चोरों की भाँति दण्डित करे। भाइयों को अपनी अविवाहित बहिन को संपत्ति में से कुछ हिस्सा बाधित रूप से देना पड़ता था। मनु ने माता को और याज्ञवल्क्य ने पहली बार पुत्रों के न होने की दशा में पत्नी को पति की संपत्ति का उत्तराधिकारी बनाया है। इन व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि यद्यपि नारी को सामान्य रूप से संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था, फिर भी कुछ विशेष दशाओं में तथा स्त्रीधन पर उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इस दृष्टि से इस युग में भारतीय नारी की स्थिति अंय देशों की नारियों की अपेक्षा अधिक उन्नत थी।

4.3.5 गुप्त काल में नारी

गुप्तकालीन समाज में नारियों की स्थिति उत्तरवैदिक काल की अपेक्षा पतित होती प्रतीत होती है। बाल-विवाह की प्रथा प्रारंभ हो जाने से सामान्यता नारियों के लिये उच्च शिक्षा का द्वार अवरूद्ध हो गया होगा। कन्याओं का उपनयन संस्कार और वैदिक शिक्षा बंद हो गयी थी, फिर भी मनुस्मृति में पुरुषों के समान ही स्त्रियों के शिक्षण और पालन-पोषण का मत प्रतिपादित किया है। स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता था। सुखी और समृद्धशाली परिवारों में कन्याओं को साहित्यिक और सांस्कृतिक शिक्षा दी जाती थी। मृच्छकटिक नाटक में अनेक पढ़ी-लिखी स्त्रियों का वर्णन है। संपन्न परिवार बृहनन्द, गणदास और हरदत्त जैसे विशेष शिक्षकों को अपनी कन्याओं की शिक्षा देने के लिये नियुक्त करते थे। स्त्रियाँ गायन, नृत्य, गृह-कार्य आदि में प्रवीण होती थीं। स्त्रियों को इतनी ऊँची शिक्षा भी दी जाती थी कि वे संस्कृत में ऋचाओं और श्लोकों को समझ सकती थीं और इनकी रचना भी कर सकती थीं। गुप्त काल में शीला, भट्टारिका आदि स्त्रियाँ कवित्रियाँ और लेखकों के रूप में प्रख्यात हैं। निर्धन स्त्रियाँ पति की अनुपस्थिति में अध्यापन कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती थीं। सांस्कृतिक कार्यों में उच्च जातियों और श्रेणियों की स्त्रियाँ रुचि पूर्वक हाथ बटाती थीं और शासन संचालन में प्रमुख भाग लेती थीं। चंद्रगुप्त द्वितीय की कन्या और वाकाटक नरेश रूद्रसेन द्वितीय की पत्नी प्रभावती गुप्त उच्च श्रेणी की शिक्षित और प्रतिभाशाली स्त्री थी। उसने अपने पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन की बाल्यावस्था में सफलतापूर्वक शासन संचालित किया। आदित्य सेन की माता और पत्नी शिक्षित थीं और सार्वजनिक कार्यों में विशेष अभिरूचि रखने वाली स्त्रियाँ थीं।

स्त्रियों की इस महत्ता के कारण वे सामाजिक और धार्मिक कार्यों में सहयोग प्रदान करती थीं। अनेक धार्मिक क्रियाविधियाँ और संस्कार बिना पत्नी के सहयोग और उपस्थिति के पूर्ण नहीं माने जाते

थे। गुप्तकाल में सम्राट की महारानी सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। गुप्त युग की मुद्राओं पर उत्की र्ण राजमहिषियों की आकृतियाँ इसके परिचायक है। इस युग के साहित्य स्त्रियों के ''स्त्री-धन'' का उल्लेख है। इसमें से वे दान-पुण्य करती थीं। इससे विदित होता है कि स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार था। कभी-कभी गृहस्थी जीवन से निराश होकर या ऊबकर भी स्त्री तपस्विनी या सन्यासिनी हो जाती थी।

4.3.5.1नारी शिक्षा

वैदिक काल में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था और वे विद्याभ्यास के निमित्त ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। उनका भी उपनयन संस्कार होता था। घोषा और लोपामुद्रा उस काल की उन विदुषियों में हैं जिन्होंने ऋचाओं की रचना की थी। परवर्ती काल में भी नारी-शिक्षा का महत्त्व बना हुआ था पर वे वैदिक अध्ययन से वंचित कर दी गयीं थीं। मनुस्मृति में एक ओर तो स्त्रियों के उपनयन की बात कही गयी है, दूसरी ओर उनके वैदिक मन्त्र उच्चारण करने का निषेध किया गया है और कहा गया है कि जिस यज्ञ में नारी का योग हो, उस आयोजन में ब्राह्मणों को भोजन नहीं करना चाहिए। गुप्त-काल आते-आते स्त्रियाँ उपनयन संस्कार से भी वंचित कर दी गयीं थीं। उनकी शिक्षा के विषय वैदिक साहित्य के स्थान पर लौकिक साहित्य हो गये।

4.3.5.2 पत्नी रूप में नारी

वात्स्यायन के अनुसार गुप्तकालीन आदर्श पत्नी का स्वरूप यह था कि वह अपने पति की देवता के समान सेवा करे, उसके घर आने पर उसकी देख-भाल करे और उसके खाने-पीने की समुचित व्यवस्था करे, व्रत-उपवासों में पति का साथ दे, उत्सवों, सामाजिक कृत्यों और धार्मिक जुलूसों में पति की आज्ञा प्राप्त करके ही जाये, उन्हीं आमोद-प्रमोदों में भाग ले जो उसके पति को पसंद हो, पति अपनी पत्नी में कोई दोष न देखे इसलिए वह संदिग्ध चरित्र की स्त्रियों के संसर्ग में न रहे, द्वार पर खड़ी न हो, अधिक देर तक एकांत में न रहे, अपने धन का अभिमान न करे, पति की अनुज्ञा बिना किसी को दान न दे, अपने पति के मित्रों का माला, सुगंधिआदि से यथोचित सम्मान करे, सास-ससुर की सेवा करे और उनकी आज्ञा का पालन करे, उनकी उपस्थिति में उत्तर न दे, मृदुवचन कहे, जोर से हँसे नहीं, नौकरों से समुचित काम ले और उत्सवों पर उनका यथोचित मान भी रखे।

पत्नी के लिए यह भी उचित था कि पति के विदेश जाने पर वह सन्यासी-सा जीवन व्यतीत करे, धर्मचिह्नों के अतिरिक्त कोई अंय आभूषण न धारण करे, धर्म-कार्य और व्रत-उपवास में लगी रहे, बड़े जो कहें वही करे, सुख-दुःख के अवसरों को छोड़ कर अंय अवसरों पर अपने सगे-संबंधियों के यहाँ भी न जाये और यदि जाये भी तो पति-परिवारवालों के साथ और वहाँ से थोड़ी ही देर में लौट आये, पति के वापस आने पर शालीन वस्त्रों में उससे मिले।

इस प्रकार का वैयक्तिक आचरण करते हुए पत्नी पर संपूर्ण गृह-व्यवस्था का उत्तरदायित्व था। वह पति, उसके माता-पिता, सगे-संबंधियों की देखभाल करती थी, घर को स्वच्छ, फर्श को चिकना रखना और गृहदेवता की पूजा करना उसका काम था, उसका यह भी काम था कि अपने बगीचे में तरकारी, फूल, फल, जड़ी-बूटी के पेड़-पौधे लगाये, उनके बीजों को समय पर एकत्र कर बोये, घर में अन्न की पूरी व्यवस्था रखे, खेती और दुधार तथा ठाठ पशुओं की देख -भाल करे, परिवार का वार्षिक बजट बनाकर उसके अनुसार व्यय करे, नित्य-प्रति का हिसाब रखे। पति की अनुपस्थिति में घर की व्यवस्था बिगड़ने न पाये यह भी उसका उत्तरदायित्व था। इसके लिए वह आय बढ़ाने और व्यय घटाने का प्रयत्न

करे। यदि परिवार में सौत हो और वह आयु में छोटी हो तो उसे बहन के समान और यदि बड़ी हो तो माता के समान माने।

4.3.5.3 स्त्री-संग्रहण

सर्व विदित है कि गुप्तकाल में पत्नी से सदैव पति के प्रति निष्ठ रहने की आशा की जाती थी, पर व्यवहार में कदाचित् ऐसा नहीं था। गुप्त-काल में पर-स्त्री और पर-पुरुष संबंधप्रचलित था और समाज इस बात से भली-भाँति परिचित भी था। वात्स्यायन ने इस प्रकार के प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन की विस्तार से चर्चा की है। स्मृतिकार भी इस स्थिति से भली-भाँति परिचित थे। कदाचित् इसी कारण उनकी परिभाषा के अंतर्गत न केवल स्त्री-पुरुष का एक ही शैया पर बैठना, सोना, आलिंगन-चुम्बन आदि ही संग्रहण था, वरन् स्त्री के साथ खाना, उसके कपड़े पकड़ना, उसके आभूषण को छूना, उससे मजाक करना और सुगंधि और पुष्पहार भेंट करना भी उनकी दृष्टि में संग्रहण था। यही नहीं उन्होंने एकांत, अरण्य, पनघट, ग्राम के बाहर, नदी के संगम आदि पर पर-पत्नी से वार्तालाप को भी संग्रहण घोषित किया है और इन सबको उन्होंने दंडनीय ठहराया है। संग्रहण के अपराध के लिए उन्होंने अर्थ-दंड ही नहीं लिंगोच्छेदन और मृत्यु-दंड का भी विधान किया है। उनकी दृष्टि में उच्च वर्ण की स्त्री का संग्रहण निम्न वर्ण की स्त्री की अपेक्षा अधिक गम्भीर अपराध था, इसी प्रकार उन्होंने ब्राह्मण अपराधी के लिए कम और शूद्र अपराधी के लिए अधिक दंड का विधान किया है। विष्णु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति ने समान वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए अधिकतम आर्थिक दंड, निम्न वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए मध्यम अर्थ-दंड और उच्च वर्ण की स्त्री के संग्रहण के लिए, मृत्युदंड का विधान किया है। शूद्र को प्रत्येक अवस्था में मृत्यु-दंड का अधिकारी माना है। संग्रहण के संबंधमें उन्होंने कुछ अपवाद भी प्रस्तुत किये हैं। यथा-वेश्या तथा ऐसी दासी का संग्रहण अपराध न था, जो स्वामी द्वारा नियंत्रित न हो। ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त अंय वर्ण की कुलटा स्त्री के साथ, यदि वह किसी की रखैल न हो, सहवास भी अपराध न था। भिक्षुणी के संग्रहण को स्मृतिकारों ने कोई महत्व नहीं दिया है। उसके लिए उन्होंने नाममात्र का अर्थ-दंड ही पर्याप्त माना है।

पति की उपेक्षा करने वाली स्त्री के लिए कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, मनु, बृहस्पति, विष्णु और कात्यायन ने उसके लिए मृत्यु-दंड की व्यवस्था की है, किंतु इसके साथ ही स्मृतिकारों का यह भी कहना है कि स्त्री प्रायश्चित्त न करे तभी उसके साथ कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए, उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए और उसे भोजन से वंचित कर देना चाहिए। संग्रहणकृत स्त्री प्रायश्चित्त मात्र से अथवा कुछ स्मृतियों के अनुसार, मासिक स्राव होने के पश्चात् स्वयं पवित्र हो जाती है। वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य का कहना था कि अंय वर्ण के संसर्ग से गर्भवती स्त्री प्रसव-काल तक और तदनंतर मासिक स्राव आरंभ होने तक ही अपवित्र रहती है। तदनंतर वह पवित्र हो जाती है। यदि स्त्री शूद्र अथवा निम्न वर्ण के साथ सहगमन करे और उससे गर्भवती हो या पुत्र उत्पन्न करे तो उस अवस्था में उसे त्याग देना चाहिए। इन बातों से ऐसा ज्ञात होता है कि समाज, संग्रहण के संबंधमें पुरुष के प्रति अधिक कठोर था और नारी के प्रति उसके भाव उदार थे, किंतु यह उदार भावना कदाचित् उन्हीं अवस्थाओं में रही होगी जब उसकी सहमति से संग्रहण न हुआ हो और उसके साथ बलात्कार किया गया हो।

4.3.5.4 विधवा

पति की मृत्यु के उपरांत सामान्यतः स्त्रियाँ वैधव्य जीवन व्यतीत करती थीं। विधवा स्त्रियों के लिए स्मृतिकारों ने आत्मसंयम और सतीत्व के साथ रहने और सादा जीवन व्यतीत करने का विधान किया है। वे न तो आभूषण धारण कर सकती थीं और न केश सँवार सकती थीं। वे उबटन भी नहीं लगा

सकती थीं। इस प्रकार वे सात्त्विक जीवन बिता सकें, इसलिए उन्हें कुछ स्मृतिकारों ने पति की संपत्ति में उत्तराधिकार प्रदान किया था।

साथ ही गुप्त-काल में विधवा एवं अंय स्त्रियों के पुनर्विवाह के प्रचलन की भी बात ज्ञात होती है। यद्यपि वह बहुप्रचलित न था। नारद और पराशर ने पाँच विशिष्ट अवस्थाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह कर लेने की अनुमति दी है। उनमें एक पति की मृत्यु भी है, किंतु इस प्रकार का विवाह उन्होंने देवर या संबंधी के साथ ही उचित ठहराया है। अमरकोश में पुनर्विवाहित के अर्थ में न केवल पुनर्भू शब्द का उल्लेख किया है वरन् पुनर्भु पत्नीवाले द्विज पति के लिए विशेष शब्द और उसके पर्याय भी दिये हैं। कात्यायन स्मृति में वयस्क और ऊन संतान रहते हुए दूसरा पति करने वाली स्त्रियों की चर्चा की है। दायभाग और उत्तराधिकार के अंतर्गत उन्होंने ऐसी स्त्री के पुत्र के दाय पर भी विचार किया है जिसने पति को नपुंसक होने के कारण त्याग दिया हो, किंतु वात्स्यायन के कामसूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि विधवाओं का विधिवत् पुनर्विवाह नहीं होता था। वे स्वैच्छित पुरुष के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकती थीं और समाज उसे मान्य करता था, किंतु वात्स्यायन के कथन से यह भी प्रकट होता है कि पुनर्भू पत्नियों को विवाहित पत्नी के समान सामाजिक स्थिति प्राप्त न थी। उनकी स्थिति को उन्होंने कुमारी और सुरैतिन (रखैल) तथा देवी और गणिका के बीच बतायी है। उनके इस कथन में कितना सार है कहना तनिक कठिन है। द्वितीय चंद्रगुप्त ने अपने भाई की पत्नी ध्रुवस्वामिनी के साथ पुनर्विवाह किया था, किंतु ध्रुवस्वामिनी की स्थिति किसी विवाहित पत्नी से कम प्रतीत नहीं होती।

4.3.5.5 संपत्तिक अधिकार

पूर्ववर्ती काल के समान ही गुप्त-काल में संयुक्त परिवार व्यवस्था समाज में प्रचलित थी। वयोवृद्ध व्यक्ति का पूरे परिवार पर अनुशासन होता था और परिवार के सभी लोग उसका अनुशासन मानते थे। पारिवारिक विवादों में उसका निर्णय सर्वथा मान्य होता था और न्यायालय भी उसकी बातों का आदर करती थी। इसी प्रकार उसकी पत्नी का भी परिवार के भीतर उतना ही महत्त्व था। स्मृतियों ने पिता के जीवन-काल में बँटवारे की बात को हेय ठहराया है।

पारिवारिक संपत्ति में पुत्रों का जन्मना समान भाग था। कतिपय अपवाद की स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक अंश प्राप्त होता था। पति की संपत्ति में विधवा के अधिकार के संबंध में स्मृतिकारों में मतभेद हैं। यदि मृत्यु के समय पति संयुक्त परिवार का सदस्य था तो उन्होंने विधवा का जीवन-निर्वाह का अधिकार स्वीकार किया है, किंतु यदि वह अलग रहता था तो याज्ञवल्क्य और बृहस्पति ने विधवा का जीवन-काल तक पति के अंश पर उत्तराधिकार माना है पर विधवा के इस अधिकार को भी उस समय तक बहुत मान्यता प्राप्त न हो सकी थी।

इस प्रकार नारियों को पारिवारिक संपत्ति में तो कोई अधिकार न था पर विवाह के उपलक्ष्य में मिली वस्तुओं, पति-गृह जाते समय दिये गये धन, प्रेमस्वरूप प्राप्त भेंट, माता, पिता और भाई से मिले धन पर उनका एकाधिकार था। वह स्त्री-धन कहा जाता था और उसके उपयोग और उपभोग की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी।

4.3.6 हर्ष कालीन नारी

हर्ष-कालीन समाज में उच्च वर्ग की स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार था। राजकुमारी राज्यश्री को संगीत एवं नृत्य की शिक्षा दी गई थी। हर्षचरित 'प्रियदर्शिका' नाटिका में राजा अपनी रानी को दासी प्रियदर्शिका के लिये नृत्य एवं संगीत की व्यवस्था करने का कार्य-भार सौंपता है। स्त्रियाँ चित्रकला में पटु

होती थीं। 'रत्नावली' की नायिका वर्तिका एवं समुद्गक में रखे रंगों कीसहायता से चित्रफलक पर अपने प्रेमी का चित्र बनाती हुई प्रदर्शित की गई है। इन नाटिकाओं में चित्रशालाओं एवं गंधर्वशालाओं का भी उल्लेख हुआ है। हर्षचरित में बाण ने थानेश्वर नगर-निवासिनी नारियों का सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार वे गजगामिनी, शीलवती, ऐश्वर्य में अनुरक्ता, गौरवर्ण वाली, लाल मणियों के आभूषण धारण करने वाली, यामा (साँवली) चंद्रमा के समान सुंदर शरीर और शिरीष के फूल के समान कोमलांगी, कंचुक धारण करने वाली, लावण्यवती, मधुरभाषिणी, प्रमाद-शून्या एवं प्रसन्न-चित्त वाली थीं। उन सुंदरियों की आँखें ही सिर की सहज फूलमाला बन जातीं, मुख पर छितराये हुये बालों के प्रतिबिंब ही क्लेश न देने वाले कर्णावतंस बन जाते और अपने प्रिय की कथा ही उनके लिये कान का सुंदर आभूषण बन जाती। उनके कपोल ही निरंतर आलोक उत्पन्न करते और उनकी सुगंधित साँसों पर उलझते हुये भौंरे ही उनके मुख पर सुंदर घूँघट-पट का काम करते थे। वीणा के तारों से निकलने वाली ध्वनिसदृश्य उनकी मधुर वाणी थी, उनकी मुस्कानें ही सुगंधित पटवास का काम देती थीं।

माता के रूप में स्त्री बड़े प्रेम, श्रद्धा एवं सम्मान से देखी जाती थी, क्योंकि मातृत्व में ही भारतीय स्त्रीत्व का पूर्ण विकास होता था। जब अपनी माता यशोमती के आत्म-दाह के संकल्प से कातर हर्ष ने उन्हें ऐसा न करने का आग्रह किया, उस समय उनकी माता के उद्गार भारतीय नारीत्व के चरम गौरव की अभिव्यक्ति करते हैं उन्होंने हर्ष को संबोधित करते हुये कहा, ''वत्स, तुम मेरे प्रिय नहीं हो, ऐसी बात नहीं है और निर्गुण एवं परित्याग के योग्य भी नहीं हो। दूध के साथ ही तुमने मेरे हृदय को पी लिया है। अवश्य ही इस समय अत्यधिक पति-भक्ति से अंतरित हो जाने के कारण मेरी दृष्टि तुम्हें नहीं देख पा रही है और भी हे प्यारे पुत्र, पर-पुरुष को देखने का व्यसन रखने वाली राज्य का उपकरण मात्र एवं करूणा-विहीन राज्यलक्ष्मी या पृथ्वी भी मैं नहीं हूँ। मैं तो कुलकलत्र हूँ, चरित्र ही हमारा धन है और धर्म से उज्जवल कुल में मैंने जन्म लिया है। इस प्रकार जब मेरे सब अंग कृतकृत्य हो गये हैं, तो क्षीण पुण्योंवाली मैं अब और किसकी चाह करूँ ? इसीलिये अविधवा ही रह कर मरना चाहती हूँ। विधवा रति की भाँति मैं जले हुये अपने पति के शोक में निरर्थक प्रलाप नहीं कर सकती। तुम्हारे पिता के पैर की धूल के समान आकाश में अपने गमन को पहले ही सूचित करती हुई शूरानुरागिणी देवांगनाओं केआदर का पात्र बनूँगी। वस्तुतः बाण के ही शब्दों में वे स्त्रीत्व की पवित्रता की साक्षात् अवतार थीं।

समाज में पर्दा की प्रथा शिथिल जान पड़ती है, क्योंकि राज्यश्री कन्नौज की धर्म-परिषद् में अपने भाई हर्ष के पीछे बैठी हुई युआन च्वांग के भाषण सुना करती थीं। बाण के अनुसार अंत:पुर में प्रवेश पर प्रतिबंध अवश्य था और कंचुकी प्रतीहार तथा षंडों को छोड़कर और दूसरे को प्रवेशाधिकार नहीं था, परंतु संभवत: साधु-सन्यासी इस प्रतिबंध से मुक्त थे। हर्षचरित में थानेश्वर की कुल-वधुओं का वर्णन करते हुये बाण ने बतलाया है कि वे सदा अपने मुँह पर घूँघट डाले रहती थीं। स्त्रियाँ संतान के जन्म के समय, विवाह या अंय शुभ अवसरों पर अनेक प्रकार के व्रत रखतीं, उत्सव मनातीं तथा नाना प्रकार के मांगलिक अनुष्ठान करती थीं। सती की प्रथा प्रचलित थी और हर्ष की माता यशोमति ने प्रभाकरवर्धन की मृत्यु को समीप आया जानकर सधवावस्था में ही वैधव्य के दाह से बचने के लिये सरस्वती तट पर आत्मदाह कर लिया था। राज्यश्री भी वैधव्य की दारूण ज्वाला से ऊब कर विन्ध्य के जंगलों में अग्नि-प्रवेश करने ही जा रही थी कि हर्ष ने समय से पहुँच कर उसे ऐसा करने से रोक लिया था। हर्ष की 'प्रियदर्शिका' नाटिका में भी विन्ध्यकेतु की स्त्री के सती होने का उल्लेख है।

4.3.7 राजपूत कालीन नारी

4.3.7.1 पुत्री के रूप में

राजपूत काल के साहित्य से ज्ञात होता है कि पुत्री की स्थिति अब परिवार में पुत्र की अपेक्षा बहुत गिर गई थी। 'कथासरित्सागर' में लिखा है कि पुत्र सुख का प्रतीक है और पुत्री दुख का मूल है। इस काल में प्रायः सभी विधायक पुत्री को पिता की संपत्ति में कुछ भाग दिलाने के पक्ष में थे। शुक्र का मत था कि यदि पिता अपने जीवन काल में अपनी संपत्ति का बँटवारा करे तो इस अनुपात में बाँटे-पत्नी 1 भाग, प्रत्येक पुत्र 1 भाग व प्रत्येक पुत्री आधा भाग। मेधातिथि पुत्री को दाय देने के विरूद्ध था।

4.3.7.2 पत्नी के रूप में

इस काल के स्मृतिकार यह आशा करते थे कि पत्नी हर प्रकार से पति की सेवा करे जैसे कि पैरों की मालिश करना, परंतु पति से भी यह आशा की जाती थी कि वह अपनी पत्नी के सुख का पूर्ण ध्यान रखे। पति और पत्नी दोनों ही एक दूसरे पर अत्याचार होने पर राजा के द्वारा कानूनी कार्यवाही करके उस अत्याचार का प्रतिकार कर सकते थे। पत्नी के भरण-पोषण का पूरा उत्तरदायित्व पति पर समझा जाता था। मेधातिथि का मत था कि अपराध करने पर भी पति को पत्नी को अपने घर से बाहर नहीं निकालना चाहिए। मत्स्य पुराण के अनुसार मनु की भाँति पत्नी को ठीक रास्ते पर लाने के लिए पति उसे रस्सी या बाँस से मार सकता है, किंतु मेधातिथि पत्नी को पीटने के पक्ष में नहीं है। वह उसे डाँटने-फटकारने के पक्ष में है। बहुत ही बड़ा अपराध होने पर यदा-कदा उसको पति मार सकता था। वह उस पर जुर्माना भी कर सकता था। किसी बड़े अपराध, जैसे कि पर-पुरुषगमन करने पर यदि स्त्री का परित्याग भी करना पड़े तो मनु के अनुसार पति को उसके निर्वाह के लिए आवश्यक धन देना चाहिए। यदि पति पतिव्रता स्त्री को अकारण छोड़ दे तो राजा को उसे दंड देना चाहिए।

पति के विदेश से दीर्घ काल तक न लौटने पर पत्नी को क्या करना चाहिए। इस विषय में तत्कालीन धर्मशास्त्रकार एकमत नहीं हैं। कुछ कहते हैं कि उसे ऐसा कार्य करना चाहिए। जिससे समाज में उसकी निंदा न हो। कुछ दूसरा विवाह करने की भी अनुमति देते हैं। स्मृतियों के टीकाकारों का मत था कि पति और अंय मनुष्य संबंधियों को स्त्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। पतियों को अपनी पत्नियों को वस्त्र व आभूषण देकर प्रसन्न रखना चाहिए, किंतु सदा गृहकार्य में इतना व्यस्त रखना चाहिए कि वे अंय पुरुषों के विषय में सोच भी न सकें। इस काल में भी अभिजात वर्ग के मनुष्य कई पत्नियाँ रखते थे।

4.3.7.3 विधवा की स्थिति

विधवा को पति की स्मृति में पवित्र जीवन बिताना चाहिए। वृद्ध हारीत ने लिखा है कि विधवा को बाल सँवारना छोड़ देना चाहिए। पान, सुगंधित वस्तुओं, फूल, आभूषणों और रंगीन वस्त्रों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंजन नहीं लगाना चाहिए। इंद्रियों का दमन करना चाहिए। सदा हरि की पूजा करनी चाहिए और रात्रि को कुशा की चटाई पर सोना चाहिए। राजा को विधवा की संपत्ति की रक्षा करनी चाहिए। यदि विधवा संयम का जीवन न बिताये तो राजा उसे पति के मकान से निकाल सकता था।

इस काल में कुछ स्मृतिकार विधवा के सती होने के पक्ष में थे और कुछ इसके विरूद्ध। सुलेमान ने लिखा है कि विधवा स्त्रियाँ अपनी इच्छा से सती होती थीं, किंतु यह प्रथा इस काल में भी उत्तर भारत के राजकीय घरानों तक ही सीमित थी। दक्षिण भारत में सती की प्रथा बहुत कम थी और सुदूर दक्षिण में अपवादस्वरूप। राजस्थान में 842 ई. में चाह्मान चंडमहासेन की माता सती हुईं। कलचुरि वंश के चेदिराजा गांगेयदेव के साथ उसकी एक सौ पत्नियाँ त्रिवेणी में 1020 ई. में डूब गईं। कश्मीर में भी सती के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजा कलश, उत्कर्ष और उच्छल की पत्नियाँ अपने पतियों के शवों के

साथ सती हुईं। ब्राह्मणों में 1000 ई. के बाद इस प्रथा का आरंभ हुआ। सातवीं शताब्दी में भी राजपरिवारों में सती के कई उदारहण मिलते हैं। हर्ष की माता यशोमती को जब यह ज्ञात हुआ कि प्रभाकर वर्धन का रोग असाध्य है तो वह पति की मृत्यु से पूर्व ही जल कर सती हो गई, किंतु बाणभट्ट सती के पक्ष में न था। अग्निपुराण में लिखा है कि जो स्त्री पति के शव के साथ अग्नि में प्रविष्ट होती है वह स्वर्ग जाती है। 700 ई. के लगभग अंगिरस और हारीत स्मृतियाँ लिखी गईं वे सती की प्रशंसा करती हैं किंतु मेधातिथि सती प्रथा का विरोध करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में सती प्रथा के विषय में सब विद्वान एकमत न थे।

पर्दे की प्रथा

कुछ धनी परिवारों में पर्दे की प्रथा इस काल में विद्यमान थी, किंतु अबूजैद के अनुसार भारतीय राजाओं की राज-सभाओं में स्त्रियाँ विदेशी मनुष्यों की उपस्थिति में बिना पर्दे के उपस्थित होती थीं। इससे स्पष्ट है कि पर्दे की प्रथा देश के सभी भागों में न थी और जनसाधारण में तो इसका प्रचलन मुसलमानों के आने के बाद ही हुआ। इसके दो कारण थे - एक कारण तो यह था कि हिंदू स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए पर्दा करने लगीं। दूसरे, हिंदू राजा शाही घरानों की देखा देखी अपनी पत्नियों से पर्दा करवाने लगे।

शिक्षा

इस काल में कन्याओं की उच्च शिक्षा धनी परिवारों तक सीमित थी। उन्हें साहित्य के अतिरिक्त संगीत, नृत्य और चित्रकला की शिक्षा दी जाती थी। मंडन मिश्र की पत्नी अपने पांडित्य के लिए प्रसिद्ध थी। संस्कृत सुभाषितावलियों से हमें ज्ञात होता कि इस काल की कुछ स्त्रियाँ अपनी मनोहर काव्य-शैली के लिए प्रसिद्ध थीं जैसे कि शील भट्टारिका और गुजरात की देवी नाम की कवयित्री। राजशेखर ने विजयाँका की तुलना सरस्वती से की है। राजशेखर की पत्नी भी अपनी कविता और उच्चकोटि की साहित्य-समालोचना के लिए प्रसिद्ध है।

इस काल के स्मृतिकार साधारणतया यौवनारंभ से पूर्व विवाह करने के पक्ष में थे। बृहद्यम कहता है कि पिता को पुत्रियों का विवाह 8-9 वर्ष की अवस्था में कर देना चाहिए। उसके अनुसार जो पिता अपनी पुत्री का विवाह दस वर्ष की आयु होने से पूर्व नहीं करता वह महान पाप का भागी होता है। इस काल में भी कुछ गांधर्व विवाह होते थे। इनमें संस्कार वस्वधू के मिलने के बाद होता था।

संपत्ति संबंधी अधिकार

सातवीं शताब्दी से स्त्रीधन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया। देवल ने निर्वाह के लिए प्राप्त धन और लाभ को भी स्त्री-धन में सम्मिलित कर दिया। विज्ञानेश्वर ने आदि शब्द से पिता से दाय रूप में मिली संपत्ति, खरीदी हुई संपत्ति, बँटवारे से मिली संपत्ति और जिस पर अधिक समय तक अधिकार रहने के कारण स्वामित्व हो गया हो-ऐसी सभी संपत्ति को स्त्रीधन में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार बारहवीं शती ई. तक स्त्री-धन का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। अधिकतर टीकाकार विज्ञानेश्वर के विचारों से सहमत थे। उन्होंने स्त्रियों के प्रति बहुत उदारता दर्शाई। इसमें संदेह है कि विज्ञानेश्वर विधवा स्त्री को अचल संपत्ति बेचने का अधिकार देना चाहता था। संभवतः वह यह चाहता था कि विधवा स्त्री इस अचल संपत्ति को अपनी पुत्री को दे सके क्योंकि उसने स्पष्ट लिखा है कि स्त्रीधन पुत्रियों को मिलना चाहिए, उनमें भी पहले अविवाहित पुत्री को और फिर विवाहित पुत्रियों को।

4.3.8 सारांश

4.3.8.1 वैदिक काल

वैदिक परिवार पितृप्रधान होता था। यहाँ पुत्री की अपेक्षा पुत्र का महत्व सदा से रहा है। इसी से ऋग्वेद में पुत्र तथा पौत्र की कामना करना तथा क्षमा याचना भी पुरूष वर्गों के लिए ही वहाँ है। ऐतरेय ब्राह्मण में पिता को ही परिवार का संरक्षक कहा गया है तथा पुत्री को कष्ट का कारण बताया गया है। अथर्ववेद में पति अपनी पत्नी से पुत्र प्रजनन की कामना करता है, फिर भी यदि पुत्री हो जाती थी तो उसके प्रति आदर और प्रेम का व्यवहार व्यक्त नहीं किया जाता था। गर्भिणी पत्नी को इस आशय से कुछ औषधियाँ खिलाई जाती थीं कि वह पुत्र प्रजनन करने वाली हो जाये। इस आधार पर डॉ. आर. एम. दास ने ठीक ही कहा है कि विवाह का उद्देश्य केवल संतति नहीं वरन् पुत्र प्रजनन था।

4.3.8.2 मौर्य काल

मनु ने पुँसवन संस्कार के समय 'संतति' प्रजनन की बात की है। आगे उन्होंने यह भी कहा है कि पुत्री, पुत्र के समान होती है। यह विवरण सिद्ध करता है कि समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की मान्यता अधिक थी इसी से पुत्री को भी पुत्र के समान लाने के लिए मनु ने ऐसा कहा है, किंतु मनु के व्याख्याकारों ने पुत्र की ही महत्त्व पर बल दिया है। दूसरी ओर मनु भी कहते हैं कि श्राद्ध में पुत्रि का पुत्र को तथा पुत्री के पति को आमन्त्रित करके उचित रूप से उसका आदर-सत्कार करना चाहिए तथा उसे भोजन कराना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि स्मृतिकार मनु पुत्री की महत्त्व स्वीकार करते हैं।

4.3.8.2 गुप्त काल

नारी के प्रति वैदिक (ब्राह्मण) समाज का व्यवहार दिनों-दिन कठोर होता गया। उत्तरवैदिक काल से पुरुष का उसके प्रति अविश्वास तथा अनुत्तरदायित्व की भावना बढ़ती गई। गुप्तकाल में पत्नी पर गृहस्थी के सारे कार्यों का सुचारू रूप से संचालन करने का भार था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह पति को देवता के समान समझ कर उसकी सेवा करे, उसे सुखी बनाने की व्यवस्था करे, व्रत-उपवासों में पति का साथ दे, उत्सवों, सामाजिक कार्यों और धार्मिक जुलुसों में पति की आज्ञा प्राप्त करके जाये और उन्हीं मनोरंजन में भाग ले जो पति को पसंद और प्रिय हों। उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सास-ससुर की भी सेवा करे और उनकी आज्ञा का पालन करे। मनुस्मृति में लिखा है कि सभ्य नागरिक की पत्नी को दैनिक, मासिक, तथा वार्षिक आय एवं व्यय का विवरण रखने के लिये ज्ञान आवश्यक है। स्त्रियों की इस महत्ता के कारण वे सामाजिक और धार्मिक कार्यों में सहयोग प्रदान करती थीं। अनेक धार्मिक क्रियाविधियाँ और संस्कार बिना पत्नी के सहयोग और उपस्थिति के पूर्ण नहीं माने जाते थे।

4.3.8.3 राजपूत काल

राजपूतकाल में काल के स्मृतिकारों का भी यही मत था कि यदि कोई पुरुष जबर्दस्ती किसी स्त्री से संभोग कर ले तो उसके पति को उसे छोड़ना नहीं चाहिए। उस स्त्री के प्रायश्चित्त करने पर पति को उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। अत्रि तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि कोई स्त्री अंय पुरुष के सहवास के कारण गर्भवती हो जाए तो जब बालक का जन्म हो जाए तब उसका पति उस बालक को किसी अंय व्यक्ति को दे दे और प्रायश्चित करने पर उस स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर ले। 900 ई. तक अपहृत स्त्रियों के प्रति समाज का यही दृष्टिकोण रहा, किंतु ग्यारहवीं शताब्दी से मुसलमानों द्वारा अपहृत स्त्रियों के लिए समाज में कोई स्थान न रहा।

4.3.8.4 निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज में नारियों का स्थान बड़ा ही सम्मानित था। इनको आर्ये, साध्वी, देवी आदि आदर सूचक शब्दों से संबोधित किया जाता था। यदि उनका कोई उपयुक्त संरक्षण नहीं होता था तो यह राज्य का धर्म था कि उनके हित की रक्षा करे। भीड़ भरे मार्ग में उनके लिए रास्ता छोड़ना प्रत्येक शिष्ट व्यक्ति का धर्म होता था। स्त्री पर कभी भी क्रोध नहीं किया जाता था। किसी भी स्त्री की रक्षा करना पुरुष का धर्म होता था। स्त्रियों को हाथ जोड़ कर प्रणाम करना पर पुरुष का धर्म था।

प्राचीन भारतीय इतिहास के गहन अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 300 ई. पू. के बाद ही सभी अच्छी प्रथाएँ समाप्त हो गईं तथा बुरी प्रथाएँ समाज में प्रचलित होने लगीं। शिक्षा के क्षेत्र में देखा गया कि 300 ई. पू. के पहले नारी शिक्षा बड़ी उन्नतिशील थी पर इसके बाद इसमें क्रमशः पतन होता गया। प्रौढ़ विवाह भी 300 ई. पू. के बाद समाप्त होकर बाल-विवाह को अपना स्थान दे दिया। विधवा विवाह भी इसी के बाद समाप्त हो गया। सती तथा पर्दा प्रथाएँ जो समाज के लिए अभिशाप हैं वे इसी समय के बाद प्रारंभ हुईं इस प्रकार 300 ई. पू. नारी के विकास में वह समय नियंत्रक केंद्र है जहाँ से अच्छी प्रथाएँ समाप्त हो कर बुरी प्रथाओं का जागरण हुआ।

4.3.9 बोध प्रश्न

4.3.9.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. ऋग्वैदिक काल में नारी की स्थिति पर प्रकाश डालिये।
2. उत्तरवैदिक काल में नारी की दशा पर एक लघु नोट लिखिये।
3. वैदिक काल में नारी शिक्षा के विषय में आप क्या जानते हैं ?
4. वैदिक काल में नारी को संपत्ति में क्या अधिकार थे ? समझाइये।
5. गुप्त काल में नारी शिक्षा पर प्रकाश डालिये।
6. गुप्तकाल में पत्नी के रूप में स्त्री के क्या कर्तव्य थे ? संक्षेप में लिखिये।
7. गुप्तकाल में स्त्री संग्रहण पर प्रकाश डालिये।
8. गुप्त काल विधवा नारी की स्थिति को समझाइये।
9. राजपूत काल में पर्दा प्रथा की क्या स्थिति थी ? संक्षेप में समझाइये।
10. राजपूत काल में पुत्री का संपत्ति में क्या अधिकार था ? स्पष्ट कीजिये।

4.3.9.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. वैदिक काल में नारी की स्थिति का वर्णन कीजिये।
2. मौर्य कालीन नारी की स्थिति की विवेचना कीजिये।
3. गुप्तकाल में नारी की दशा को विस्तार से समझाइये।
4. हर्ष कालीन नारी पर एक लेख लिखिये।
5. राजपूत काल में नारी की स्थिति का वर्णन कीजिये।
6. प्राचीन भारतीय समाज में नारी का स्थान निर्धारित कीजिये।
7. वैदिक काल से गुप्तकाल तक नारी की स्थिति में क्या परिवर्तन हुए ? समीक्षा कीजिये।
8. प्राचीन भारत में नारी शिक्षा की विवेचना कीजिये।
9. प्राचीन भारत में नारी कौन से संपत्ति संबंधी अधिकार प्राप्त थे? विस्तार से समझाइये।
10. प्राचीन भारत में नारी के कर्तव्यों की विवेचना कीजिये।

4.3.10 संदर्भग्रंथ

1. मिश्र, उर्मिला प्रकाश : प्राचीन भारत में नारी, भोपाल, 1980
2. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985
3. शर्मा, एल. पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
4. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
5. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
6. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
7. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
8. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
9. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
10. लूनिया, बी. एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
11. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1975
12. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
13. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
14. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
15. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
16. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
17. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
18. लूनिया, बी. एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989
19. अल्तेकर, ए. एस. एजुकेशन इन ऐन्शियन्ट इंडिया, दिल्ली, 1944
20. मुकर्जी, आर. के. : ऐन्शियन्ट इंडियन एजुकेशन, दिल्ली, 1947
21. सहाय, एस. एस. : हिंदु सामाजिक संस्थायें एवं आर्थिक जीवन, दिल्ली, 1992
22. जैन, के. सी. : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, भोपाल, 1984
23. सहाय, एस. एस. : प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, दिल्ली, 1992

खंड - 4 संस्कृति का विकास

इकाई – 4 बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रसार

इकाई की रूपरेखा

4.4.1 उद्देश्य
4.4.2 प्रस्तावना
4.4.3 भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारण
4.4.4 भारत - ईरान संबंध
4.4.5 भारत - मिस्र संबंध
4.4.6 भारत - यूनान संबंध
4.4.7 भारत - रोम संबंध
4.4.8 भारत - अरब संबंध
4.4.9 भारत - चीन संबंध
4.4.10 भारत - तिब्बत संबंध
4.4.11 भारत - श्रीलंका संबंध
4.4.12 भारत - बर्मा संबंध
4.4.13 भारत - कंबोडिया संबंध
4.4.14 भारत - कंबुज संबंध
4.4.15 भारत - चंपा संबंध
4.4.16 भारत - थाईलैंड संबंध
4.4.17 भारत - सुमात्रा संबंध
4.4.18 भारत - मलाया संबंध
4.4.19 भारत - बोर्नियो संबंध
4.4.20 भारत - जावा संबंध
4.4.21 भारत - बाली संबंध
4.22 सारांश
4.4.23 बोध प्रश्न
4.4.23.1 लघुउत्तरीय प्रश्न
4.4.23.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न
4.4.24 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.4.1 उद्देश्य

बृहत्तर भारत से तात्पर्य भारत से बाहर उस विशाल भूभाग से है जहाँ प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ तथा जिसमें प्राचीन भारतीयों ने अपने उपनिवेशों की स्थापना की। पाश्चात्य विश्व के साथ भारत का संपर्क मूलतः व्यापारिक था, किंतु एशियायी देशों में न सिर्फ भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ बल्कि उनमें से अनेक में भारतीयों ने अपने राज्य भी स्थापित कर लिए थे। इन सभी भूभागों को मिलाकर बृहत्तर भारत का निर्माण होता है। प्राचीन काल में भारतीयों ने एशिया के प्रायः सभी देशों

को अपनी सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाया। विदेशों में जाकर उन्होंने व्यापार का विस्तार किया। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विश्व तथा बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर विस्तार से प्रकाश डालना है।

4.4.2 प्रस्तावना

प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति भारत से बाहर मध्य एशिया, पूर्वी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के भागों में फैली थी। प्राचीन काल में विश्व के कई देशों जैसे यूनान, मिस्र, रोमन साम्राज्य एवं अरब के साथ भारत के संबंधरहे। एशियायी देशों में, बर्मा थाईलैंड, चंपा, कंबुज, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो तक के भूखंड भारतीयों ने आबाद किये। प्राचीन काल में दक्षिण पूर्वी एशिया का भू-भाग भारत का ही अंग समझा जाता था। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के अवशेष इतने अधिक मिले हैं कि आधुनिक विद्वान इसे दूसरा भारत कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में बृहत्तर भारत में भारतीय
संस्कृति के प्रसार को वर्णित करना प्रस्तावित है। इकाई के अंत में पाठ का सारांश, बोधप्रश्न एवं संदर्भ ग्रंथ सूची भी दी जावेगी।

4.4.3 भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारण

(1) भारतवर्ष की अनुकूल केंद्रीय स्थिति

प्राचीन युग में हिंद महासागर में स्थित होने के कारण भारत की केंद्रीय अनुकूल स्थिति थी और वह प्राचीन विश्व के सभ्य तथा सुसंस्कृत देशों के सामुद्रिक मार्गोंके मध्य में पड़ता था। वह पूर्व और पश्चिम के देशों को परस्पर संबंधितकरने के हेतु एक कड़ी के समान था। इसके अतिरिक्त भारत एशिया के दक्षिण भाग में स्थित होने से एशिया के विभिन्न देशों के साथ जल और थल दोनों मार्गों से अपना संबंध सरलता से स्थापित कर सका। अत्यंत प्राचीन काल से ही भारतीय पूर्व और पश्चिम के विभिन्न देशों को आते-जाते रहे और उन्होंने इन देशों से अपने संबंधस्थापित कर लिये।

(2) स्वर्ण की लालसा एवं व्यापारिक सोच

पूर्व के देश जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया, ब्रह्मा आदि प्राचीन काल में धन-धान्यपूर्ण देश थे। वे स्वर्ण की खानों के देश समझे जाते थे। उनकी धन-संपन्नता और स्वर्ण की खानों के कारण भारतवासी इन पूर्वी देशों को स्वर्णभूमि या स्वर्णद्वीप कहते थे। अनेक भारतीय स्वर्ण प्राप्त करने की अधिक लालसा के कारण समुद्र पार इन देशों को गये। भारत के अनेक व्यापारी इन देशों में व्यापार करने तथा धनोपार्जन के उद्देश्य से गये। ये व्यापारी पूर्व में चीन से लेकर पश्चिम में नील नदी के मुहाने पर स्थित अलेक्जेंड्रिया या सिकंदरिया नगर तक के प्रदेशों को आया-जाया करते थे। इन देशों की असभ्य और अनुन्नत जातियाँ भारत के साहसी और सभ्य वणिकों के संपर्क में आयी और उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रथम पाठ उनसे सीखे। अनेक जातक कथाओं, जैन ग्रंथों, बृहत्कथा तथा अंय साहित्यिक प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि व्यापार और धन कमाने की लालसा ने भारत तथा अंय देशों के सांस्कृतिक संबंधोंमें गतिशीलता प्रदान की।

(3) उपनिवेश स्थापना की भावना

प्राचीन काल में कभी-कभी पराक्रमी राजकुमार अपने भाग्य की खोज करने, नवीन राज्य और उपनिवेशों की स्थपना करने के हेतु भारत के बाहर समुद्र पार दूरस्थ देशों को जाते थे। उपनिवेश तथा अपने राज्य स्थापित करके उन पर शासन करने के ध्येय से अनेक साहसी योद्धा राजवंशी लोक भी भारत

से बाहर गये। वे स्थायी रूप से विदेशों में निवास कर अपने नवनिर्मित राज्यों पर शासन करने लगे। ये राजकुमार और उनके राज्य भारतीय संस्कृति के केंद्र बन गये। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने मध्य एशिया के खोतान प्रदेश में भारतीय उपनिवेश और अपना राज्य स्थापित किया। कौंडिक नामक एक साहसी भारतीय ब्राह्मण के नेतृत्व में अनेक भारतीय पूर्वी देशों को गये और उन्होंने हिंदू उपनिवेश की स्थापना की। चीनी इतिहास में इसे फूनान कहते थे। पूर्वी देशों में भारतीयों के ऐसे राज्य स्थापित हो गये और उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा योग दिया।

(4) धर्म प्रचार

अशोक, कनिष्क हर्ष जैसे धर्मनिष्ठ भारतीय सम्राटों ने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अनेक बौद्ध धर्म प्रचारक और भिक्षुओं के समूह विदेशों में अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रसार के हेतु भेजे। धीरे-धीरे अंय बौद्ध धर्म प्रचारक, ब्राह्मण आचार्य तथा उपदेशक भी भारतीय सौदागरों के साथ-साथ विदेशों में गये। वे भारतीय विचार और संस्कृति को अपने साथ लेते गये। ये असभ्य बर्बर विदेशी जातियों में जाते तथा भीषण बाधाओं के होने पर भी उन्हें अपने धर्म का उपदेश देते थे और अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें सभ्य, सुसंस्कृत और उन्नत बनाते थे। परिणाम यह हुआ कि चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, कंबोडिया, ब्रह्मा, लंका, अफगानिस्तान, तिब्बत, खोतान, चीनी, तुर्किस्तान आदि देशों में जहाँ-जहाँ भी भारत के बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्म के प्रचारक गये, वहाँ भारत की भाषा, साहित्य, धर्म और संस्कृति का अत्यधिक प्रसार हुआ और वे देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गये।

4.4.4 भारत - ईरान संबंध

ईरान के प्राचीन धर्म जरदुश्ती का आर्यों के वैदिक धर्म के साथ बहुत अधिक सादृश्य है। 'जिंद-अवेस्ता' के अनेक स्थल 'ऋग्वेद' के मंत्रों के समान हैं। 'जिंद-अवेस्ता' में वर्ण-व्यवस्था के भी संकेत हैं।

ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में ईरान में हखामनी साम्राज्य के विस्तार ने भारतवर्ष और पश्चिमी एशिया के संबंधोंको सुदृढ़ किया था। व्यापार में भी वृद्धि हुई। ईरान के सम्राट् दारा (डेरियस) ने एक जल-सेनापति स्पाईलैक्स की अधीनता में एक बेड़ा सिंध भेजा। इसमें ईरान से सिंध नदी के मुहाने तक जल-मार्ग का अन्वेषण किया। इससे व्यापार का विस्तार हुआ। दारा ने सिंध प्रांत के कुछ प्रदेशों को भी जीत लिया था। इसके दो परिणाम हुए। एक तो पश्चिमी भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार हुआ, दूसरे, ईरानी तथा भारतीय भाषाओं का संपर्क हुआ। भारतीय वर्णमाला का 'स' वर्ण ईरानी में 'ह' उच्चरित होता है। अतः ईरानी लोग सिंधु नदी को हिंदू नदी तथा यहाँ के निवासियों को हिंदू कहने लगे। इसी के अनुकरण पर ग्रीकों ने इस देश को इंडिया कहा।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि ईरान की सेना में भारतीय सैनिकों का एक विभाग था। इसने ग्रीकों के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। हेरोडोरस (484 ई. पू.) और हेसियस (418-398 ई. पू.) ने भारत के संबंध में संस्मरण लिखे हैं, जो भारत और ईरान के संबंधोंको बताते हैं।

चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की सीमायें गंधार और हिरात तक विस्तृत थीं तथा ईरान को स्पर्श करती थीं। इस समय यहाँ सेल्यूकस का राज्य था। उस समय ईरानी मूर्तिपूजक थे। उनकी धर्म-पुस्तकें और धार्मिक अनुष्ठान आर्यों से बहुत मिलते-जुलते थे।

छठी शताब्दी ई. पू. में ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारत देश के सभी नगरों में हिंदू रहते हैं। वे अपने धर्म के अनुसार जीवन-यापन करते हैं।

4.4.5 भारत - मिस्र संबंध

मिस्र के साथ भारतीय व्यापारिक संबंध अति प्राचीन रहे। मिस्र के सम्राट् टोलेमी फिलाडेल्फस (285-246 ई. पू.) के समय के भारत-मिस्र संबंधों के विवरण उपलब्ध हैं। अशोक के एक शिलालेख के अनुसार टोलेमी के राज्य में वहाँ की प्रजा उसके धर्म का पालन करती थी। टोलेमी फिलाडेल्फस ने अपना एक दूत-मंडल डायोनीसियस की अध्यक्षता में अशोक की राजसभा में भेजा था। उसने अपने संस्मरण लिखे हैं।

टोलेमी ने भारतीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया। लाल सागर में उसने बर्निस नाम का बंदरगाह बनवाया, जिससे भारतीय व्यापारियों को स्थल-मार्ग से न आना पड़े। बर्निस से भारतीय व्यापारी विक्रय वस्तुओं की स्थल-मार्ग से नील नदी तक और फिर वहाँ से नौ-परिवहन द्वारा अलैग्जेण्ड्रिया ले जाते थे। कुछ समय बाद बर्निस से 180 मील उत्तर में मायोसहोर्मोस बंदरगाह बनवाया गया, जो अलैग्जेंड्रिया के अधिक समीप था। टोलेमी ने लाल सागर और भूमध्यसागर को भी जोड़ने का प्रयास किया। दोनों सागरों को जोड़ने के लिए उसने 150 फीट लंबी तथा 45 फीट चौड़ी नहर खुदवानी प्रारंभ की, परंतु वह पूरी न हो सकी। प्रथम शताब्दी ईसवी में मिस्र के इस मायोस बंदरगाह में प्रत्येक ऋतु में 120 जहाज भारतवर्ष से आते और वहाँ जाते थे।

4.4.6 भारत - यूनान संबंध

ग्रीस के साथ भारतवर्ष के सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध बहुत पुराने हैं। ग्रीक-दर्शन भारत से प्रभावित था। सुकरात पर भारतीय प्रभाव था। पाइथागोरस और प्लेटो पुनर्जंम पर विश्वास करते थे। उनको ये विचार हिंदुओं से मिले थे।

सिकंदर के आक्रमण और उसके बाद ग्रीक तथा भारतीय संबंध अधिक घनिष्ठ हुए। प्रथम तीन मौर्य सम्राटों तथा ग्रीक राजाओं के राजदूत एक-दूसरे के देशों में रहते थे। मेगास्थनीज और डेमाकस ने अपने संस्मरणों में भारतीय विवरण दिये हैं। पाँच ग्रीक राज्यों-एंटीओकस (सीरिया), एंटोगोनस (मेसीडोनिया), एलेक्जेंडर (आरमीनिया), टोलेमी (ग्रीस) और मैगस (साइरीन) में अशोक के धर्म का पालन किया जाता था। मेगास्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र की नगर-परिषद् में एक विभाग विदेशियों की देखभाल करता था। इसका अर्थ है कि पाटलिपुत्र में बहुत संख्या में विदेशियों का आवागमन था।

4.4.7 भारत - रोम संबंध

रोमन साम्राज्य के साथ भारतीयों का घनिष्ठ व्यापारिक संबंध रहा। सम्राट् आगस्टस से नीरो तक यह व्यापार खूब बढ़ा (31 ई. पू. से 68 ई. तक)। 25 ई. पू. में आगस्टस ने व्यापार के लिए अपने जहाजी बेड़े को भारत की ओर भेजा। इस समय अदन भारतीय-रोमन व्यापारियों का केंद्र बन गया। पहले भारत से अदन तक जहाज, समुद्र-तट के साथ-साथ जाते थे। 45 ईसवी में हिप्पोलस नामक नाविक ने भारतीय महासमुद्र में मानसून वायुओं की खोज की। इनके सहारे जहाज लाल सागर के लोकेसिस बंदरगाह से सीधे भारतवर्ष के पश्चिमी समुद्र-तट तक पहुँच सकते थे। अब इस यात्रा में 40 दिन या इससे भी कम समय लगता था।

इस नये समुद्री मार्ग की खोज ने भारत और रोमन-साम्राज्य के मध्य व्यापार को खूब बढ़ाया। भारतीय विलास-सामग्रियों की खपत रोमन-साम्राज्य में प्रचुर होने लगी। भारत से बारीक वस्त्र, सुगंधियाँ, प्रसाधन-सामग्रियाँ, हीरे, कीमती रत्न, मिर्च-मसाले आदि जाते थे तथा रोम से स्वर्ण के सिक्के आते थे। उस युग के अनेक रोमन सिक्के दक्षिण भारत में मिले हैं। छठी-सातवीं शताब्दी ई. तक यह व्यापार खूब

चलता रहा। प्लिनी का कथन है कि कोई वर्ष ऐसा नहीं जाता, जबकि रोम साम्राज्य के धन-कोष से रोमन सिक्के 10 लाख सेस्टर सेस (लगभग दस लाख पौंड) भारतवर्ष न पहुँच जाते हैं।

भारत के साथ रोम के राजनैतिक संबंध भी रहे तथा दूतों का आदान-प्रदान हुआ। आगस्टस सीजर की राजसभा में पंजाब, गुजरात, चेर, पांड्य और चोल राज्यों के राजदूत गये थे। कालांतर में भी रोमन सम्राटों के काल में भारतीयों राजदूतावासों का रोम में होना प्रमाणित होता है।

4.4.8 भारत - अरब संबंध

अरब देश के साथ भारतीयों का घनिष्ठ संबंधरहा। उधर जाने के दो मार्ग थे। पहला मार्ग था - जल-मार्ग से ईरान की खाड़ी जाकर वहाँ से स्थल-मार्ग से एपोलोगस, बेबीलोन, सिलीशिया और पेत्रा होकर अरब को पार करके भूमध्यसागर पहुँचा जाता था। दूसरा मार्ग पूरा जल-मार्ग था। इससे लाल सागर होकर अरब पहुँचते थे। लाल सागर के मुहाने पर अदन और दूसरे अरबी नगरों में भारतीय बस्तियाँ थीं।

अरबों के साथ भारतीयों के व्यापारिक संबंध तो थे ही, भारतीय शिक्षा और विज्ञान भी वहाँ पहुँचे। अरबी यात्री भारत में आते थे और यहाँ के विद्वान् वहाँ जाते थे। अरब विद्वान् अलबरूनी ने अपनी भारत-यात्रा के विस्तृत संस्मरण लिखे हैं। अरब लेखकों पर और वहाँ के साहित्य पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट हैं। 'पंचतंत्र' की कथायें वहाँ खूब लोकप्रिय हुईं।

अरबों ने भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का विशेष रूप से अध्ययन किया था। प्रसिद्ध भारतीय चिकित्सक चरक को अरबी साहित्य में जरक या सियक नाम से उद्धृत किया गया है। बगदाद के खलीफा हारूं-उल-रशीद की सेवा में दो भारतीय वैद्य थे। रेखागणित, बीजगणित और अंय ज्ञान-विज्ञान भी भारत से अरब पहुँचे। वहाँ से इन भारतीय विद्याओं का प्रचार यूरोप में हुआ।

भारतीय धर्म का अरब के धर्म पर प्रभाव भी सिद्ध किया गया है। इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व अरब में, भारतवर्ष के समान ही मूर्ति-पूजा का प्रचार था। इस्लाम धर्म पर भी भारतीय प्रभाव अवश्य है। उनका एकेश्वरवाद भारतीय उपनिषदों से प्रभावित है। पं. गंगाप्रसाद ने अपने ग्रंथ 'धर्म का आदि स्रोत' में सिद्ध किया है कि इस्लाम धर्म पर यहूदी धर्म का प्रभाव था। यहूदी धर्म पर जरदुश्ती (पारसी) धर्म का प्रभाव था। जरदुश्ती धर्म निश्चित रूप से वैदिक धर्म से प्रभावित है।

4.4.9 भारत - चीन संबंध

भारतवासियों का चीन से परिचय अति प्राचीन है। 'महाभारत', 'मनुस्मृति', 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' आदि ग्रंथों में चीन का नाम आता है। चीन का रेशम बहुत प्रसिद्ध था। महाकवि कालिदास चीनांशुक से परिचित थे। बौद्ध धर्म के प्रसार से पहले भारत और चीन के मध्य अच्छे व्यापारिक संबंध रहे। समुद्र और भूमि के मार्ग से इन देशों में नियमित व्यापार होता था। स्थल-मार्ग, चीन के दक्षिण में युन्नान प्रांत से होकर उत्तरी भारत में आता था। यहाँ से यह मार्ग उत्तरी भारत होकर खैबर घाटी को पार करके अफगानिस्तान होता हुआ पश्चिमी देशों में चला जाता था। जलमार्ग, चीन के पूर्वी समुद्री तट से प्रारंभ होकर भारतवर्ष के पूर्वी तट के बंदरगाहों तक पहुँचता था। चीन से भारत आने वाली वस्तुओं में रेशम, सिंदूर और वंशलोचन प्रमुख थे।

चीन के साथ भारत के राजनयिक संबंधभी प्रसिद्ध हैं। ह्वेनसांग के विवरणों के अनुसार कनिष्क ने एक चीनी राजकुमार को बन्धक के रूप में रखा था। सम्राट् ही (89-105 ई.) के समय में भारत-चीन के मध्य राजदूतों द्वारा उपहारों का आदान-प्रदान हुआ था। राजदूतों तथा उपहारों को भेजने की परंपरा जारी रही। भारतीय लोक-कथाओं के अनुसार चीनी सम्राटों तथा सम्राट् विक्रमादित्य के मध्य दौत्य संबंधथे।

बौद्ध धर्म के प्रचार ने चीन-भारत-संबंधोंको सुदृढ़ किया। भारतवर्ष से अनेक बौद्ध प्रचारक चीन गये। सारा ही चीन लगभग बौद्ध हो गया। चीन में एक लोक-कथा प्रसिद्ध है कि 45 ई. में हानवंशी चीनी सम्राट् को स्वप्न में एक स्वर्णमय पुरुष दिखाई दिया। सम्राट् ने इस स्वप्न का वर्णन राजसभा में किया। सभासदों ने कहा कि वह पुरुष स्वयं भगवान बुद्ध थे। चीनी सम्राट् ने भारतवर्ष से बौद्ध प्रचारकों को बुलाने के लिए दूत भेजे। यहाँ से धर्मरत्न और कश्यपमातंग नाम के दो बौद्ध भिक्षु चीन गये। वे जीवन-भर वहीं रहे। उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया तथा बौद्ध साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

चीन में भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म के प्रचार के इतिहास में उन चीनी यात्रियों को अविस्मरणीय महत्व दिया जाना चाहिये, जिन्होंने ज्ञान की पिपासा में महान् कष्ट उठाकर चीन से चलकर पवित्र भूमि भारतवर्ष की यात्रायें कीं। बौद्ध धर्म के प्रसार ने अनेक चीनी धर्मप्रेमियों के अंदर भारत की तीर्थयात्राओं के लिए अभिलाषा उत्पन्न की। इन यात्रियों में तीन यात्री अधिक महत्व रखते हैं - फाहियान, ह्वेनसांग और इत्सिंग। इन यात्रियों के यात्राओं के संस्मरण उपलब्ध होते हैं।

फाहियान चतुर्थ शताब्दी ई. में भारतवर्ष में आया था। उस समय यहाँ गुप्तवंशी राजाओं का शासन था। वह मध्य एशिया के खोतन्न आदि प्रदेशों में घूमता हुआ उत्तर-पश्चिमी भारतवर्ष पहुँचा। तदनंतर पाटलिपुत्र जाकर वहाँ के विश्वविद्यालय में उसने अध्ययन किया। फाहियान ने पाटलिपुत्र का विशद वर्णन किया है। 414 ई. में जलमार्ग से वह चीन लौटा था। अपने साथ वह प्रचुर साहित्य ले गया। चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार का उसको बहुत अधिक श्रेय है।

ह्वेनसांग सम्राट् हर्षवर्धन के शासनकाल में भारतवर्ष आया था। उसने प्रायः सारे भारतवर्ष का भ्रमण करके अनेक विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई थी। नालंदा विश्वविद्यालय में उसका बहुत अधिक सम्मान हुआ। उसको उपकुलपति के पद से अलंकृत किया गया। वापस जाते समय अपने साथ वह अनेक ग्रंथ ले गया था। इनका उसने चीनी भाषा में अनुवाद किया।

इत्सिंग का भारत आगमन 671 ई. में हुआ था। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था। अपने साथ वह 400 ग्रंथ चीन ले गया। उसने चीनी-संस्कृत का एक कोष भी बनाया। इत्सिंग के संस्मरणों से विदित होता है कि उस समय भारतवर्ष में चीनी यात्री बहुत अधिक संख्या में आते थे। उसने लिखा है कि 500 वर्ष पहले बीस चीनी बौद्ध भिक्षु बर्मा के मार्ग से भारतवर्ष में आये थे। बंगाल के शासक श्रीगुप्त ने उनके लिए एक मंदिर बनवाया था तथा खर्च के लिए बीस ग्राम दान में दिये थे। इत्सिंग के समय यह मंदिर खंडहर अवस्था में था। इत्सिंग के समकालीन शासक ने कहा है कि वह चीन से आने वाले किसी भी बौद्ध भिक्षु को मंदिर तथा भूमि दी जा सकती है।

4.4.10 भारत - तिब्बत संबंध

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रसार सातवीं शताब्दी में हुआ था। कहा जाता है कि तिब्बती शासक स्ट्रांग-सैन-गेंपो (630-640 ई.) ने चीन और नेपाल की राजकुमारियों से विवाह किये थे। ये दोनों बौद्ध थीं। नेपाल की राजकुमारी अपने साथ एक बुद्ध-मूर्ति लाई थी। पत्नियों के प्रभाव में आकर स्ट्रांग-सैन-गैम्पो ने बौद्ध धर्म स्वीकार लिया। उसने एक बौद्ध मंदिर बनवाया तथा उसमें भगवान बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। तदनंतर उसने अपने मंत्री सम्भोत को काश्मीर भेजा। संभोत ने वहाँ संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। तिब्बत लौटकर उसने संस्कृत के आधार पर तिब्बती लिपि का अविर्भाव किया। इसके बाद उसने तिब्बती भाषा का व्याकरण बनाया।

आठवीं शताब्दी में संभव नाम का एक बौद्ध विद्वान् तिब्बत पहुँचा। उसने बौद्ध धर्म का प्रचार करके लामा मत की स्थापना की और इस प्रकार बौद्ध धर्म को तिब्बती रूप दिया।

नवीं शताब्दी ई. में नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य शांतरक्षित तिब्बत गये। उन्होंने वहाँ बौद्ध मत को एक नया रूप दिया। उनके समय में तिब्बत में बौद्ध धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ। उनके प्रोत्साहन से अनेक भारतीय ग्रंथों के तिब्बती भाषा में अनुवाद हुए।

तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए आचार्य दीपंकर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे विक्रमशील विश्वविद्यालय के कुलपति थे। बहुत आग्रह करने पर वे तिब्बत गये। उन्होंने वहाँ तेरह वर्षों तक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसके बाद भी अनेक भारतीय धर्म-प्रचारक, तिब्बत जाकर धर्मप्रचार और साहित्य की साधना करते रहे। तिब्बत के धर्म, भाषा और लिपि पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।

4.4.11 भारत - लंका संबंध

आधुनिक सीलोन प्राचीन काल में सिंहल या लंका द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। 'रामायण' के अनुसार राम ने रावण को पराजित करके विभीषण को लंका का राजा बनाया था। इस प्रकार वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार किया था। सिंहल द्वीप के प्राचीन इतिहास का वृत्तांत 'दीपवंश' और 'महावंश' नाम के ग्रंथों से विदित होता है।

महावंश के अनुसार सिंहल के इतिहास का प्रारंभ राजकुमार विजय से होता है। पहले इस द्वीप में नाग और यक्ष जातियाँ निवास करती थीं। बंग देश के राजा सिंहबाहु ने अपने पुत्र राजकुमार विजय की उद्दण्डताओं के कारण क्रुद्ध होकर उसे देश से निकाल दिया। अपने सात सौ साथियों के साथ राजकुमार विजय ताम्रलिप्ति बंदरगाह में नौकाओं में आरूढ़ हुआ। वह दक्षिण की ओर चल पड़ा और सिंहल द्वीप के उत्तरी किनारे पर उतरा। इस द्वीप को उसने जीत लिया और पिता के नाम पर इसका नाम सिंहल द्वीप रखा।

राजकुमार विजय ने सिंहल द्वीप में आर्य शासन-पद्धति की स्थापना की। उसने अनेक नगरों- तंबपन्नी, अनुराधगाम, उज्जैनी, उरुबेला आदि को बसाया। विजय के साथ स्त्रियाँ नहीं थीं। उसकी प्रार्थना पर दक्षिण भारत के राजा ने एक हजार परिवारों के साथ अनेक स्त्रियों को सिंहल द्वीप भेजा। इन युवतियों के साथ विजय और उसके साथियों ने विवाह-संबंध स्थापित किये। 'महावंश' के अनुसार विजय सिंहल द्वीप में उस समय पहुँचा था, जिस वर्ष भगवान गौतम बौद्ध का निर्वाण हुआ था। इस प्रकार सिंहल द्वीप में हिंदू राज्य की स्थापना ई. पू. पाँचवीं शताब्दी में हो गई थी।

सिंहल द्वीप के इतिहास में देवानां पियतिस्स या तिस्स का स्थान महत्वपूर्ण है। यह सम्राट अशोक का समकालीन था। तिस्स ने अशोक की सेवा में अनेक उपहार भेजे थे। अशोक ने उनको स्वीकार करके सिंहल के राजा के लिए पवित्र वस्तुयें भेजीं। कुछ समय बाद अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और राजकुमारी संघमित्रा को बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए सिंहल द्वीप भेजा। सिंहल के राजा और जनता ने बौद्ध धर्म को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार किया। बौद्ध धर्म सिंहल का राजधर्म हो गया।

राजा तिस्स ने अनुराधापुर से आठ मील पूर्व की ओर एक विहार बनवाया, जो राजकुमार महेंद्र का निवास बना। तिस्स के उत्तराधिकारियों ने अनेक भव्य स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया। इसमें अनुराधापुर का पीतल का महल बहुत भव्य और विशाल है। इसमें एक हजार कक्ष हैं। यह पत्थर के सोलह सौ खंबों पर टिका है। इसकी छत ताम्र की बनी है।

कालांतर में हजारों बौद्ध भिक्षु निमंत्रित होकर सिंहल द्वीप को जाते रहे। इनके साथ भारतीय शिल्प, साहित्य, कला, नृत्य, संगीत आदि का भी उस द्वीप में प्रवेश हुआ। पालि भाषा का यहाँ बहुत समय तक प्रचार रहा।

4.4.12 भारत - बर्मा संबंध

भारतीय इतिहास और लोक-कथाओं में वर्णित ब्रह्मदेश आधुनिक बर्मा को ही कहा गया है। बर्मा की कथाओं के अनुसार कपिलवस्तु के शाक्य गण का एक राजकुमार सेना के साथ उत्तरी बर्मा गया। उसने संकिरम को राजधानी बनाकर एक राज्य की स्थापना की। इस वंश के राजा इक्कीस पीढ़ियों तक राज्य करते रहे। उसके बाद गंगा की घाटियों से आये क्षत्रियों के एक गण ने सोलह पीढ़ियों तक राज्य किया।

इसके बाद इन राजाओं ने श्रीक्षेत्र को अपनी राजधानी बनाया। यह राजवंश प्यू कहलाता था। तीसरी शताब्दी ई. में इस राजवंश का राज्य इरावदी की घाटी में विस्तृत था। नवीं शताब्दी ई. तक यह राजवंश शक्तिशाली बना रहा। इसके राज्य का विस्तार उत्तर से दक्षिण में 700-800 मील और पूर्व से पश्चिम में 500 मील तक विस्तृत था। नवीं शताब्दी ई. में थाई राजा ने आक्रमण करके इसकी राजधानी को नष्ट कर दिया। इसके बाद उत्तर में प्रंमों और दक्षिण में मोनों (तेलंगों) के आक्रमणों ने इस राजवंश को बिल्कुल समाप्त कर दिया।

बर्मा के दक्षिणी भाग में मोन (तेलंग) राज्य करते थे। संभवत: वे भारत के तेलंगाना क्षेत्र से आये थे। अतः वे तेलंग कहलाते थे। इनका प्रदेश रमन्न देश के नाम से प्रसिद्ध था। सातवीं शताब्दी में यह एक शक्तिशाली हिंदू राज्य था। इसकी सीमायें स्याम और पश्चिमी लाओस तक विस्तृत थीं।

बर्मा के राजनैतिक इतिहास में म्रम्म (मिम्म) जाति का स्थान महत्वपूर्ण है। इसका बर्मा में आगमन नवीं-दसवीं शताब्दी ई. में हुआ। उन्होंने बर्मा में रहने वाले हिंदुओं के प्रभाव में आकर हिंदू धर्म स्वीकार किया और एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। इसकी राजधानी पागान थी। हिंदू साहित्य के अनुसार इनके राज्य का नाम ताम्रद्वीप और राजधानी का नाम अरिमर्दनपुर था।

म्रम्म राजाओं में अनिरुद्ध नाम महत्वपूर्ण है। इसका राज्य काल 1044-1077 ई. रहा। इस समय उत्तरी बर्मा में एक विकृत तांत्रिक मत का प्रसार हो रहा था। भिक्षु अर्हन् ने, जो कि धर्मदर्शी के नाम से प्रसिद्ध थे, अनिरुद्ध को विशुद्ध थेरवाद की शिक्षा दी। इन दोनों ने बौद्ध धर्म में सुधार करके हीनयान संप्रदाय का प्रचार किया।

अनिरुद्ध ने अनेक बौद्ध विहारों और पगोडाओं का निर्माण कराया। वह एक शक्तिशाली राजा था। उसने दक्षिण के मोनों पर पूर्ण विजय प्राप्त की और थेरवाद का प्रचार किया। दक्षिण से लौटते हुए उसने प्यू राजधानी श्रीक्षेत्र की दीवारों को तुड़वाकर वहाँ पगोडा बनवाये। अनिरुद्ध ने स्याम को भी करारी हार दी। अराकान और शान रियासतों को जीतकर उसने अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उसने लगभग सारे ही बर्मा को जीतकर एक विशाल राज्य को संगठित किया।

अनिरुद्ध ने एक भारतीय राजकुमारी से विवाह किया था। उसने चोल राजा के आक्रमण के विरुद्ध लंका को सहायता दी और बदले में भगवान बुद्ध के दो दाँत प्राप्त किये। इनके लिए उसने प्रसिद्ध शेवजिगोन पगोडा का निर्माण कराया।

4.4.13 भारत - कंबोडिया संबंध

वर्तमान कंबोडिया, जिसको कि चीनी लोग फूनान कहते हैं, चीनी विवरणों के अनुसार पहले असभ्य या अर्धसभ्य जातियों का निवास था। चीनी विवरणों के अनुसार प्रथम सदी ई. में यहाँ कौंडिन्य नाम का एक ब्राह्मण आया। उसने वहाँ की रानी सोमा को पराजित करके उसके साथ विवाह किया तथा उसने हिंदू राज्य की स्थापना की। उसने वहाँ के निवासियों को सभ्य बनाया और भारतीय संस्कृति में दीक्षित किया। फूनान में उसने भारतीय शासन-पद्धति का प्रचलन किया। कौंडिन्य के वंशजों ने दो सौ वर्षों

तक राज्य किया। तदनंतर पन-शे-मन नाम के वीर राजा को निर्वाचित किया गया। इस वंश में चंद्रवर्मा नाम का प्रतापी राजा हुआ। उसने चीन और भारत के साथ तीसरी सदी ई. में संबंधस्थापित किये।

चौथी शताब्दी ई. के अंत या पाँचवीं के प्रारंभ में कौंडिन्य नाम का एक और ब्राह्मण फूनान गया। उसको वहाँ का राजा निर्वाचित कर दिया गया। उसने वहाँ भारतीय शासन-पद्धति पुनः स्थापित की और आर्थिक साधनों का विकास करके रहन-सहन के साधनों और तरीकों को सुधारा। कौंडिन्य के वंश में जयवर्मन् नाम का प्रतापी राजा हुआ। उसकी पत्नी का नाम कुलप्रभावती था। जयवर्मन् और कुलप्रभावती द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं। ये संस्कृत भाषा में हैं। इन अभिलेखों से विदित होता है कि उस समय फूनान में शैव, वैष्णव और बौद्ध धर्म प्रचलित थे।

4.4.14 भारत - कंबुजसंबंध

कंबुज राज्य को चीनी भाषा में चेन-ला कहा गया है। पहले यह फूनान का ही एक अधीनस्थ राज्य था। कंबुज की अनुश्रुतियों के अनुसार कम्बु नाम के एक ऋषि ने यहाँ की एक अप्सरा मीरा के साथ विवाह करके कंबुज राज्य की नींव रखी थी। सातवीं शताब्दी ई. में उसने फूनान को जीत लिया। फूनान को जीतने वाले वीर राजा महेंद्रवर्मन् और चित्ररथ दो भाई थे। महेंद्रवर्मन् के पुत्र ईशानवर्मन् ने ईशानपुर नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। यह सम्राट् हर्ष का समकालीन था। इस वंश के शासन-काल में कंबुजएक शक्तिशाली राज्य हो गया।

आठवीं शताब्दी ई. में सुवर्णद्वीप के शक्तिशाली राजाओं ने दिग्विजय करते हुए कंबुज को भी अपने अधीन कर लिया, परंतु इसको वे अधिक समय तक अपने अधिकार में नहीं रख सके। नवीं शताब्दी ई. में ही जयवर्मन् द्वितीय नामक राजा ने कंबुज को पुनः स्वतंत्र किया। कंबुज के इतिहास में उसको बहुत महत्व दिया गया है। उसका शासन-काल कंबुज का स्वर्णयुग कहलाता है।

अपने राज्य-काल में जयवर्मन् द्वितीय ने दो महत्वपूर्ण कार्य किये। एक तो वह अपनी राजधानी अंगकोर को ले गया, जो सामरिक दृष्टि से अधिक सुरक्षित था। दूसरे उसने कंबुज में देवराज नामक तांत्रिक शैव मत का प्रचार किया। उसने शैवमत को राजधर्म बनाया। उसने यह भी व्यवस्था दी कि राजपुरोहित एक निश्चित परिवार से हुआ करेगा। जयवर्मन् का राज्यकाल 802-859 ई. रहा। संपूर्ण केंद्रीय हिंदचीन उसके राज्य के अंतर्गत था। उत्तर में उसके राज्य की सीमायें, चीन के यूनान प्रांत को स्पर्श करती थीं।

जयवर्मन् द्वितीय के बाद उसका पुत्र, जिसका नाम भी जयवर्मन् था, गद्दी पर बैठा। उसके बाद उसका पुत्र इंद्रवर्मन् राजा हुआ। इंद्रवर्मन् और उसका पुत्र यशोवर्मन् बहुत प्रतापी राजा हुए। ये बड़े विजेता और निर्माता थे। यशोवर्मन् का शासन 889-910 ई. रहा। शास्त्रों और काव्यों में उसको बहुत रुचि थी। उसने 'महाभाष्य' पर भी एक टीका लिखी।

सूर्यवर्मन् प्रथम (1002-1049 ई.) कंबुज प्रदेश का एक शक्तिसंपन्न और प्रतापी सम्राट् हुआ। लंबे गृहयुद्धों के अनंतर उसने शासन के अधिकार को प्राप्त किया था। राजसिंहासन पर बैठकर उसने दिग्विजय की तथा स्याम और ब्रह्मा को जीता। यद्यपि उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक था तथापि उसने शैव और वैष्णव मंदिरों का भी निर्माण कराया और वर्ण-व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया। सूर्यवर्मन् प्रथम प्रकांड विद्वान् था। उसको काव्य, दर्शन, धर्मशास्त्र और भाष्यों का अच्छा ज्ञान था।

4.4.15 भारत - चंपा संबंध

चंपा की स्थिति अनाम के दक्षिण और कंबुज के पूर्व में समुद्र तक फैली थी। इस भारतीय उपनिवेश की स्थापना ईसा की दूसरी शताब्दी में हुई थी। चंपा राज्य की राजधानी का नाम भी चंपा था और यहाँ के निवासी चम कहलाते थे।

चंपा नगरी के अवशेष क्वांगनाम के दक्षिण में ट्रैकियू में मिले हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में इस प्रदेश पर श्रीमार नामक राजा राज्य करता था। श्रीमार का एक संस्कृत अभिलेख मिला है। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी भारतीय थे। ये संभवत: दक्षिण भारत से आये थे। इनकी भाषा संस्कृत थी और ये शैव मत के अनुयायी थे।

चीनी अनुश्रुतियों के अनुसार चतुर्थ शताब्दी ई. में चंपा के राजा फनबेन ने चंपा और चीन के मध्य सीमा का निर्धारण करने के लिए एक राजदूत को चीन भेजा, परंतु सीमा के संबंधमें कोई निर्णय न हो सका। दोनों देशों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में फनबेन की विजय हुई। चंपा से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार संस्कृत में इस राजा का नाम भद्रवर्मन् रहा होगा। भद्रवर्मन् के अनेक अभिलेख मिले हैं। यह शैव मत का अनुयायी था और वेदों का विद्वान् था। इसने शिव का एक विशाल मंदिर बनवाकर उसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी। भद्रवर्मन् ने राज्य और धर्म दोनों का विस्तार किया। चंपा को जीतकर उसने इसे तीन प्रांतोंमें विभक्त किया-अमरावती, विजय और पांडुरंग

भद्रवर्मन् के बाद अनेक राजाओं के नाम वर्मन् पद से युक्त रहे। यथा - शुभवर्मन्, सत्यवर्मन्, इंद्रवर्मन्, हरिवर्मन् और सिंहवर्मन् आदि। ये राजा ब्राह्मण पौराणिक मत को मानते थे। इन्होंने अनेक मंदिरों की रचना कराकर उनमें मूर्तियों की स्थापना कराई। इस दृष्टि से माईसांग और डांगडुआन नगर प्रसिद्ध हैं। इन देशों में शिव, शक्ति, गणेश, स्कंद, विष्णु आदि देवताओं के मंदिर मिलते हैं।

चंपा में बौद्ध धर्म का भी प्रसार हुआ था। वर्तमान समय में भी वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार ही अधिक है। चंपा की राज्यभाषा संस्कृत थी। प्राचीन युग के अनेक संस्कृत-अभिलेख मिले हैं। इनमें शक संवत् का प्रयोग है। एक लेख के अनुसार इंद्रवर्मा तृतीय (911-972 ई.) छः वैदिक दर्शनों, बौद्ध दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान और शैव उत्तरकल्प का महान पंडित था।

4.4.16 भारत - थाईलैंड संबंध

स्याम अर्थात थाईलैंड में भारतीय संपर्क के प्रमाण दूसरी शताब्दी ई. से प्राप्त होते हैं। पोंगटुक क्षेत्र में एक भारतीय बस्ती थी। यह छठी शताब्दी ई. तक बनी रही। बर्मा के समान स्याम में भी बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ और वह इस देश का राजधर्म हो गया। स्यामी भाषा के विकास में संस्कृत और पालि का बहुत प्रभाव है। स्यामी लिपि का प्रादुर्भाव भी भारतीय लिपियों से हुआ।

स्याम के रीति-रिवाजों पर भारतीय प्रभाव है। स्याम में राज्याभिषेक ब्राह्मण पुरोहित द्वारा ही कराया जाता है। अनेक भारतीय संस्कार, यथा - चूड़ाकर्म आदि स्यामी जीवन के अंग बन गये हैं। स्यामी साहित्य 'रामायण' और 'महाभारत' से बहुत अधिक प्रभावित है।

4.4.17 भारत - सुमात्रा संबंध

हिंद महासागर में सुमात्रा नाम का एक विशाल द्वीप है। भारतवर्ष और चीन के मध्य के जलमार्ग पर यह अवस्थित है।

चतुर्थ शताब्दी ई. में सुमात्रा में श्रीविजय की स्थापना हुई थी। श्रीविजय नगर कंपर नदी के तट पर बसा था। यह उस समय राजनैतिक गतिविधियों का केंद्र हो गया था। यह हिंदू शिक्षा और संस्कृति का भी महान् केंद्र था। चीन से भारत जाने वाले यात्री यहाँ संस्कृत और अंय भारतीय भाषायें सीखते थे। इत्सिंग (688-695 ई.) ने यहाँ सात वर्ष तक संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था।

सातवीं शताब्दी ई. में श्रीविजय साम्राज्य ने बहुत अधिक उन्नति की। यहाँ के राजाओं ने शैलेंद्र (पर्वतों के अधिराज) की उपाधि धारण की थी। आठवीं शताब्दी ई. में शैलेंद्र राजाओं का साम्राज्य चरम उन्नति पर था। सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियों और अनेक छोटे-बड़े पूर्वी द्वीपों पर उनका राज्य स्थापित था। कुछ समय के लिए इन्होंने कंबुज पर अधिकार करके चंपा पर अधिकार किया था।

शैलेंद्र राजा बौद्ध थे। चीन के साथ और भारतवर्ष के चोल तथा पालवंशी राजाओं के साथ इनके दौत्य संबंधथे। चोल राजाओं के साथ इनके नौ-युद्ध भी हुए। चोल राजाओं द्वारा लंका पर आक्रमण करने पर इन्होंने लंका की सहायता की। शैलेंद्र राजाओं ने सुमात्रा में अनेक मंदिरों का निर्माण कराया।

4.4.18 भारत - मलय संबंध

प्राचीन काल से ही मलय दक्षिण-पूर्वी देशों का प्रवेश-द्वार है। भारतवर्ष से आने वाले व्यापारी और सैनिक टक्कोल टाकुआपा होकर पुनः स्थल और जलमार्ग द्वारा आगे के देशों को जाते थे। चीनी विवरणों और मलय देश में प्राप्त होने वाले अवशेषों से इस देश में भारतीय संपर्क और प्रभाव के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ अनेक प्राचीन शिलालेख, स्तूप, हिंदू देवताओं के मंदिर और मूर्तियाँ मिले हैं। गुरोङ् जिराई के समीप, सुंगहवत क्षेत्र में एक विशाल प्राचीन हिंदू मंदिर के अवशेष मिले हैं। इसमें पौराणिक देवताओं की मूर्तियाँ हैं। इसके समीप ही एक बौद्ध मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह चतुर्थ शताब्दी ई. का है तथा इसमें संस्कृत भाषा में श्लोक उत्कीर्ण हैं। पैराक नामक राज्य में शालिंगसिंग नामक स्थान से गरुड़ पर आरूढ़ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई है। इन चिह्नों से विदित होता है कि इस देश में ब्राह्मण-पौराणिक धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का प्रसार था।

4.4.19 बोर्नियो

पूर्वी द्वीपों में बोर्नियों सबसे बड़ा द्वीप है। यहाँ भारतीयों का राज्य पाँचवीं शताब्दी ई. में स्थापित हुआ था। इस देश में महकम नदी के तट पर प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनसे विदित होता है कि यहाँ पाँचवीं शताब्दी ई. में भारतीय सत्ता थी। ये लेख संस्कृत भाषा में हैं। इनमें राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दान-पुण्य और यज्ञों का वर्णन है। ये अभिलेख प्रस्तर स्तूपों पर उत्कीर्ण हैं। ये उस समय के हैं, जबकि उसने स्वर्णकम नामक यज्ञ किया और वप्रकेश्वर नामक पवित्र क्षेत्र में बीस हजार गौयें ब्राह्मणों को दान कीं।

पूर्वी बोर्नियों में भारतीय संस्कृति से संबंधित अनेक अवशेष मिले हैं। इनमें कोमेङ् की गुहा महत्वपूर्ण है। इस गुहा में दो कक्ष हैं। पिछले कक्ष में शिव, गणेश, नंदी, अगस्त्य, नंदीश्वर, ब्रह्मा, स्कंद और महाकाल की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

4.4.20 भारत - जावा संबंध

प्राचीन काल में जावा को यवद्वीप कहा जाता था। जावा की प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार भारतवर्ष से अगस्त्य मुनि यहाँ आये थे। उन्होंने इस द्वीप में भारतीय धर्म का प्रसार किया था। दूसरी

शताब्दी ई. में बीस हजार भारतीय परिवार इस देश में पहुँचे। पाँचवीं शताब्दी ई. में इस द्वीप में शैव मत का प्रसार हुआ। चीनी यात्री फाह्यान भारतवर्ष से चीन लौटते हुए यवद्वीप में उतरा था। उसने अपने संस्मरणों में यहाँ का वृतांत लिखा है। कुछ संस्कृत-अभिलेखों के अनुसार पाँचवीं शताब्दी ई. में यवद्वीप में पूर्णवर्मन् नामक राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी तारूमा थी। यह वर्तमान जकार्ता के समीप थी। पूर्णवर्मन् के पूर्वजों ने चंद्रभागा नाम की एक नहर खुदवाई थी। पूर्णवर्मन् ने गोमती ही नहर खुदवाई।

छठी शताब्दी ई. में जावा में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसका श्रेय गुणवर्मा नामक बौद्ध प्रचारक को दिया जाता है। यह काश्मीर के राजा का पुत्र था। गुणवर्मा के प्रभाव में आकर जावा के राजपरिवार ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। चीन के निमंत्रण पर गुणवर्मा चीन भी गया। आठवीं शताब्दी ई. में जावा में संजय नामक पराक्रमी राजा हुआ। उसके बाद यहाँ शैलेंद्र राजाओं ने अधिकार कर लिया।

नवीं शताब्दी ई. में जावा में जंबूद्वीप, कंबुज, चीन, यवन, चंपा, कर्नाटक, गौड़ और स्याम से व्यापारी, ब्राह्मण और श्रमण यहाँ आते थे। कांजीवरम के बौद्ध भिक्षु बालादित्य ने और एक तमिल ब्राह्मण मुतलीसहृदय ने जावा के इन राजाओं की प्रशस्तियाँ लिखी थीं। चीनी विवरणों से विदित होता है कि यहाँ के सुई शासन (589-618) के समय जावा में दस हिंदू राज्य थे। तांग-काल (618-906) में जावा में यह संख्या 28 थी।

जावा में हिंदू राज्यकाल के हिंदू धर्म और संस्कृति के अवशेष प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं। मध्य जावा के हिंदू मंदिरों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियाँ हैं। पूर्वी जावा में हिंदू और तांत्रिक बौद्ध धर्म के अवशेष मिले हैं। जावा में प्राचीन युग का सबसे विशाल महत्वपूर्ण अवशेष बोरोबुदुर का बौद्ध मंदिर है। इसके निर्माण में महायान संप्रदाय की छाप है। इसे आठवीं शताब्दी ई. में शैलेंद्र राजा ने बनवाया था। जावा की जनता के आचार-विचार, रीति-रिवाज, शासन-विधान, कला, विज्ञान, शिक्षा, भाषा और साहित्य, सभी का निर्माण भारतीय पद्धति पर हुआ था। आज भी, जबकि संपूर्ण जावा मुस्लिम हो चुका है, वहाँ के जन-जीवन पर भारतीयता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

4.4.21 भारत - बाली संबंध

जावा के पूर्व में बाली नाम का एक छोटा-सा द्वीप है। बाली में भी भारतीय धर्म संस्कृति और धर्म का विस्तार अति प्राचीन समय में (छठी शताब्दी ई.) हो गया था। यह हिंदू धर्म का उपनिवेश हो गया था। चीनी विवरणों के अनुसार छठी शताब्दी ई. में बाली में हिंदू रहते थे और यहाँ कौंडिन्य नाम का एक वंश राज्य करता था। शुद्धोदन की पत्नी उसी के कुल की थी। इत्सिंग ने बाली में बौद्ध राज्य की संपन्नता का वर्णन किया है।

दसवीं शताब्दी ई. में बाली का राजा उग्रसेन था। इसी शताब्दी में बाली पर जावा का अधिकार हो गया। पंद्रहवीं शताब्दी ई. में जावा पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया। तब वहाँ के राजाओं और धर्मप्रेमी जनता ने बाली की शरण ली, परंतु इसके बाद इस द्वीप का संबंध भारत से कट गया।

4.4.22 सारांश

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि भारतीय संस्कृति का विकास और प्रसार आधुनिक भारत की सीमाओं के अंतर्गत ही हुआ, परंतु आधुनिक अनुसंधानों और गवेषणा से यह धारणा निर्मूल और भ्रांतिमूलक प्रमाणित हो गयी है। ईसा पूर्व तीसरी सदी से लेकर ईस्वी सन् एक हजार के सुदीर्घ युग में भारतीय पूर्व और पश्चिम के अनेक देशों को गये। वहाँ उन्होंने अपने धर्म, भाषा, संस्कृति आदि का प्रसार किया। पूर्व में उन्होंने अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। लंका, बर्मा, थाईलैंड, कंबोडिया, मलाया,

जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मध्य एशिया के तुर्किस्तान, खोतान आदि देशों में भारतीयों ने अपने उपनिवेश बसाकर वहाँ अपनी संस्कृति का विस्तार किया। उन्होंने इन देशों से आगे बढकर अपनी संस्कृति की आध्यात्मिक शक्तियों से चीन, जापान और कोरिया का रूपांतरण कर दिया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पूर्व और पश्चिम के देशों में भारतीय-संस्कृति का पर्याप्त प्रसार हुआ। पूर्व में कोरिया, जापान से लेकर पश्चिम में ईरान और अलेक्जेंड्रिया या सिकंदरिया तक और उत्तर में मध्य एशिया के देशों से लेकर दक्षिण में लंका तक हिंदू संस्कृति का प्रसार हुआ था। इस क्षेत्र में और विशेषकर मध्य एशिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे। इस सारे क्षेत्र और उपनिवेशों में आर्यों का विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य था। इसी सांस्कृतिक साम्राज्य के क्षेत्र को बृहत्तर भारत कहते हैं।

4.4.23 बोध प्रश्न

4.23.1 लघुउत्तरीय प्रश्न

1. भारत - ईरान संबंधोंपर प्रकाश डालिये।
2. भारत - यूनान संबंधोंके विषय में क्या जानते हैं ?
3. भारत - अरब संबंधोंकी व्याख्या कीजिये।
4. भारत - बाली संबंधोंपर टिप्पणी लिखिये।
5. भारत - बोर्नियो संबंधोंपर लघु नोट लिखिये।
6. भारत - तिब्बत संबंधोंपर प्रकाश डालिये।
7. भारत - श्रीलंका संबंधोंके विषय में क्या जानते हैं ?
8. भारत - कंबोडिया संबंधों की व्याख्या कीजिये।
9. भारत - थाईलैंड संबंधोंपर टिप्पणी लिखिये।
10. भारत - सुमात्रा संबंधोंपर लघु नोट लिखिये।
11. भारत - मलाया संबंधोंपर प्रकाश डालिये।
12. भारत - जावा संबंधोंके विषय में क्या जानते हैं ?

4.4.23.2 दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन काल में भारत के पाश्चात्य देशों के साथ क्या संबंध थे ? विवेचना कीजिये।
2. प्राचीन काल में भारत के चीन, तिब्बत एवं श्रीलंका के साथसंबंधोंका वर्णन कीजिये।
3. प्राचीन काल में भारत के मिस्र, रोम तथा यूनान के साथ संबंधोंपर एक निबंध लिखिये।
4. प्राचीन काल में भारत के एशियायी देशों के साथ संबंधोंपर विस्तार से प्रकाश डालिये।
5. प्राचीन काल में भारत के द्वारा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार - प्रसार का उल्लेख कीजिये।
6. प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारणों का वर्णन कीजिये।
7. प्राचीन काल में भारत अंय देशों के साथ व्यापारिक संबंधोंकी विवेचना कीजिये।
8. प्राचीन काल में भारत के साथ जावा, सुमात्रा और बाली के संबंधोंका उल्लेख कीजिये।
9. प्राचीन काल में भारत के साथ कंबुज, चंपा और स्याम के संबंधोंका वर्णन कीजिये।
10. प्राचीन काल में भारत के साथ बर्मा, कंबोडिया और मलाया के संबंधोंकी विवेचना कीजिये।

4.24 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : आधुनिक भारतीय संस्कृति का इतिहास, लखनऊ, 1985

2. शर्मा, एल. पी. : आधुनिक भारतीय संस्कृति, आगरा, 1996
3. ओझा, फणीन्द्रनाथ : मध्यकालीन समाज एवं संस्कृति, दिल्ली, 1988
4. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1978
5. गेरोला, वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, लखनऊ, 1985
6. दुबे, हरिनारायण : भारतीय संस्कृति, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, इलाहाबाद, 1994
8. अहमद, लईक : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2006
9. लूनिया, बी. एन. : आधुनिक भारत जनजीवन और संस्कृति, इंदौर, 1993
10. भारद्वाज, दिनेशचंद्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, ग्वालियर, 1982
11. श्रीवास्तव, ए. एल : मध्यकालीन भारतीय, संस्कृति, आगरा, 1995
12. मेहरा, उमा शंकर : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, आगरा, 1990
13. बाशम, ए. एल. : अद्भुत भारत, आगरा, 1996
14. कृष्ण कुमार : प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2004
15. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1985
16. लूनिया, बी. एन. : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इंदौर, 1989